जैन सिद्धान्त

जैन सिद्धान्त

●

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक १८

ग्रन्थमाला सम्पादक

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

डॉ० ज्योति प्रसाद जैन

जैन सिद्धान्त

सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री

प्रथम संस्करण : 1983

मूल्य : 20 रुपये

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

बी/45-47 कनॉट प्लेस,

नयी दिल्ली 110001

मुद्रक

अंकित प्रिंटिंग प्रेस

शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण शिल्पी : पवन कुमार जैन

JAINA SIDDHANT by **Siddhantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri.** Published by Bharatiya Jnanpith, B/45-47, Connaught Place, New Delhi. Printed at Ankit Printing Press, Delhi-32
First Edition. Rs. 20/-

भारतीय ज्ञानपीठ : संस्थापना 1944



मूल प्रेरणा
दिवंगता श्रीमती मूर्तिदेवी जी
मातुश्री श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन



अधिष्ठात्री
दिवंगता श्रीमती रमा जैन
धर्मपत्नी श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

भूमिका

मैंने सन् १६४८ के लगभग जैन धर्म का परिचय कराने के लिए 'जैन धर्म' नामक पुस्तक लिखी थी। तब तक जैन धर्म के साधारण परिज्ञान के लिए जो आवश्यक बातें थीं उनका परिचय उसमें कराया गया था। जैन धर्म के प्रारम्भिक पाठकों के लिए वह उपयोगी भी रही है। उसमें भी जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का विवेचन है। जैन धर्म में मूल तत्त्व दो हैं—जीव और अजीव। अजीव के भेद हैं—पुद्गल द्रव्य, धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य।

जीव और पुद्गल के अनादि सम्बन्ध का नाम ही संसार है। दूसरे शब्दों में, यह संसार मुख्य रूप से दो द्रव्यों के मेल का ही परिणाम है। उनमें से जीव द्रव्य चेतन है और पुद्गल द्रव्य अचेतन है। चेतन जीव द्रव्य संसारी और मुक्त दशा के कारण दो रूप हो रहा है। उसकी पूर्व अवस्था संसारी है और उससे छूटने पर यही जीव मुक्त कहलाता है। अतः जीव द्रव्य को समझने के लिए उसकी दोनों अवस्थाओं को जानना आवश्यक है।

इन दो द्रव्यों के मेल से या मेल के अभाव से पाँच तत्त्व निष्पन्न होते हैं—आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इनमें पुण्य पाप को भी सम्मिलित कर लिया जाता है। मुक्ति के उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हैं। इन सबका विवेचन जिनागम में दो नय दृष्टियों के द्वारा किया गया है। उनमें से एक का नाम निश्चय नय और दूसरे का व्यवहार नय है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'समयसार' में निश्चय नय को भूतार्थ कहा है। सोनगढ़ से समयसार की कथनी का प्रचार होने पर जैन समाज के विद्वानों में बड़ा विसंवाद पैदा हो गया। उसी को दृष्टि में रखकर, आगमानुसार इस 'जैन सिद्धान्त' पुस्तक की रचना की गई है। इसमें प्रायः सभी विवादग्रस्त विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

भूतार्थ कहते हैं सत्यार्थ को। भूत अर्थात् पदार्थ में रहने वाला 'अर्थ' अर्थात् भाव; उसे जो प्रकाशित करता है वह भूतार्थ है, सत्यवादी है। भूतार्थ नय ही हमें यह बतलाता है कि जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध होने पर भी दोनों दो भिन्न द्रव्य हैं। यह भिन्नता मुक्तावस्था में व्यक्त होती है।

अभूतार्थ का अर्थ है जो पदार्थ में नहीं होता ऐसा भाव। जैसे जीव और पुद्गल की सत्ता भिन्न है, स्वभावत्रिक प्रदेश भिन्न है। फिर भी एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होने से दोनों को एक कहा जाता है अतः व्यवहार नय अभूतार्थ है।

आचार्य अमृतचन्द्र जी ने अपने 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' के प्रारम्भ में कहा है—जो व्यवहार और निश्चय दोनों को जानकर तात्त्विक रूप से मध्यस्थ रहता है

वही उपदेश का सम्पूर्ण फल प्राप्त करता है। यह सच है कि समयसार नय पक्षातीत है। फिर भी नयों को जाने बिना नयपक्षातीत होना सम्भव नहीं है। इसलिए नयों का परिज्ञान आवश्यक है।

'प्रवचनसार' गाथा १८९ की टीका में अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—

'रागपरिणाम ही आत्मा का कर्म है। वही पुण्य-पाप रूप है। राग परिणाम का ही आत्मा कर्त्ता है। उसीका यह ग्रहण और त्याग करनेवाला है। इस तरह शुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाला यह निश्चय नय कहा जाता है। और, पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पाप रूप है। पुद्गल परिणाम का कर्त्ता आत्मा है उसी को ग्रहण करता और त्यागता है। यह अशुद्ध द्रव्य का निरूपण करनेवाला व्यवहार नय है। ये दोनों ही नय हैं। क्योंकि शुद्धता और अशुद्धता दोनों रूप से द्रव्य की प्रतीति होती है। यहाँ निश्चय नय, साधक नय होने से ग्रहण किया है क्योंकि साध्य शुद्ध आत्मा है। अतः द्रव्य की शुद्धता का प्रकाशक होने से निश्चय नय ही साधकतम है, अशुद्धता का प्रकाशक व्यवहार नय साधकतम नहीं है। अशुद्ध नय के अवलम्बन से अशुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है जबकि शुद्ध नय के अवलम्बन से शुद्ध आत्मा की।

'तत्त्वार्थसूत्र' आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में मोक्षमार्ग रूप से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का कथन है। इन्हें ही रत्नत्रय कहते हैं किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर अध्यात्म ग्रन्थों में व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग के साथ व्यवहार रत्नत्रय, निश्चय रत्नत्रय का भी कथन है। दूसरे शब्दों में व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र यह व्यवहार मोक्षमार्ग है और निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र यह निश्चय मोक्षमार्ग है। तब क्या सिद्धान्त में मोक्ष का एक मार्ग है और अध्यात्म में मोक्ष के दो मार्ग हैं? ऐसा नहीं है, मोक्ष का एक ही मार्ग है उसका निरूपण दो नयों से किया गया है।

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में पं० टोडरमल जी ने लिखा है—मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार का है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाये तो निश्चय मोक्षमार्ग है। और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाये सो व्यवहार मोक्षमार्ग है। निश्चय और व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार।

सिद्धान्त-ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के दो भेद मिलते हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। अध्यात्म-ग्रन्थों में व्यवहार सम्यग्दर्शन और निश्चय सम्यग्दर्शन भेद मिलते हैं। इनकी संगति यह बैठायी गयी है कि जिसे सिद्धान्त में सराग सम्यग्दर्शन कहा है वही अध्यात्म में व्यवहार सम्यग्दर्शन है और जिसे

सिद्धान्त में वीतराग सम्यग्दर्शन कहा है वही अध्यात्म में निश्चय सम्यग्दर्शन है। असल में राग का नाम ही व्यवहार है और वीतराग का नाम निश्चय है।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषायजन्य राग के हटे बिना आत्मा के परिणामों में विशुद्धता का सूत्रपात नहीं होता। और, उसके बिना व्रत, तप, संयम कार्यकारी नहीं होते, ऐसा सभी शास्त्रों में उल्लेख है। किन्तु आज के समय में लोक में बढ़ते असंयम को देखकर संयम के प्रेमी संयम पर ही जोर देते हैं जो उचित है। किन्तु उसके साथ में धर्म का मूल जो सम्यग्दर्शन है उसे भुलाना नहीं चाहिए, न उसका महत्त्व कम करना चाहिए। सम्यक्त्व का माहात्म्य जैन साहित्य में भरपूर है। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में कहा गया है—

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च॥

अर्थात् उस रत्नत्रय में से सर्वप्रथम सब प्रकार के प्रयत्नों के द्वारा सम्यग्दर्शन की सम्यक् उपासना करनी चाहिए, क्योंकि उसके होने पर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र होते हैं।

जैसे सम्यग्दर्शन के दो प्रकार हैं वैसे ही चारित्र के भी दो प्रकार हैं। द्रव्यस्वभावप्रकाशक 'नयचक्र' में दोनों का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

असुहेण रायरहिओ वयाइ रागेण जो हु संजुत्तो।
सो इह भणिय सराओ मुक्को दोण्हं पि खलु इयरो॥३३१॥

अर्थात् जो अशुभ के राग से रहित है और व्रत आदि के राग से संयुक्त है उसे यहाँ सराग कहा है और जो शुभ तथा अशुभ रागों से मुक्त है वह वीतराग है।

वीतराग चारित्र ही उपादेय है और सरागचारित्र हेय है क्योंकि शुद्धोपयोग रूप वीतराग चारित्र से मोक्ष सुख प्राप्त होता है, और शुभोपयोग रूप सराग चारित्र से स्वर्ग सुख प्राप्त होता है। फिर भी शुभोपयोग रूप सराग चारित्र को अपनाये बिना वीतराग चारित्र की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इसलिए अशुभोपयोग से बचने के लिए शुभोपयोग को अपनाने का विधान जिनागम में है। इसी से शुभोपयोग रूप सराग चारित्र को परम्परा से मोक्ष का भी कारण कहा है। किन्तु वह सराग चारित्र निश्चय मोक्ष मार्ग से निरपेक्ष नहीं होना चाहिए। विशुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभाव—शुद्ध आत्मतत्त्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान रूप निश्चय मोक्ष मार्ग है। जो इस निश्चय मोक्ष मार्ग को भूलकर केवल शुभानुष्ठान रूप व्यवहार मोक्षमार्ग को ही अपनाते हैं वे भले ही स्वर्ग में चले जायें किन्तु उनका संसार परिभ्रमण नहीं छूटता।

यह सत्य है कि चारित्र नाम स्वरूप में चरण (लीनता) का है। और वस्तुतः

वही धर्म है। उसी स्वरूप में चरणरूप चारित्र के लिए ही व्रताचरण भी किया जाता है।

चारित्र के सम्बन्ध में जब विचार किया जाता है तो व्रतों का प्रसंग अनायास आ जाता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' के सातवें अध्याय के प्रारम्भ में ही हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह के त्याग को व्रत कहा है। उस सूत्र की 'सर्वार्थसिद्धि' नामक टीका में पूज्यपाद स्वामी ने यह प्रश्न उठाया है कि व्रतों को आस्रव का हेतु क्यों कहा; क्योंकि संवर के हेतु दस धर्मों में से संयम धर्म में व्रत आ जाते हैं। इसका समाधान करते हुए कहा है कि संवर तो निवृत्ति रूप है और व्रत प्रवृत्ति रूप हैं—इसी से पूज्यपाद स्वामी ने 'समाधितंत्र' में लिखा है—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि परित्यजेत् ॥८३॥
अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः।
त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥

—'अव्रत—हिंसा आदि से अपुण्य अर्थात् पाप का बन्ध होता है। और व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है। किन्तु मोक्ष तो पुण्य और पाप दोनों के ही नाश का नाम है। अतः मोक्ष के इच्छुक को अव्रतों की तरह व्रतों को भी छोड़ना चाहिए। पहले अव्रतों को छोड़कर व्रतों में निष्ठावान रहे। फिर आत्मा के परम पद को प्राप्त करने के लिए व्रतों को भी छोड़ देवे।

जैसे अव्रतों से पापबन्ध होता है वैसे ही व्रतों से पुण्यबन्ध होता है। और जब तक यह बन्ध है मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। अतः सैद्धान्तिक दृष्टि से पापबन्ध की तरह पुण्यबन्ध भी हेय है। किन्तु पुण्य के पक्षपाती इसे मानने को तैयार नहीं हैं। इसी से वे अर्थ का अनर्थ करते हैं। 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

इसका यथार्थ अर्थ इस प्रकार है—'एक देश रत्नत्रय का पालन करनेवाले पुरुष के जो कर्मबन्ध होता है वह रत्नत्रय के विपक्ष कृत है। रत्नत्रय तो वास्तव में मोक्ष का उपाय है, बन्धन का उपाय नहीं है।' किन्तु पुण्य के पक्षपाती उस कर्मबन्ध को मोक्ष का उपाय बतलाते हैं।

आगे इसी ग्रन्थ (श्लोक २२०) में कहा है कि रत्नत्रयरूप धर्म निर्वाण का ही कारण है, अन्य का नहीं। किन्तु एक देश रत्नत्रय का पालन करते हुए जो पुण्यास्रव होता है वह शुभोपयोग का अपराध है।

शुभोपयोग रूप भाव के अपराध स्वरूप होनेवाला पुण्यबन्ध मोक्ष का कारण कैसे हो सकता है ?

'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा—'जो पुण्य को भी चाहता है वह संसार ही को चाहता है, क्योंकि पुण्य सुगति के बन्ध का कारण है और मोक्ष पुण्य के भी क्षय से होता है (४०६)। पुण्य को चाहने से पुण्यबन्ध नहीं होता, किन्तु वांच्छा रहित को पुण्यबन्ध होता है, इसलिए हे यतीश्वरो ! पुण्य में भी आदर भाव मत करो।'

इस तरह अनेक विवादग्रस्त विषयों पर इस ग्रन्थ में आगमानुकूल प्रकाश डालते हुए जैन सिद्धान्त का विवेचन किया गया है जो स्वाध्याय प्रेमियों के लिए भी है। आशा है इसके स्वाध्याय से भ्रान्तियाँ दूर होकर जैन सिद्धान्त का यथार्थ स्वरूप दृष्टि में आ सकेगा।

अनन्त चतुर्दशी
वी० नि० संवत् २५०६

—कैलाशचन्द्र शास्त्री

अनुक्रम

१. मंगलाचरण : णमोकार मन्त्र

णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं,
णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं।

णमो अरिहंताणं—अरि-हननात् अर्थात् शत्रुओं के नाश करने से अरिहंत हैं। नरक, तिर्यंच, कुमानुष्य और प्रेत—इन पर्यायों में निवास करने से होने वाले समस्त दुःखों की प्राप्ति में निमित्त होने से मोह को 'अरि' कहा है।

शंका—केवल मोह को ही अरि मानने से क्या शेष कर्मों का व्यापार निष्फल हो जाता है?

समाधान—ऐसा नहीं है; क्योंकि शेष सब कर्म मोह के आधीन हैं। मोह के बिना शेष कर्म अपने-अपने कार्य को करने में समर्थ नहीं पाये जाते, अतः वे स्वतन्त्र नहीं हैं।

शंका—मोह के नष्ट हो जाने पर भी कितने ही काल तक शेष कर्मों की सत्ता रहती है अतः मोह के आधीन कैसे हुए?

समाधान—मोह रूप अरि के नष्ट हो जाने पर शेष कर्मों में जन्म-मरण की परम्परा रूप संसार को उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं रहती, अतः उनका अस्तित्व असत्त्व के समान है। फिर केवलज्ञान आदि समस्त आत्मगुणों के आविर्भाव को रोकने में शेष कर्म असमर्थ होते हैं, अतः उनका रहना भी नहीं रहने के समान है।

अथवा रज का हनन करने से अरिहंत हैं। ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्म धूलि के समान हैं; क्योंकि बाह्य और अन्तरंग समस्त त्रिकालवर्ती अनन्त अर्थ पर्याय और व्यंजन पर्यायात्मक वस्तुओं का विषय करनेवाले बोध और अनुभव के प्रतिबन्धक होते हैं। मोह भी रज है क्योंकि जिनका मुख भस्म की धूलि से भरा होता है उनकी तरह जिनकी आत्मा मोह से भरी रहती है उनमें कुटिलता पाई जाती है।

शंका—यहाँ केवल तीन ही कर्मों के विनाश का कथन क्यों किया है ?

समाधान—क्योंकि इनका विनाश शेष कर्मों के विनाश का अविनाभावी है। अर्थात् इनके नष्ट होने पर शेष कर्म अवश्य नष्ट हो जाते हैं। अतः उनके विनाश से अरिहंत होते है।

अथवा रहस्य के अभाव से अरिहंत होते हैं। रहस्य अन्तराय कर्म को कहते हैं। अन्तराय का विनाश शेष तीन घातिकर्मों के विनाश का अविनाभावी है। उसका विनाश होने से भ्रष्ट बीज के समान अघातिकर्म शक्तिहीन हो जाते है। ऐसे अन्तराय कर्म के नाश से अरिहन्त होते है।

अथवा सातिशय पूजा के योग्य होने से अरिहन्त (अर्हन्त) होते हैं क्योंकि स्वर्गावतरण, जन्माभिषेक, तपकल्याणक, केवलज्ञान की उत्पत्ति और परिनिर्वाण कल्याणकों में देवकृत पूजाएँ देव, असुर और मनुष्यों को प्राप्त पूजा से महान् होती हैं अतः अतिशयों के योग्य होने से अर्हन्त होते हैं। उन अर्हन्तों को नमस्कार हो।

णमो सिद्धाणं—जिन्होंने अपने साध्य को सिद्ध कर लिया है और जिनके ज्ञानावरण आदि आठ कर्म नष्ट हो गये हैं वे सिद्ध हैं।

शंका—सिद्धों में और अर्हन्तों में क्या भेद है ?

समाधान—जिनके आठों कर्म नष्ट हो गये हैं वे सिद्ध हैं और जिनके चार घातिकर्म नष्ट हो गये है वे अर्हन्त हैं।

शंका—चार घातिकर्मों के नष्ट हो जाने पर अर्हन्तों के समस्त आत्मगुण प्रकट हो जाते हैं अतः सिद्ध और अर्हन्त परमेष्ठी में गुणकृत भेद नहीं है ?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि अर्हन्तों के अघातिकर्मों का उदय और सत्त्व पाया जाता है।

शंका—वे अघातिकर्म शुक्लध्यान रूपी अग्नि के द्वारा अधजले होने से अपना कार्य करने में असमर्थ हैं।

समाधान—ऐसा नही है, क्योंकि शरीर के बने रहने से आयु आदि शेष कर्मों के उदय का अस्तित्व सिद्ध होता है।

शंका—उन कर्मों का कार्य तो चौरासी लाख योनिरूप जन्म-जरा और मरण से युक्त संसार है, वह अर्हन्त के नही पाया जाता। तथा उन अघाति कर्मों में आत्मा के गुणों को घातने की शक्ति है नहीं, अतः अर्हन्तों और सिद्धों में गुणकृत भेद नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जीव के ऊर्ध्वगमन स्वभाव का प्रतिबन्धक आयु कर्म का उदय तथा सुखगुण का प्रतिबन्धक वेदनीय कर्म का उदय अर्हन्तों के होता है।

शंका—ऊर्ध्वगमन आत्मा का गुण नही है, क्योंकि उसके अभाव में आत्मा के विनाश का प्रसंग आता है। और इसीसे सुख भी आत्मा का गुण नही है। तथा

वेदनीय कर्म का उदय दुःखजनक नहीं है, यदि ऐसा हो तो केवली के केवलिपना संभव नहीं है।

समाधान—यदि ऐसा है तो न्याय प्राप्त होने से ऐसा ही रहो। किन्तु सलेप और निर्लेप होने से तथा दोनों में देश-भेद होने से भेद है यह सिद्ध होता है।

अतः जिन्होंने नाना भेद वाले आठों कर्मों को नष्ट कर दिया है, जो तीनों लोकों के शिखर पर विराजमान हैं, दुःखों से रहित हैं, सुख के समुद्र में निमग्न हैं, निरंजन हैं, नित्य हैं, आठ गुण सहित हैं, निर्दोष हैं, कृतकृत्य हैं, अपने सर्वांग से सब पदार्थों को जानते देखते हैं, वज्रशिला के स्तम्भ में उत्कीर्ण प्रतिमा के समान अभेद्य आकार से युक्त हैं, अपने सब अवयवों से मनुष्याकार होते हुए भी गुणों में पुरुष के समान नहीं हैं; क्योंकि सिद्ध समस्त इन्द्रियों के विषयों को एक साथ बिना इन्द्रियों के जान लेते हैं। उन सिद्धों को नमस्कार हो।

णमो आइरियाणं—जो पाँच प्रकार के आचार को स्वयं पालते हैं और दूसरे साधुओं से पालन कराते हैं वे आचार्य हैं। वे चौदह विद्यास्थानों में पारगंत होते हैं। ग्यारह अंगों के धारी होते हैं। अथवा आचारांग के धारी होते हैं। अथवा तत्कालीन स्वसमय और परसमय में पारंगत होते हैं। मेरु की तरह निश्चल, पृथ्वी के समान सहनशील, समुद्र के समान मल को बाहर फेंक देनेवाले, और सात भयों से रहित होते हैं।

परमागम रूपी समुद्र के जल के मध्य में स्नान करने से जिनकी बुद्धि निर्मल होती है, निर्दोष रूप से छह आवश्यकों को करते हैं, जो मेरु की तरह निष्कम्प होते हैं, सिंह के समान शूर होते हैं, देश कुल और जाति से शुद्ध होते हैं, सौम्यमूर्ति होते हैं, परिग्रह से रहित होते हैं तथा आकाश के समान निर्लेप होते हैं ऐसे आचार्य होते हैं। वे आचार्य संघ के संग्रह और अनुग्रह में कुशल होते हैं, आगम के अर्थ करने में पण्डित होते हैं, उनका यश सर्वत्र व्याप्त होता है। आचार्य के जो कार्य हैं—सारण, वारण और शोधन—उनमें तत्पर होते हैं।

इस प्रकार के आचार्यों को नमस्कार हो।

णमो उवज्झायाणं—चौदह विद्यास्थानों के व्याख्याता उपाध्याय होते हैं। अथवा तत्कालीन परमागम के व्याख्याता उपाध्याय होते हैं। वे संग्रह, अनुग्रह आदि गुणों को छोड़कर आचार्य के उपर्युक्त समस्त लक्षणों से युक्त होते हैं। जो साधु चौदह पूर्वरूपी महासमुद्र में प्रवेश करके मोक्षमार्गी हैं तथा मोक्ष के इच्छुक शीलधान मुनियों को उपदेश देते हैं वे उपाध्याय हैं। उन्हें नमस्कार हो।

णमो लोए सव्वसाहूणं—अनन्त ज्ञानादि रूप शुद्ध आत्म स्वरूप की जो साधना करते हैं वे साधु हैं। वे पाँच महाव्रतों के धारी और तीन गुप्तियों से संरक्षित होते हैं। अठारह हजार शील के धारी और चौरासी लाख गुणों के धारी होते हैं। समस्त कर्मभूमियों में उत्पन्न त्रिकालवर्ती साधुओं को नमस्कार हो।

इस मन्त्र में जो सर्व और लोक शब्द हैं वे अन्तदीपक हैं अतः समस्त क्षेत्रों में हुए त्रिकालवर्ती अर्हन्त आदि सब परमेष्ठियों को नमस्कार करने के लिए इन दोनों पदों को सबमें लगाना चाहिए। अर्थात् समस्त कर्मभूमियों में उत्पन्न त्रिकालवर्ती सब अरहन्तों को, सब सिद्धों को, सब आचार्यों को, सब उपाध्यायों को नमस्कार हो।

शंका—जिन्होंने आप्तस्वरूप को प्राप्त कर लिया है उन अर्हन्तों और सिद्धों को नमस्कार करना तो योग्य है किन्तु आचार्य आदि को नमस्कार करना उचित नहीं है; क्योंकि उन्होंने आत्मस्वरूप को प्राप्त नहीं किया है अतः वे देव नहीं हैं।

समाधान—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि रत्नत्रय का नाम देव है। और वह रत्नत्रय अपने अनन्तभेद रूप है। उससे विशिष्ट जीव भी देव है। यदि रत्नत्रय की अपेक्षा देवपना न माना जाये तो सभी जीवों को देवपना प्राप्त होने की आपत्ति आयेगी। अतः आचार्य आदि भी देव हैं क्योंकि उनमें भी रत्नत्रय पाया जाता है। आचार्य आदि में पाये जानेवाले रत्नत्रय का सिद्धों में पाये जानेवाले रत्नत्रय से भेद नहीं है। यदि दोनों में भेद माना जायेगा तो आचार्य आदि में स्थित रत्नत्रय के अभाव की आपत्ति आती है।

दोनों के रत्नत्रय में कारण-कार्य का भी भेद नहीं है; क्योंकि आचार्यादि में रहनेवाले रत्नत्रय के अवयवों के होने पर ही रत्नत्रय का कर्मपटल से ढका हुआ भाग अपने आवरणों के हटने से प्रकट होता है। अर्थात् जैसे-जैसे आवरण हटते जाते हैं वैसे-वैसे रत्नत्रय के अवयव प्रकट होते जाते हैं। दोनों में परोक्ष और अपरोक्ष का भी भेद नहीं है; क्योंकि वस्तु स्वरूप को जानने की अपेक्षा दोनों समान हैं। अवस्था-भेद से एक ज्ञान में भेद नहीं होता अन्यथा निर्मल और मलिन अवस्था को प्राप्त दर्पण में भी भेद प्राप्त होगा। दोनों में अवयव-अवयवी का भी भेद नहीं है क्योंकि अवयव अपने अवयवी से अभिन्न होता है।

शंका—सम्पूर्ण रत्नत्रय देव है, उनका एकदेश देव नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि यदि रत्नत्रय के एकदेश को देव नहीं मानेंगे तो समस्त रत्नत्रय भी देव नहीं हो सकता।

शंका—आचार्यादि में स्थित रत्नत्रय समस्त कर्मों का क्षय नहीं कर सकते; क्योंकि वे रत्नत्रय के एकदेश हैं।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि पलाल के ढेर को जलाना अग्नि समूह का कार्य है। किन्तु उस कार्य को आग की एक चिनगारी भी कर सकती है। अतः यह स्थिर हुआ कि आचार्य आदि भी देव हैं।

शंका—सब प्रकार के कर्मलेप से रहित सिद्धों के होते हुए कर्मलेप से सहित अर्हन्तों को प्रथम नमस्कार क्यों किया है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि सबसे अधिक गुणवाले सिद्धों में

अधिक श्रद्धा कराने में कारण अर्हन्त ही हैं। यदि अर्हन्त न होते तो हम लोगों को आप्त-आगम और पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। अर्हन्त के प्रसाद से ही हमें उनका ज्ञान प्राप्त हुआ है। इसलिए उपकार की अपेक्षा अर्हन्तों को प्रथम नमस्कार किया है। ऐसा पक्षपात बुरा नहीं है, अच्छा पक्ष लेना कल्याणकारी होता है। तथा आप्त की श्रद्धा आप्त-आगम और पदार्थ विषयक श्रद्धा को दृढ़ करती है यह बतलाने के लिए भी अर्हन्तों को प्रथम नमस्कार किया है।

२. चार अनुयोग

जैसे वैदिक धर्म में चार वेद है उसी प्रकार जैन सिद्धान्त में चार अनुयोग होते हैं। समस्त जिनवाणी इन्हीं चार अनुयोगों में समाविष्ट हैं। उनके नाम हैं—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार में इन चारों का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

(१) प्रथमानुयोग में चरित और पुराण आते हैं। एक पुरुष की कथा को चरित कहते हैं और त्रेसठशलाकापुरुषों के जीवनवृतान्त को पुराण कहते हैं। इनमें परमार्थ विषय का वर्णन होता है तथा इनके पढ़ने और सुनने वालों को पुण्यबन्ध होता है। इसे बोधि और समाधि का निधान कहा है। नहीं प्राप्त सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति इनके पढ़ने सुनने से होती है। इसीका नाम बोधि है। और, प्राप्त गुणों को अन्तिम अवस्था तक निर्वहण करना समाधि है। अथवा इनसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है।

जीवकाण्ड गोम्मटसार की टीका में प्रथम का अर्थ किया है—मिथ्यादृष्टि अव्रती अथवा अल्पज्ञ शिष्य के लिए जो कहा गया है वह प्रथमानुयोग है। चूँकि चरित और पुराणों में कथा के प्रसंग से संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल आदि बतलाया जाता है। तुच्छबुद्धि भी उसे भली-भाँति समझकर धर्म में लगते हैं।

(२) करणानुयोग में लोक-अलोक का विभाग, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी कालों का परिवर्तन और चार गतियों आदि का वर्णन रहता है। 'करण' शब्द के दो अर्थ हैं—परिणाम-भाव और गणित के सूत्र। इसमें चौदह गुणस्थान, चौदह मार्गणा, जीवसमास, जीव और कर्म का सम्बन्ध, लोक की रचना आदि जैन सिद्धान्त के मुख्य विषयों का कथन होता है। जीव और पुद्गल के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाली सर्व अवस्थाएँ इस अनुयोग में वर्णित होती हैं। इसके अध्ययन से संसारी जीव को अपनी वर्तमान स्थिति का और जिस संसार में वह अनादि काल से

भटकता हुआ नाना गतियों में नाना रूप धारण करके विचरता है उसका, तथा उसके कारणभूत भावकर्म और द्रव्यकर्मों का उसे यथावत् ज्ञान होता है। इसका कथन जहाँ प्रत्यक्षगोचर होता है वहाँ सूक्ष्म होने से अनुमेय भी होता है। इसके बिना जैन-सिद्धान्त का पूर्ण रहस्य ज्ञात नहीं हो सकता।

(३) चरणानुयोग में श्रावकों और मुनियों के आचार का वर्णन होता है। जो जीव तत्त्वज्ञानी होकर चरणानुयोग का अभ्यास करते हैं वे इसके रहस्य को यथावत् समझकर मोक्षमार्ग में लगते हैं।

(४) द्रव्यानुयोग में जीव-अजीव, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि का कथन रहता है। जो जीव जीवादिक द्रव्यों को और तत्त्वों को नहीं जानते, स्व और पर को नहीं पहचानते, उनके लिए यह अनुयोग है। इसके अभ्यास से अनादि अज्ञान दूर होता है और भेद-विज्ञान के द्वारा स्वतत्त्व में रुचि उत्पन्न होती है।

जीव के कल्याण के लिए चारों ही अनुयोग अपने-अपने रूप में उपयोगी हैं। जो किसी एक ही अनुयोग का प्रेमी बनकर रह जाता है उसका कल्याण सुदूर है।

पं० टोडरमल जी ने अपने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के आठवें अध्याय में चारों ही अनुयोगों की उपयोगिता तथा सार्थकता दर्शायी है और उनमें प्रतीत होने वाले विरोधादि दोषों का परिहार भी किया है। प्रथमानुयोग के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—

प्रथमानुयोग में उपचार रूप किसी धर्म का अंग होने पर उसे सम्पूर्ण धर्म कहा है। जैसे—जिन जीवों के शंका कांक्षा आदि नहीं हुए उनको सम्यक्त्वी कहा है। परन्तु मात्र शंका कांक्षा न करने से सम्यक्त्व नहीं होगा। सम्यक्त्व तो तत्त्वश्रद्धान होने पर होता है। परन्तु निश्चय-सम्यक्त्व का तो व्यवहार-सम्यक्त्व में उपचार किया। व्यवहार-सम्यक्त्व के किसी एक अंग में सम्पूर्ण व्यवहार-सम्यक्त्व का उपचार करके उसे सम्यक्त्व हुआ कहते हैं। तथा कोई भला आचरण करने पर सम्यक्-चारित्र हुआ कहते हैं। जिसने कोई छोटी-मोटी प्रतिज्ञा ली हो उसे श्रावक कहते हैं। परन्तु श्रावक तो पंचमगुणस्थानवर्ती होता है। उपचार से उसे श्रावक कहा है।

इसी प्रकार जो सम्यक्त्व रहित मुनिलिंग धारण करे व द्रव्य से भी अतिचार लगाता हो उसे भी मुनि कहा है। वस्तुतः मुनि तो षष्ठादि गुणस्थानवर्ती होने पर होता है। अतः उपचार से उसे मुनि कहा है।

प्रथमानुयोग में धर्मबुद्धि से अनुचित काम करने वाले की भी प्रशंसा करते हैं—

जैसे ग्वाले ने मुनि को आग से गर्माया। सो करुणा से यह काम किया। परन्तु मुनि को तो उपसर्ग ही हुआ। इससे विवेकीजन शीतादि का उपचार नहीं करते।

अतः धर्मपद्धति में जो विरुद्ध है वह कार्य करना योग्य नहीं है।

करणानुयोग के सम्बन्ध में कहा है—

यद्यपि वस्तु के क्षेत्र, काल, भाव आदि अखण्डित हैं तथापि ज्ञान कराने के लिए प्रदेश अविभाग-प्रतिच्छेद आदि के द्वारा उनका प्रमाण कहा है। एक वस्तु में भिन्न-भिन्न गुणों और पर्यायों का भेद करके कथन किया है तथा जीव पुद्गल आदि यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं तथापि उनके सम्बन्धादि द्वारा उत्पन्न गति, जाति आदि भेदों को जीव कहा है। ये सब कथन व्यवहारनय की प्रधानता से जानना; क्योंकि व्यवहार के बिना विशेष का ज्ञान नहीं हो सकता।

करणानुयोग में छद्मस्थों की प्रवृत्ति के अनुसार वर्णन नहीं है। केवल ज्ञान-गम्य बातों का वर्णन है। जैसे किन्हीं के अन्तरंग में सम्यक्त्व-चारित्र शक्ति नहीं है किन्तु वे व्रतादि पालते हैं, उनको मिथ्यादृष्टि अव्रती कहा है। तथा जो जीव द्रव्यादि या व्रतादि के विचार से रहित हैं किन्तु उनमें सम्यक्त्वादि शक्ति का सद्भाव है इसलिए उनको सम्यक्त्वी कहा है। किहीं जीवों के कषायों की प्रवृत्ति तो बहुत है परन्तु अन्तरंग कषायशक्ति थोड़ी है उन्हें मन्दकषायी कहा है। तथा किन्हीं जीवों के कषायों की प्रवृत्ति तो थोड़ी है और अन्तरंग कषायशक्ति बहुत है उन्हें तीव्रकषायी कहा है। जैसे, व्यन्तरादि के पीतलेश्या कही है यद्यपि वे नगर-नाश आदि कार्य करते है और एकेन्द्रिय आदि जीव कषाय-कार्य करते दिखायी नहीं देते तथापि कषाय शक्ति बहुत होने से उनके कृष्णादि लेश्या कही है।

तथा सर्वार्थसिद्धि के देव कषायरूप प्रवृत्ति कम करते हैं किन्तु कषायशक्ति बहुत होने से उनके असंयम कहा है। और, पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक अब्रह्म आदि सेवन तथा व्यापारादि कषाय रूप कार्य करते हैं किन्तु मन्दकषाय शक्ति होने से देश-संयम कहा है।

इसी प्रकार केवली के गमनादि क्रिया रहित होने पर भी कर्माकर्षण शक्ति की अपेक्षा बहुत योग कहा है और इन्द्रियादि जीव गमनादि करते हैं फिर भी उनके अल्पयोग कहा है।

करणानुयोग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रादि धर्म का निरूपण

कर्म प्रकृतियों के उपशमादि की अपेक्षा जैसी सूक्ष्म शक्ति पायी जाती है तदनुसार निरूपण करता है तथा सम्यग्दर्शनादि के विषयभूत जीवादि का भी निरूपण सूक्ष्मभेद सहित करता है। उसका मुख्य प्रयोजन यथार्थ पदार्थ बतलाना है। किन्तु करणानुयोग के अनुसार उद्यम करना शक्य नहीं है। जैसे कोई कर्मों का उपशम आदि करना चाहे तो कैसे कर सकता है? हाँ, तत्त्वादि का निश्चय करने का उद्यम करने पर स्वयमेव ही उपशमादि होते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में ग्यारहवें गुणस्थान से गिरता है, और फिर चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।

ऐसे सूक्ष्म भाव बुद्धि-गोचर नहीं होते। करणानुयोग के द्वारा जीव रिणामों की इस विचित्रता का ज्ञान होता है। उससे जीव को सदा सावधान रहने की प्रेरणा मिलती है।

चरणानुयोग में बुद्धिगोचर धर्माचरण का उपदेश दिया गया है। धर्म तो निश्चय रूप मोक्षमार्ग ही है। उसके जो साधन हैं उन्हें भी उपचार से धर्म कहा है। इसलिए व्यवहार-नय की प्रधानता से उपचार धर्म के नाना भेदों का निरूपण किया है। निश्चय रूप धर्म में तो ग्रहण और त्याग रूप विकल्प ही नहीं है। किन्तु नीचे की अवस्था में विकल्प छूटता नहीं है इसलिए धर्म-विरोधी कार्यों को छुड़ाने का और धर्म-साधक कार्यों को ग्रहण कराने का उपदेश इस अनुयोग में है।

उपदेश के दो प्रकार हैं—एक तो व्यवहार का ही उपदेश दिया जाता है और एक निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश दिया जाता है। जिनको निश्चय का ज्ञान नहीं है तथा उपदेश देने पर जिन्हें निश्चय का ज्ञान नहीं होता ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों को व्यवहार का ही उपदेश दिया जाता है। जिन जीवों को व्यवहार और निश्चय का ज्ञान है या उपदेश देने पर उनका ज्ञान होता दिखायी देता है ऐसे जीवों को निश्चय सहित व्यवहार का उपदेश दिया जाता है। व्यवहार उपदेश में बाह्य क्रियाओं की प्रधानता होती है। उनके उपदेश से जीव पाप-क्रिया को छोड़कर पुण्य-क्रियाओं में प्रवृत्ति करता है। ऐसा करने से क्रिया के अनुसार परिणाम भी तीव्र-कषाय छोड़कर कुछ मन्दकषाय रूप होते हैं। यदि किसी के न हों तो न हों। बाह्य क्रियाओं का उपदेश तो परिणाम सुधारने के लिए होता है।

निश्चय सहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की प्रधानता है। उनके उपदेश से तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा व वैराग्य भावना द्वारा परिणाम सुधरने पर परिणामों के अनुसार बाह्य क्रिया भी सुधर जाती है।

चरणानुयोग के अनुसार, कर्मबन्ध में निमित्तभूत क्रियाओं की निवृत्ति का नाम चारित्र है। अतः अशुभ क्रियाओं का त्याग करा कर शुभ क्रियाओं में लगाते हैं। फिर शुभ क्रियाओं का भी त्याग कराते हैं।

द्रव्यानुयोग का प्रयोजन है जीवादि द्रव्यों का यथार्थ श्रद्धान कराना। यद्यपि जीवादि वस्तु अभेदरूप हैं तथापि उनमें भेद-कल्पना द्वारा व्यवहार से द्रव्य गुण पर्याय आदि भेदों का निरूपण करते हैं। स्व-पर भेदविज्ञान जिस प्रकार हो उस प्रकार जीव-अजीव का निर्णय करते हैं। वीतराग भाव जिस प्रकार हो उस प्रकार आस्रवादि का स्वरूप बतलाते हैं। उसमें मुख्य रूप से ज्ञान वैराग्य के कारण आत्मानुभव आदि की महिमा गायी है। इसके साथ ही द्रव्यानुयोग में निश्चय अध्यात्म उपदेश की प्रधानता के साथ व्यवहार धर्म का भी निषेध किया गया है। जो जीव आत्मानुभव का उपाय न करके बाह्य क्रियाकाण्ड में मग्न रहते हैं उनको उधर से उदास करके आत्मानुभवादि में लगाने के लिए व्रतादि का हीनपना बतलाते हैं।

उसका प्रयोजन अशुभ में लगाने का नहीं है किन्तु शुद्धोपयोग में लगाने के लिए शुभोपयोग का निषेध करते हैं। अतः व्यवहार का निषेध प्रमादी बनाने के लिए नहीं है। किन्तु जो व्यवहार में ही मग्न हैं उनको निश्चय की रुचि कराने के लिए व्यवहार को हीन बताया है।

सम्यग्दृष्टि के विषय-भोगादि को बन्ध का कारण न कहकर निर्जरा का कारण कहा है। परन्तु इससे भोगों को उपादेय न जानना। यह तो सम्यग्दर्शन की महिमा बतलायी है कि श्रद्धान-शक्ति के बल से जो मन्द बन्ध होता है वह अनन्त संसार का कारण न होने से बन्ध नहीं है। उसी बल से निर्जरा बतलायी है। यदि भोग निर्जरा के कारण हों तो उन्हें छोड़ सम्यग्दृष्टि मुनिपद क्यों धारण करें!

द्रव्यानुयोग में रागद्वेष रहित परिणाम को शुद्धोपयोग कहा है। किन्तु करणानुयोग के अनुसार रागादि रहित शुद्धोपयोग यथाख्यात चारित्र होने पर होता है। मोह के अभाव में वह स्वयं होता है। और, द्रव्यानुयोग में शुद्धोपयोग का ही मुख्य रूप से उपदेश है इसलिए वहाँ छद्मस्थ जिस समय बुद्धिगोचर रागरूप परिणति को छोड़कर आत्मानुभव आदि में प्रवृत्त होता है उस काल में उसे शुद्धोपयोगी कहा है। यद्यपि वहाँ सूक्ष्म रागादि है तथापि उसकी विवक्षा नहीं है। वह बुद्धिगोचर रागादि छोड़ता है इस अपेक्षा से उसे शुद्धोपयोगी कहा है।

इस प्रकार नीचे की दशा में द्रव्यानुयोग की अपेक्षा तो शुद्धोपयोग कहा है परन्तु करणानुयोग की अपेक्षा से शुद्धोपयोग नहीं होता।

इस तरह चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग की दृष्टियों को पकड़कर उनके समन्वयपूर्वक ही जैन सिद्धान्त को समझना चाहिए, और तदनुसार ही व्यवहार करना चाहिए।

जैसे मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन की प्रधानता है और सम्यग्दृष्टि वही होता है जिसके मोहनीय कर्म की सात प्रकृतियों का उपशम क्षय या क्षयोपशम होने के साथ सात तत्त्वों का यथार्थश्रद्धान और आत्मानुभव हो। इसमें तीनों अनुयोगों की दृष्टि समाविष्ट है।

इसी तरह उक्त प्रकार से सम्यक्त्व के साथ जो चारित्रमोह की प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने पर चरणानुयोग विहित आचार का पालन करते हुए आत्मानुभूति में यथायोग्य रत रहता है वही मुनि है। इसमें भी तीनों अनुयोगों की दृष्टि समाविष्ट है।

कर्मों का उपशमादि तो उच्च ज्ञान का विषय है, उसे तो यथार्थ में केवली ही जान सकते हैं। किन्तु द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग के सम्मिश्रण से ही कर्मों का उपशमादि होता है। उपशमादि में जीव के भावों का ही प्राधान्य है और जीव के भावों के निर्माण में द्रव्यानुयोगमूलक चरणानुयोग सम्बन्धी भावना का प्राधान्य है। यद्यपि द्रव्यानुयोगमूलक आत्मानुभूति से ही सम्यक्त्व का प्रादुर्भाव होता है,

किन्तु उस आत्मानुभूति को स्थिर करने के लिए रागादि विकल्प छूटना आवश्यक है और उनको छोड़ने के लिए चरणानुयोग विहित प्रक्रिया को अपनाना आवश्यक है। केवल एक ही अनुयोग को पकड़ने से न तो मोक्षमार्ग को समझा जा सकता है और न मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अतः आगे के अध्यायों में तीनों अनुयोगों से सम्बद्ध जैन सिद्धान्तों का परिचय दिया गया है।

३. द्रव्य-गुण-पर्याय

द्रव्य का लक्षण

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार के ज्ञेयाधिकार के प्रारम्भ में द्रव्य का लक्षण इस प्रकार कहा है—

अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वंति वुच्चंति ॥३॥

जो अपने अस्तित्व स्वभाव को नहीं छोड़ते हुए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त होने के साथ गुणवान् और पर्यायवान् होता है उसे द्रव्य कहते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द का ही अनुसरण करते हुए आचार्य उमास्वामी ने अपने तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय में द्रव्यों का वर्णन करते हुए उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त को सत् तथा सत् को और गुणपर्यायवान् को द्रव्य कहा है।

सत् सत्ता या अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है। वह अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता अतः अनादि अनन्त है। तथा अस्तित्व द्रव्य का भाव है और द्रव्य भाववान् है। इस अपेक्षा से दोनों में भेद होने पर भी प्रदेश-भेद न होने से द्रव्य के साथ एकत्व को धारण करने से द्रव्य का स्वभाव ही है।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नहीं होता। सभी द्रव्य स्वभावसिद्ध हैं, और स्वभावसिद्ध इसलिए हैं कि वे सब अनादिनिधन हैं। जो अनादिनिधन होता है वह अन्य साधन की अपेक्षा नहीं करता। जो द्रव्यों से बनता है वह द्रव्य नही होता क्योंकि वह अनित्य होता है। उसे ही पर्याय कहते हैं। जैसे मनुष्य पर्याय। या दो परमाणुओं के संयोग से निष्पन्न द्वयणुक पर्याय। किन्तु द्रव्य तो सदा स्थायी है। अतः जैसे द्रव्य स्वभावसिद्ध होता है वैसे ही वह सत् भी स्वभाव से ही होता है। द्रव्य से सत्ता भिन्न नहीं है। तथा सत् और सत्ता भी भिन्न नहीं है। द्रव्य अपने स्वभाव में नित्य अवस्थित रहता है। अतः द्रव्य सत् है और द्रव्य का स्वभाव है

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का ऐक्यरूप परिणाम।

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का ऐक्य

उत्पाद व्यय के बिना नहीं होता। व्यय उत्पाद के बिना नहीं होता। और ध्रौव्य या स्थिति उत्पाद और व्यय के बिना नहीं होती। अतः जो उत्पाद है वही व्यय है। जो व्यय है वही उत्पाद है। जो उत्पाद और व्यय है वही ध्रौव्य है। जो ध्रौव्य है वही उत्पाद और व्यय है। वह इस प्रकार है—

जो घट का उत्पाद है वही मिट्टी के पिण्ड का व्यय है। जो मिट्टी के पिण्ड का व्यय है वही घट का उत्पाद है। जो घट का उत्पाद और पिण्ड का व्यय है वही मिट्टी की स्थिति है। यह ऐसा न माना जाय तो उत्पाद अन्य, व्यय अन्य और ध्रौव्य अन्य मानना होगा। और ऐसा मानने पर जो अव्यवस्था उत्पन्न होगी वह इस प्रकार है—

व्यय के बिना केवल उत्पाद मानने पर घट की उत्पत्ति ही नहीं होगी; क्योंकि मिट्टी की पिण्ड-पर्याय का नाश होने के साथ घट बनता था, उसे आप मानते नहीं। उसके बिना भी घट की उत्पत्ति मानने पर असत् की उत्पत्ति मानना होगी। जब घट उत्पन्न नहीं होगा तो उसी की तरह विश्व का कोई भी पदार्थ उत्पन्न नहीं होगा। और, असत् की उत्पत्ति मानने पर गधे के सींग जैसी असम्भव वस्तुओं की भी उत्पत्ति मानना होगी। तथा उत्पाद के बिना केवल व्यय ही मानने पर मिट्टी के पिण्ड का विनाश नहीं होगा; क्योंकि घट आदि बनने की दशा में ही उसका विनाश होता है, वह आप मानते नहीं। उसके बिना भी पिण्ड का विनाश मानने पर सत् का ही उच्छेद मानना होगा। इस तरह जैसे मिट्टी के पिण्ड का विनाश नहीं होगा उसी तरह विश्व में किसी का भी विनाश नहीं होगा। इसी प्रकार सत् का उच्छेद मानने पर विश्व का ही लोप हो जायेगा। उत्पाद व्यय के बिना केवल ध्रौव्य मानने पर मिट्टी की स्थिति नहीं रहेगी। इसलिए उत्तर-उत्तर पर्यायों की उत्पत्ति, पूर्व-पूर्व पर्यायों के विनाश तथा अन्वय के ध्रौव्य के साथ अविनाभाव वाला द्रव्य मानना चाहिए।

यथार्थ में उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्याय द्रव्य में होती हैं। इसलिए ये सब एक ही द्रव्य हैं, द्रव्यान्तर नहीं हैं। जैसे समुदायी वृक्ष स्कन्ध, मूल और शाखाओं का समुदाय रूप होता है। अतः वह स्कन्ध, मूल और शाखाओं के साथ ही प्रतिभासित होता है, उसी प्रकार द्रव्य पर्यायों का समुदाय रूप होने से पर्यायों के साथ ही प्रतिभासित होता है। और पर्याय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप होती हैं; क्योंकि उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनों आंशिक धर्म हैं। जैसे बीज, अंकुर और वृक्षत्व।

जैसे अंशी वृक्ष के बीज, अंकुर और वृक्षत्व रूप तीन अंश अपने व्यय, उत्पाद

और ध्रौव्य रूप धर्मों को लिये हुए एक साथ प्रतिभासित होते हैं उसी प्रकार अंशी द्रव्य के नष्ट होनेवाला, उत्पन्न होनेवाला और स्थिर रहनेवाला—ये तीन अंश अपने व्यय, उत्पाद और ध्रौव्य धर्मों को लिये हुए एक साथ दृष्टिगोचर होते हैं।

यदि द्रव्य का ही विनाश, द्रव्य का ही उत्पाद और द्रव्य का ही ध्रौव्य माना जाये तो सब गड़बड़ हो जाये। वह इस प्रकार है—द्रव्य का ही विनाश मानने पर सब द्रव्यों का विनाश हो जाने से यह जगत् द्रव्य शून्य हो जाये। अथवा सत् का विनाश मानना पड़े। द्रव्य का ही उत्पाद मानने पर प्रति समय नये-नये द्रव्य उत्पन्न होने से अनन्त द्रव्य हो जायें। अथवा असत् का उत्पाद मानना पड़े। द्रव्य का ही ध्रौव्य मानने पर क्रम-क्रम से होनेवाली पर्यायों का अभाव होने से द्रव्य का ही अभाव हो जाये अथवा कूटस्थता का प्रसंग उपस्थित होगा। अतः उत्पाद व्यय ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्यायें द्रव्य में होती हैं। इसलिए ये सब एक ही द्रव्य रूप हैं।

उत्पाद आदि में क्षणभेद नहीं

जिस क्षण में वस्तु उत्पन्न होती है उस क्षण में वस्तु का केवल उत्पाद ही होता है, व्यय और ध्रौव्य नहीं होते। जिस क्षण में ध्रौव्य है उस क्षण में ध्रौव्य ही है, जन्म और विनाश नहीं हैं। जिस क्षण में विनाश है उस क्षण में विनाश ही है, उत्पाद और ध्रौव्य नहीं हैं—उत्पाद आदि में ऐसा क्षणभेद तभी बन सकता है जब यह माना जाये कि द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही नष्ट होता है और स्वयं ही स्थिर रहता है। किन्तु ऐसा तो नहीं माना है। तब क्षणभेद कैसे हो सकता है? इसका खुलासा इस प्रकार है—

कुम्हार, दण्ड, चक्र आदि की उपस्थिति में जिस क्षण घट उत्पन्न होता है उसी क्षण में मिट्टी के पिण्ड का विनाश होता है और उसी क्षण में पिण्ड दशा और घट दशा में वर्तमान मिट्टी की स्थिति रहती है। इसी प्रकार अन्तरंग बहिरंग कारणों के मिलने पर जिस क्षण में उत्तर पर्याय उत्पन्न होती है उसी क्षण में पूर्व पर्याय का विनाश होता है और उसी क्षण में पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय में रहने-वाले द्रव्यत्व की स्थिति रहती है। तथा जैसे घट, मिट्टी का पिण्ड और मिट्टीपना, प्रत्येक में रहनेवाले उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनों स्वभावों को स्पर्श करनेवाली मिट्टी में समस्त रूप से एक ही समय में देखे जाते हैं, उसी प्रकार उत्तर पर्याय, पूर्व पर्याय और द्रव्यत्व प्रत्येक में होनेवाले उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनों स्वभावों का स्पर्श करनेवाले द्रव्य में समस्त रूप से एक समय में ही देखे जाते हैं। तथा जैसे घट, पिण्ड और मिट्टीपने में रहनेवाले उत्पाद व्यय ध्रौव्य मिट्टी रूप ही हैं, भिन्न वस्तु नही है; उसी प्रकार उत्तर पर्याय, पूर्व पर्याय और द्रव्यत्व मे रहनेवाले उत्पाद व्यय ध्रौव्य द्रव्य रूप ही हैं उससे भिन्न पदार्थ नहीं हैं।

इस तरह त्रिकालावस्थायी अनादिनिधन द्रव्य का उत्पाद-व्यय नहीं होता किन्तु पर्यायों का होता है और वे पर्यायें द्रव्य रूप हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्त-मीमांसा' में वस्तु में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की सिद्धि दृष्टान्तपूर्वक की है—

> न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात्।
> व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ॥५७॥

अर्थात् वस्तु द्रव्य की अपेक्षा न उत्पन्न होती है और न नष्ट होती है। वह बराबर नित्य प्रकट रूप से बनी रहती है। किन्तु पर्याय की अपेक्षा उत्पन्न और नष्ट होती है। इस प्रकार हे जिन ! आपके सिद्धान्त में सत् पदार्थ एक ही समय में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप होता है।

उसी को दृष्टान्तों द्वारा सिद्ध करते हैं—

> घट मौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
> शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ॥५९॥

अर्थात् एक राजा के पास सोने का घड़ा है। राजकन्या उसे चाहती है। राजपुत्र उसे तोड़कर मुकुट बनवाना चाहता है। जब घड़ा तोड़ा जाता है तो राजकन्या रोती है और राजपुत्र प्रसन्न होता है। किन्तु राजा न रोता है, न प्रसन्न होता है क्योंकि वह सोने को चाहता है और सोना दोनों दशाओं में रहता है। यह बात सिद्ध करती है कि वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है क्योंकि घटपर्याय के नाश के बिना शोक नहीं हो सकता और मुकुटपर्याय के उत्पाद के बिना हर्ष नहीं हो सकता और सुवर्ण के स्थिर रहने के बिना हर्ष-विषाद का अभाव नहीं हो सकता।

दूसरा दृष्टान्त—

> पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
> अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ॥६०॥

जिसने केवल दूध पीने का व्रत लिया है वह दही नहीं खाता। और जिसने दही ही खाने का व्रत लिया है वह दूध नहीं पीता। तथा जिसने गोरस न खाने का व्रत लिया है वह न दूध पीता है और न दही खाता है, क्योंकि दोनों में गोरसपना विद्यमान है। अतः वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है।

गुण-पर्यायवत्व लक्षण

द्रव्य का दूसरा लक्षण है गुण पर्यायवत्व।

गुण और पर्याय भी एकद्रव्य रूप हैं। क्योंकि पर्याय से रहित द्रव्य और द्रव्य

से रहित पर्याय नहीं होती। इसी तरह द्रव्य के बिना गुण और गुण के बिना द्रव्य नहीं होता। जैसे आम स्वयं ही हरे से पीला होता हुआ एक ही वस्तु है भिन्न वस्तु नहीं है, वैसे ही द्रव्य स्वयं ही पूर्व अवस्था में विद्यमान गुण से उत्तर अवस्था में विद्यमान गुणरूप से परिणमन करता हुआ एक ही द्रव्य है द्रव्यान्तर नहीं है। जैसे आम पीत रूप से उत्पन्न हुआ, हरित रूप से नष्ट हुआ और आम रूप से अवस्थित हुआ एक ही वस्तु है, उसी प्रकार उत्तर अवस्था में अवस्थित गुणरूप से उत्पन्न हुआ, पूर्व अवस्था में अवस्थित गुणरूप से विनष्ट हुआ और द्रव्यत्व रूप से अवस्थित द्रव्य एक ही है।

यदि द्रव्य को स्वरूप से सत् न माना जाये तो दो ही बातें हो सकती हैं। या तो वह असत् होगा या सत्ता से भिन्न होगा। असत् मानने से तो द्रव्य का अभाव ही हो जायेगा। यदि वह सत्ता से भिन्न होते हुए भी सत् है तो सत्ता का ही अभाव हो जायेगा, क्योंकि सत्ता के बिना भी द्रव्य स्वयं सत् है। अतः उसे सत्ता से अभिन्न मानते हुए सत् माना जाता है तो द्रव्य को स्वयं ही सत् मानना उचित है।

सत् द्रव्य का द्रव्यत्व रूप से नाश नहीं होता और असत् द्रव्य का द्रव्यत्व रूप से उत्पाद नहीं होता। इस तरह सत् के विनाश और असत् के उत्पाद के बिना ही गुण और पर्यायों में विनाश और उत्पाद होते हैं। जैसे घी उत्पन्न होने पर सत् गोरस का विनाश नहीं होता। और न गोरस से भिन्न किसी असत् पदार्थान्तर का उत्पाद होता है। किन्तु गोरस के ही परिणमनशील रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि गुणों में पूर्व अवस्था का विनाश और उत्तर अवस्था का उत्पाद होने पर नवीनतम पर्याय नष्ट हो जाती है और घी पर्याय उत्पन्न होती है। इसी प्रकार सब पदार्थों में जानना।

इसी तरह यदि द्रव्य को गुणों से भिन्न और गुणों को द्रव्य से भिन्न माना जाता है तो अनेक दोष आते हैं। यथा—

गुण किसी आश्रय से रहते हैं। और जिसके आश्रय से रहते हैं वह द्रव्य है। वह द्रव्य यदि गुणों से भिन्न है तो पुनः गुणों को एक आश्रय चाहिए और जिसके वे आश्रित हैं वह द्रव्य है। वह भी गुणों से अन्य है। इसी तरह द्रव्य और गुण में भेद मानने पर द्रव्यों का अन्त नहीं रहेगा, वे अनन्त हो जायेंगे। द्रव्य गुणों का समुदाय है। यदि गुण उस समुदाय से भिन्न हैं तो वह समुदाय कहाँ रहा? इस प्रकार गुणों को द्रव्य से भिन्न मानने पर द्रव्य का अभाव प्राप्त होता है।

जैन दर्शन में, जिसके प्रदेश भिन्न होते हैं उसे भिन्न माना गया है। किन्तु गुण और गुणी के प्रदेश भिन्न नहीं होते। जसे, जो शुक्लगुण के प्रदेश हैं वे ही प्रदेश गुणी वस्त्र के हैं उनमें प्रदेश भेद नहीं है। इसी प्रकार सत्तागुण के जो प्रदेश हैं वे ही प्रदेश गुणी द्रव्य के हैं। उनमें प्रदेश भेद नहीं है। इसप्रकार दोनों में यद्यपि पृथक्पना नहीं है तथापि अन्यपना है। अन्यपने का लक्षण है अतद्भाव। गुण और गुणी में

तद्भाव का अभाव होने से अतद्भाव है; क्योंकि एक द्रव्य में जो द्रव्य है वह गुण नहीं है और गुण द्रव्य नहीं है। इस प्रकार जो द्रव्य का गुणरूप से और गुण का द्रव्यरूप से अभाव है वही अतद्भाव है। अतद्भाव होने से ही गुण-गुणी में भेदव्यवहार होता है। किन्तु द्रव्य का अभाव गुण और गुण का अभाव द्रव्य—इस प्रकार का अभाव अतद्भाव नहीं है। ऐसा मानने से तो अनेक दोष आते हैं।

जसे चेतन द्रव्य का अभाव अचेतन द्रव्य है और अचेतन द्रव्य का अभाव चेतन द्रव्य है। इस तरह दोनों अनेक द्रव्य हैं। उसी प्रकार यदि द्रव्य का अभाव गुण और गुण का अभाव द्रव्य है तो एक द्रव्य भी अनेक हो जायेगा। तथा जैसे सुवर्ण के अभाव में सुवर्णत्व का अभाव और सुवर्णत्व के अभाव में सुवर्ण का अभाव होता है, उसी प्रकार द्रव्य के अभाव में गुण का अभाव और गुण के अभाव में द्रव्य का अभाव होने से दोनों का ही अभाव हो जायेगा। तथा जैसे अपोहवादी के मत में, पटाभाव मात्र ही घट है और घटाभाव मात्र ही पट है उसी प्रकार द्रव्य का अभावमात्र ही गुण और गुण का अभावमात्र ही द्रव्य होने से दोनों परस्पर में एक दूसरे के अपोहरूप मात्र हो जायेंगे। इसलिए अतद्भाव का उक्त लक्षण मानना ही उचित है।

पूर्व में लिख आये हैं कि स्वभाव में नित्य अवस्थित होने से द्रव्य सत् है, और द्रव्य का स्वभाव है परिणाम। द्रव्य का जो स्वभावभूत परिणाम है वही सत् नामक गुण है। सारांश यह है कि द्रव्य से भिन्न न कोई गुण है और न कोई पर्याय है। जैसे सुवर्ण से भिन्न न पीतता गुण है और न कुण्डलादि पर्याय है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि द्रव्य के उक्त लक्षणों में केवल कथन-भेद है, वस्तुतः कोई भेद नहीं है। द्रव्य का स्वभाव है परिणाम। वह परिणाम है उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप। उसमें नित्य अवस्थित रहने से द्रव्य सत् है। तथा सत्ता गुण है जो गुणी द्रव्य से अभिन्न है। इस प्रकार द्रव्य सत्स्वरूप, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्त तथा गुण-पर्याय वाला होता है।

द्रव्य के भेद

द्रव्य के छह भेद हैं या मूल द्रव्य छह हैं—जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश और काल। इनमें जीव द्रव्य अनन्त हैं। पुद्गल उनसे भी अनन्त हैं। धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाशद्रव्य एक एक है। और जितने लोकाकाश के प्रदेश हैं उतने ही कालाणु हैं। एक एक पुद्गल परमाणु के समान एक एक कालाणु एक एक द्रव्य है। इनमें से केवल एक जीवद्रव्य चेतन है, शेष सब द्रव्य अचेतन हैं। तथा एक पुद्गलद्रव्य मूर्त है, शेष सब द्रव्य अमूर्त हैं। जीव और पुद्गल क्रियाशील हैं, शेष सब द्रव्य निष्क्रिय हैं।

शंका—जो द्रव्य निष्क्रिय हैं उनमें उत्पाद-व्यय कसे होता है; क्योंकि क्रिया-

पूर्वक ही लोक में उत्पाद देखा जाता है। जब उत्पाद नहीं होगा तो व्यय भी नहीं होगा। तब सब द्रव्यों में उत्पाद-व्यय कैसे?

समाधान—उत्पाद दो प्रकार से होता है—स्वनिमित्तक और परनिमित्तक। आगम प्रमाण से प्रत्येक द्रव्य में अनन्त अगुरुलघु नामक गुण माने गये हैं। वे अगुरु-लघु गुण छह प्रकार की हानि-वृद्धिरूप वर्तन किया करते हैं। अर्थात् जिस गुण के निमित्त से परिवर्तन करते हुए भी द्रव्य का द्रव्यपना सदा बना रहता है उसका कोई गुण अन्य गुणरूप नहीं होता और न एक द्रव्य अन्य द्रव्यरूप होता है तथा प्रत्येक द्रव्य में और उसके गुण में षड्गुणी हानि-वृद्धि सदा होती रहती है उसे अगुरुलघु गुण कहते हैं। उससे होनेवाला उत्पाद-व्यय स्वनिमित्तक है।

तथा धर्मादि द्रव्य क्रम से अश्व आदि की गति, स्थिति और अवगाह में कारण होते हैं। यतः क्षण-क्षण में गति आदि में अन्तर पड़ता है अतः उसके कारण में भी अन्तर पड़ना चाहिए। इस प्रकार से निष्क्रिय द्रव्यों में परनिमित्तक उत्पाद व्यय माना गया है।

इन छह द्रव्यों में काल द्रव्य को छोडकर शेष सब द्रव्य बहुप्रदेशी हैं, इसी से उन्हें अस्तिकाय कहते हैं। जितने आकाश को एक पुद्गल परमाणु रोकता है उसे एक प्रदेश कहते हैं। जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशी है क्योंकि लोकपूरण समुद्घात के समय वह लोकाकाश के बराबर हो जाता है। शेष में अपने शरीर प्रमाण ही रहता है। पुद्गल का एक परमाणु एक प्रदेशी होता है। अनेक परमाणुओं के संयोग से बने स्कन्ध संख्यात प्रदेशी, असंख्यात प्रदेशी और अनन्त प्रदेशी होते है। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं क्योंकि ये दोनों समस्त लोक में व्याप्त हैं। आकाश लोक और अलोक में व्याप्त होने से सर्वव्यापी है। जितने आकाश में सब द्रव्य पाये जाते हैं उतने को लोक कहते हैं और लोक के बाहर का भाग अलोक है। उसमें केवल एक आकाश द्रव्य ही है।

इस प्रकार छहों द्रव्य लोक में रिले-मिले रहने पर भी अपना-अपना स्वभाव नहीं छोड़ते हैं। पञ्चास्तिकाय में कहा है—

> अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
> मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहन्ति ॥७॥

अर्थात् ये छहों द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करते हैं, एक दूसरे को अवकाश देते हैं। परस्पर में रिले-मिले होते हुए भी अपने-अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते।

इन छह द्रव्यों में जीव द्रव्य के सिवाय शेष पाँच द्रव्य अजीव हैं। अजीव द्रव्य का स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द ने इस प्रकार कहा है—

> सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
> जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ॥१२५॥

अर्थात् जिसमें सदा सुख-दुःख का ज्ञान, हित में प्रवृत्ति व अहित से भय नहीं है उसे श्रमण अजीव जानते हैं।

व्यवहार में ऐसा कहा जाता है कि लोक में छह द्रव्य रहते हैं। यथार्थ में सब द्रव्य स्वतःसिद्ध अनादिनिधन होने से अपने ही आधार हैं, अन्य के आधार नहीं हैं।

गुण

तत्त्वार्थसूत्र के पंचम अध्याय के अन्त में गुण का लक्षण द्रव्याश्रय और निर्गुण किया है। अर्थात् गुण सदा द्रव्य के ही आश्रय रहते हैं तथा जैसे द्रव्य में गुण रहते हैं वैसे गुण में गुण नहीं रहते।

द्रव्य के आश्रय गुण रहते हैं ऐसा कहने से यह नहीं समझना चाहिए कि द्रव्य से गुण कोई पृथक् वस्तु है। यह पहले लिख आये हैं कि गुण और गुणी में प्रदेश-भेद नहीं है। वह तो एक अखण्ड रूप वस्तु है।

गुण के भेद

गुण के दो भेद हैं—सामान्य या साधारण गुण और विशेष या असाधारण गुण। साधारण गुणों से तो केवल द्रव्यत्व की सिद्धि होती है और विशेष गुणों से द्रव्य-विशेष की सिद्धि होती है। जैसे चेतना गुण जीव में ही होता है, शेष पाँच द्रव्यों में नहीं होता। अतः उससे जीवद्रव्य ही सिद्ध होता है।

सामान्य गुण दस हैं—अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व। इनमें से प्रत्येक द्रव्य में आठ गुण होते हैं। जीवद्रव्य में अचेतनत्व और मूर्तत्व गुण नहीं है। पुद्गल में चेतनत्व और अमूर्तत्व नहीं है। धर्म, अधर्म, आकाश और काल में चेतनत्व और मूर्तत्व नहीं है। यह कथन 'नयचक्र' के अनुसार है।

प्रवचनसार की टीका तात्पर्यवृत्ति के अनुसार अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, द्रव्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व, सप्रदेशत्व, अप्रदेशत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, सक्रियत्व, अक्रियत्व. चेतनत्व, अचेतनत्व, कर्तृत्व, अकर्तृत्व, भोक्तृत्व, अभोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण हैं।

नयचक्र के अनुसार सब द्रव्यों में सोलह विशेष गुण होते हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, अवगाहना हेतुत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व। इनमें से जीव और पुद्गल में छह-छह होते हैं। शेष चार द्रव्यों में तीन-तीन होते हैं। प्रवचनसार-टीका तात्पर्यवृत्ति के अनुसार अवगाहना-हेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तना हेतुत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व आदि विशेष गुण हैं। आकाश का विशेष गुण अव-

गाहन हेतुत्व है, धर्मद्रव्य का विशेषगुण गतिहेतुत्व है। अधर्मद्रव्य का विशेष गुण स्थितिहेतुत्व है। काल द्रव्य का विशेष गुण वर्तनाहेतुत्व है।

पुद्गल द्रव्य का विशेष गुण रूपादिमत्व है और जीवद्रव्य का विशेष गुण चेतनत्व है। द्रव्य के अनुसार उसके गुण भी मूर्त या चेतन होते हैं। मूर्तद्रव्य के गुण मूर्त होते हैं। अचेतन के गुण अचेतन होते हैं। अमूर्त द्रव्य के गुण अमूर्त होते हैं तथा चेतन द्रव्य के गुण चेतन होते हैं।

गुण भी परिणमनशील हैं किन्तु एक गुण अन्यगुणरूप परिणमन नहीं करता।

पर्याय

द्रव्य के विकार को अथवा अवस्था विशेष को पर्याय कहते हैं। पर्याय के भेद अनेक प्रकार से कहे हैं। यहाँ पञ्चास्तिकाय गाथा १६ की जयसेन रचित टीका का भाव दिया जाता है। उससे पर्याय के विविध भेद और उनका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है—

पर्याय के दो भेद हैं—द्रव्यपर्याय और गुणपर्याय। अनेक द्रव्यों मे ऐक्य का बोध कराने में कारणभूत द्रव्य पर्याय है। उस द्रव्यपर्याय के भी दो भेद हैं—समान जातीय और असमानजातीय। दो तीन आदि परमाणु रूप पुद्गलद्रव्य परस्पर में मिलकर जो स्कन्ध रूप होते हैं इसे समानजातीय कहते हैं, क्योंकि पुद्गल का अन्य पुद्गल के साथ सम्बन्ध होने से यह पर्याय निष्पन्न होती है। भवान्तरगत जीव के शरीर रूप नोकर्म पुद्गल के साथ मिलने से जो मनुष्य या देवादि पर्याय उत्पन्न होती है वह असमानजातीय द्रव्यपर्याय है, क्योंकि चेतन जीव के अचेतन पुद्गल द्रव्य के साथ मिलने से निष्पन्न हुई है। ये समानजातीय और असमानजातीय द्रव्य पर्याय जीव और पुद्गल में ही होती हैं तथा अशुद्ध ही होती हैं क्योंकि अनेक द्रव्यों के परस्पर मे संश्लेषरूप सम्बन्ध होने से होती हैं। धर्मद्रव्य आदि अन्य द्रव्यों मे परस्पर में संश्लेष रूप सम्बन्ध न होने से ये द्रव्य पर्याय नहीं होतीं। तथा परद्रव्य के सम्बन्ध से होने वाली अशुद्ध पर्याय भी नहीं होती।

अब गुणपर्यायों को कहते है—उनके भी दो भेद हैं—स्वभाव गुणपर्याय और विभावगुण पर्याय। गुण के द्वारा अन्वयरूप एकत्व प्रतिपत्ति के कारणभूत पर्याय को गुणपर्याय कहते हैं। वह गुणपर्याय एक ही द्रव्यगत होती है, जैसे पुद्गल आम मे होनेवाला हरे से पीलापन। और जीव में मतिज्ञानादि रूप से होनेवाला ज्ञानान्तर रूप परिणमन। इस प्रकार जीव और पुद्गल में विभावगुणरूप पर्यायें होती हैं। अगुरुलघु गुण के द्वारा छह हानि-वृद्धिरूप स्वभावपर्याय सब द्रव्यों में होती है। इस प्रकार स्वभावगुणपर्याय और विभावगुणपर्याय जानना।

दूसरे प्रकार से भी पर्याय के दो भेद हैं—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय। उनमें से अर्थपर्याय सूक्ष्म, वचन के अगोचर और एक क्षणवर्ती होती हैं। किन्तु

व्यंजनपर्याय स्थूल, चिरकाल स्थायी, वचनगोचर और छद्मस्थों के द्वारा देखने योग्य होती हैं। व्यंजन पर्याय के स्वभाव और विभाव के भेद से दो प्रकार हैं। जीव की नर नारक आदि पर्याय विभाव-व्यंजनपर्याय हैं और जीव की सिद्ध पर्याय स्वभाव-व्यंजनपर्याय है। जीव की अशुद्ध अर्थपर्याय कषाय की षट्स्थान-गत हानिवृद्धि होने पर विशुद्धि और संक्लेश रूप जो शुभ और अशुभ लेश्या-स्थान होते हैं उनमें जानना। पुद्गल की अशुद्ध अर्थपर्याय द्वयणुक आदि स्कन्धों में वर्णान्तर आदि के परिणमनरूप होती है। पुद्गल की विभाव-व्यंजनपर्याय द्वय-णुक आदि स्कन्ध रूप में ही चिरकाल स्थायी होती है।

ये अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय स्वभाव-विभाव रूप द्रव्यपर्याय और गुण-पर्याय में ही गर्भित हैं। पृथक् बतलाने का प्रयोजन इतना ही है कि एक समयवर्ती पर्यायों को अर्थपर्याय कहते हैं और चिरकाल स्थायी पर्यायों को व्यंजनपर्याय कहते हैं। इस प्रकार दोनों में कालकृत भेद है।

धवला पु० ६, पृ० २४२ में कहा है—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय के भेद से पर्याय के दो भेद हैं। उनमें अर्थपर्याय एक आदि समय तक रहने वाली तथा संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध से रहित है। व्यंजनपर्याय जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष से असंख्यात लोकमात्र काल तक रहती है। अथवा अनादि अनन्त है।

आगे (पृ० २४४ में) कहा है—ऋजुसूत्रनय शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है—

अर्थपर्याय को विषय करने वाला शुद्ध ऋजुसूत्र नय प्रत्येक क्षण में परिण-मन करने वाले समस्त पदार्थों को विषय करता है और अशुद्ध ऋजुसूत्र नय चक्षु इन्द्रिय की विषयभूत व्यंजनपर्यायों को विषय करता है। उन पर्यायों का काल जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कर्ष में छह मास अथवा संख्यात वर्ष है, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य व्यंजनपर्यायें द्रव्य की प्रधानता से रहित होती हुई इतने काल तक अवस्थित पाई जाती हैं।

धवला पु० ७, पृ० १७८ में एक शंका समाधान इस प्रकार से पाया जाता है—

शंका—जीव का अभव्यत्व भाव व्यंजनपर्याय है, इसलिए उसका विनाश होना चाहिए। अन्यथा अभव्यत्वभाव के द्रव्य होने का प्रसंग आ जायेगा।

समाधान—अभव्यत्व भाव भले ही व्यंजन पर्याय हो, किन्तु सब व्यंजन-पर्यायों का विनाश होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है। ऐसा मानने से एकान्तवाद का प्रसंग आता है। ऐसा भी नियम नहीं है कि जो नष्ट नहीं होता वह द्रव्य है, क्योंकि जिसमें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है उसे द्रव्य माना है।

अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय का अवलम्बन करने पर व्यंजनपर्याय को भी द्रव्य माना गया है, जैसे पृथिवी आदि को द्रव्य कहा जाता है।

शंका—द्रव्यार्थिक नय से द्रव्य से भिन्न पर्यायों में द्रव्यपना कैसे सम्भव है ?

समाधान—पर्याय द्रव्य से सर्वथा भिन्न नहीं पायी जातीं, किन्तु वे द्रव्यस्वरूप ही उपलब्ध होती हैं।

नियमसार की टीका में स्वभावपर्याय के दो भेद किये हैं—कारणशुद्ध पर्याय और कार्यशुद्ध पर्याय। सहजशुद्ध निश्चयनय से अनादि-अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रिय स्वभाव जो शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र और स्वाभाविक परम वीतराग सुखात्मक शुद्ध अन्तस्तत्त्व स्वरूप जो स्वभाव अनन्तचतुष्टय स्वरूप से युक्त पंचम भावपरिणति है वही कारणशुद्ध पर्याय है। तथा सादि अनन्त, अमूर्त, अतीन्द्रियस्वभाव शुद्ध सद्भूत व्यवहार से केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख, केवलशक्ति युक्त फलरूप अनन्त चतुष्टय के साथ परमोत्कृष्ट क्षायिक भाव की शुद्ध परिणति ही कार्यशुद्ध पर्याय है।

इस प्रकार द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक या गुणपर्यायात्मक होता है। द्रव्य के इन दोनों लक्षणों में वस्तुतः भेद नहीं है। ये दोनों लक्षण परस्पर में एक-दूसरे के अभिव्यंजक हैं। जैसे गुण नित्य होने से गुण का लक्षण ध्रौव्य है अतः गुणवाला द्रव्य है ऐसा कहने पर ध्रौव्यवान् द्रव्य सिद्ध होता है। और पर्यायें उत्पादविनाश-शील होती हैं अतः पर्यायवाला द्रव्य है ऐसा कहने पर उत्पादव्यय वाला द्रव्य सिद्ध होता है। इसी से जैन दर्शन में न कोई वस्तु सर्वथा नित्य है, न सर्वथा अनित्य है। नित्यता का मूल कारण ध्रौव्य है और अनित्यता का मूल उत्पाद-व्यय है। जैसे वस्तु स्वतःसिद्ध है उसी प्रकार वह स्वतःपरिणामी भी है। अतः वस्तु उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य ये तीनों वस्तु के ही अंग हैं।

४. स्याद्वाद और नयवाद

स्याद्वाद

स्वामी समन्तभद्र ने अपने स्वयंभूस्तोत्र में कहा है—'हे भगवन् 'स्यात्' शब्द आपके ही न्यायशास्त्र में पाया जाता है। अन्य दार्शनिकों के न्याय में स्यात् शब्द नहीं है।' इसका कारण यह है कि जैनदर्शन ही अनेकान्तवादी है, अन्य सब दर्शन एकान्तवादी हैं। वस्तु सर्वथा नित्य है या सर्वथा अनित्य है, सर्वथा सत् है या सर्वथा असत् है इस प्रकार के एकान्तवाद का निराकरण करनेवाला अनेकान्तवाद है। जो तत् है वही अतत् है, जो एक है वही अनेक है, जो सत् है वही असत् है, जो नित्य है वही अनित्य है, इस प्रकार एक वस्तु में परस्पर में विरुद्ध दो शक्तियों का प्रकाशन करना अनेकान्त है।

इसका खुलासा इस प्रकार है—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव के द्वारा जो सत् है वही परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से असत् है। जैसे मिट्टी के घट का स्वद्रव्य मिट्टी है, अन्य स्वर्णादि परद्रव्य है। पृथ्वी स्वक्षेत्र है, दीवार आदि परक्षेत्र है। वर्तमानकाल स्वकाल है, अतीत आदि परकाल है। स्व शब्द सदा पर की अपेक्षा रखता है, इसी प्रकार विधि निषेध की अपेक्षा रखता है। जो अस्तित्व को नास्तित्व सापेक्ष और नास्तित्व को अस्तित्व सापेक्ष स्वीकार नहीं करता वह वस्तुस्वरूप से अनभिज्ञ है।

जैसे एक ही देवदत्त पिता भी है, पुत्र भी है, भाई भी है, भानेज भी है। अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है। इसमें कोई विरोध नहीं है। उसी प्रकार द्रव्य भी सामान्य की अपेक्षा नित्य है और विशेष की अपेक्षा अनित्य है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

शंका—आप मानते हैं कि जो नष्ट होता है वही नष्ट नहीं होता। जो उत्पन्न होता है वही उत्पन्न नहीं होता। यह तो परस्पर विरोधी कथन है?

समाधान—नहीं, यह कथन विरोधी नहीं है। जिस दृष्टि से हम वस्तु को नित्य मानते हैं यदि उसी दृष्टि से अनित्य मानते तो विरोधी होता। जैसे पिता की अपेक्षा ही देवदत्त को पुत्र और पिता की अपेक्षा ही पिता कहना विरुद्ध है। किन्तु हम द्रव्य को द्रव्यदृष्टि से नित्य और पर्यायदृष्टि से अनित्य मानते हैं। अतः विरोध नहीं है। दोनों दृष्टियों से दोनों धर्म बन जाते हैं।

शंका—यदि पदार्थ में उत्पाद-विनाश होते हैं तो पदार्थ नित्य कैसे हुआ? और यदि वह नित्य है तो उसमें उत्पाद-विनाश कैसे हुए? यह तो वैसे ही विरुद्ध है जैसे एक ही पदार्थ का शीत और उष्ण होना।

समाधान—जिनके मत में वस्तु एकान्त से सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक है उन्हीं को यह दूषण आता है। क्योंकि जिस रूप से वस्तु नित्य है उसी रूप से अनित्य नहीं हो सकती और जिस रूप से अनित्य है उसी रूप से नित्य नहीं हो सकती। उनके मत में वस्तु एक ही स्वभाववाली है, किन्तु जैन मत में वस्तु अनेक स्वभावशाली है। अतः द्रव्य रूप से नित्यता और पर्याय रूप से अनित्यता घटित होती है। द्रव्य तथा पर्याय परस्पर सापेक्ष हैं। अतः जैसे एक देवदत्त में पितृत्व और पुत्रत्व दोनों बन जाते हैं उसी प्रकार एक ही द्रव्य में नित्यता और अनित्यता बन जाती है। उसमें कोई विरोध नहीं है।

इसी प्रकार सत्व और असत्व धर्मों को भी यदि एक ही अपेक्षा से माना जाता तो विरोध होता। परन्तु ऐसा नहीं है; क्योंकि जिस अपेक्षा से सत्त्व है उसी अपेक्षा से असत्व नहीं है। किन्तु सत्त्व अन्य अपेक्षा से है और असत्त्व अन्य अपेक्षा से है। स्वरूप से सत्त्व है और पररूप से असत्व है।

शंका—जिन धर्मों का एक साथ रहने में विरोध नहीं है वे धर्म भले ही एक वस्तु में रहें किन्तु सब धर्म तो एक साथ एक वस्तु में नहीं रह सकते?

समाधान—यह कौन कहता है कि परस्पर में विरोधी और अविरोधी सभी धर्म एक साथ एक वस्तु में रहते हैं। यदि सम्पूर्ण धर्मों का एक साथ रहना मान लिया जाये तो परस्पर में विरुद्ध चैतन्य, अचैतन्य, भव्यत्व, अभव्यत्व आदि धर्मों का एक साथ एक आत्मा में रहने का प्रसंग प्राप्त होगा।

इसलिए सम्पूर्ण परस्पर विरोधी धर्म एक वस्तु में रहते हैं, यह अर्थ अनेकान्त का नहीं समझना चाहिए।

यथार्थता यह है कि अनेकान्त के बिना वस्तु की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि वस्तु सर्वथा नित्य हो तो उसमें परिणमन नहीं हो सकता और परिणमन के अभाव में क्रिया कारक भाव नहीं बन सकता। यदि सर्वथा असत् है तो उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और यदि सर्वथा सत् है तो उसका कभी नाश नहीं हो सकता। अनेकान्त की दृष्टि से, दीपक के बुझ जाने पर भी उसका नाश नहीं होता, किन्तु वह अन्धकार रूप पर्याय को धारण करके अपना अस्तित्व रखता है।

शंका—अनेकान्तवाद संशय का हेतु है क्योंकि एक ही आधार में विरोधी धर्मों का रहना सम्भव नहीं है।

समाधान—सामान्य धर्म का प्रत्यक्ष और विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष न होने से तथा उभय धर्मों का स्मरण होने से संशय होता है। जैसे धुंधली रात में सामने किसी ऊँची वस्तु का प्रत्यक्ष होने पर यह सन्देह होता है कि यह ठूँठ है या पुरुष। यहाँ ठूँठ और पुरुष में पाये जाने वाले सामान्य धर्म ऊँचाई का तो प्रत्यक्ष होता है किन्तु दोनों के विशेष धर्मों का प्रत्यक्ष नहीं होता, उनका स्मरण हो जाने से संशय होता है कि यह ठूँठ है या पुरुष। किन्तु अनेकान्तवाद में ऐसा नहीं है। वहाँ तो प्रत्येक धर्म की सत्ता अपनी-अपनी निश्चित अपेक्षा से स्वीकृत है। यह कि वस्तु स्वरूप की अपेक्षा सत् है, पररूप से असत् है आदि।

शंका—आप एक ही वस्तु को सत् असत् आदि मानते हैं तो आपके पास इनको सिद्ध करने वाली युक्तियाँ हैं या नहीं? यदि नहीं हैं तो आप दूसरों को समझा नहीं सकते कि क्यों वस्तु सत् है और क्यों असत् है। यदि आपके पास युक्तियाँ हैं तो एक ही वस्तु को एक युक्ति से सत् और उसके विरुद्ध दूसरी युक्ति से असत् सिद्ध करने से सुनने वाले को सन्देह उत्पन्न होगा।

समाधान—यदि सत् असत् आदि में विरोध हो तो संशय हो। किन्तु अपेक्षा भेद से माने गये सत् असत् आदि धर्मों में कोई विरोध न होने से संशय सम्भव नहीं है। जैसे पिता पुत्र आदि कृत सम्बन्ध बहुत्व का एक देवदत्त के साथ कोई विरोध नहीं है उसी प्रकार एक ही वस्तु में अस्तित्व नास्तित्व आदि धर्मों में भी कोई विरोध नहीं है।

जिस प्रकार वस्तु का स्वरूप से अस्तित्व है उसी प्रकार पररूप से भी अस्तित्व न हो जाये इसीलिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार वस्तु द्रव्यरूप से नित्य है उसी प्रकार वह पर्याय रूप से भी नित्य न हो जाये, इसलिए स्यात् शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्यात् अर्थात् कथंचित् या विवक्षित प्रकार से अनेकान्त रूप से वाद अर्थात् कहना स्याद्वाद है। अर्थात् जिस अनेकान्तवाद का वाचक स्यात् शब्द आदि में प्रयुक्त होता है वह स्याद्वाद है।

स्यात् शब्द दो हैं। एक क्रियावाचक है, दूसरा अनेकान्तवाचक है। यहाँ अनेकान्त का वाचक लिया है। स्वामी समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में कहा है—

> वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषणम्।
> स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥
>
> स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः।
> सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

अर्थात् वाक्यों में प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का द्योतक होता है। यद्यपि विधि आदि अर्थों में लिङ् लकार का रूप भी 'स्यात्' यह क्रियापद बनता है किन्तु यहाँ वह नहीं लिया गया है। यहाँ तो 'स्यात्' शब्द निपातरूप है। किन्तु निपात-रूप स्यात् शब्द के भी संशय आदि अनेक अर्थ हैं। वह सब यहाँ नहीं लिये गये हैं। निपात वाचक भी होते हैं और द्योतक भी होते हैं। अतः स्यात् शब्द अनेकान्त का वाचक भी है और द्योतक भी है। उसे अनेकान्त का द्योतक मानने में भी कोई दोष नहीं है। वह अनेकान्त का सूचक भी है। उसके बिना अनेकान्तरूप अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती। उस स्यात् शब्द के पर्याय शब्द कथंचित् आदि हैं उनसे भी अनेकान्तरूप अर्थ की प्रतिपत्ति होती है। इस प्रकार स्याद्वाद अनेकान्त को विषय करके सात भङ्ग और नयों की अपेक्षा वस्तु स्वरूप से सत् और पररूप से असत् है, इत्यादि व्यवस्था करता है।

जसे 'स्यात् जीव है ही' इस वाक्य में स्यात् का प्रयोग इसलिए आवश्यक है कि उसके अभाव में पुद्गल की अपेक्षा भी जीव का अस्तित्व प्राप्त होता है।

शंका—जीव तो अस्तित्व सामान्य से व्याप्त है, पुद्गल आदि अस्तित्व विशेष से व्याप्त नहीं है अतः उसकी निवृत्ति के लिए स्यात् पद का प्रयोग निरर्थक है?

समाधान—'स्यात् जीव है ही' इस वाक्य में जो 'ही' है वह बतलाता है कि जीव सब प्रकार से है। अतः पुद्गल की अपेक्षा भी उसका अस्तित्व प्राप्त होता है यदि स्यात् पद न लगाया जावे।

शंका—'स्वरूप की अपेक्षा जीव है ही' यह उस 'ही' का अभिप्राय है।

समाधान—'स्वरूप की अपेक्षा जीव है ही' इसका मतलब हुआ कि पर के अस्तित्व की अपेक्षा जीव नहीं है। तब 'जीव है ही' इस वाक्य में 'ही' का प्रयोग व्यर्थ हो जाता है। 'ही' का प्रयोग तो तभी सार्थक होता है जब सब प्रकार से जीव का अस्तित्व माना जाये और नास्तित्व को न माना जाये। अतः जीव अस्तित्व-सामान्य की अपेक्षा है, पुद्गलादिगत अस्तित्व-विशेष की अपेक्षा नहीं है, यह बोध कराने के लिए 'स्यात्' का प्रयोग करना उचित है क्योंकि स्यात्पद इस प्रकार के अर्थ का द्योतक है।

शंका—जो भी वस्तु सत् है वह स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से ही सत् है, पर-द्रव्यादि की अपेक्षा सत् नहीं है। अतः पर-द्रव्यादि का प्रसंग क्यों लाया जाता है?

समाधान—आपका कथन सत्य है किन्तु विचारणीय यह है कि उस प्रकार के अर्थ का बोध किस प्रकार के शब्द से हो सकता है? ऐसा विचार करने पर उसका द्योतक स्यात् शब्द प्रयुक्त किया जाता है।

शंका—मान लेते हैं कि स्यात् शब्द अनेकान्त का द्योतक या वाचक है किन्तु लोक में प्रत्येक वाक्य के साथ उसका प्रयोग नहीं देखा जाता। तब उसका बोध कैसे होता है?

समाधान—सब अनेकान्तात्मक है ऐसा व्यवस्थापन होने पर उसके बल से एकान्त का निराश करने के लिए स्यात् पद का प्रयोग नहीं होने पर भी उसके ज्ञाता को उसका बोध हो जाता है। किसी पद या वाक्य का अर्थ एकान्त रूप नहीं है। कथंचित् एकान्त तो सुनय की अपेक्षा अनेकान्तरूप ही है। अतः सात प्रकार के वाक्यों में स्यात्पद का बोध होता ही है।

आशय यह है कि स्यात् शब्द के प्रयोग का अभिप्राय रखनेवाला व्यक्ति यदि स्यात् शब्द का प्रयोग न भी करे तो भी उसके अर्थ का ज्ञान हो जाता है। अतः स्यात् शब्द का प्रयोग नहीं करने पर भी कोई दोष नहीं है। किन्तु प्रत्येक वस्तु के अनेकान्तात्मक होने से स्याद्वाद के बिना किसी भी वस्तु का यथार्थ ग्रहण सम्भव नहीं है।

शंका—यदि सब अनेकान्तात्मक है तो अनेकान्त भी अनेकान्तात्मक होना चाहिए। ऐसी स्थिति में 'स्यात् अनेकान्त है और स्यात् अनेकान्त नहीं है' ऐसा कहने पर अनेकान्त का निषेध होकर एकान्त की भी विधि प्राप्त होती है।

समाधान—अनेकान्त भी एकान्त सापेक्ष होता है और एकान्त अनेकान्त सापेक्ष होता है। एकान्त के दो भेद हैं—सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। इसी तरह अनेकान्त के भी दो भेद हैं—सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकान्त। हेतु विशेष की अपेक्षा से, प्रमाण से जानी हुई वस्तु के एक देश को जो कहता है वह सम्यक् एकान्त है। और जो एक ही धर्म को पकड़कर शेष सब धर्मों का निराकरण करता है वह मिथ्या एकान्त है। जो एक वस्तु में प्रतिपक्ष सहित अनेक धर्मों का युक्ति और आगम से अविरुद्ध कथन करता है वह सम्यक् अनेकान्त है और जो केवल काल्पनिक अनेक धर्मों का निरूपण करता है वह मिथ्या अनेकान्त है। सम्यक् एकान्त को नय कहते हैं। सम्यक् अनेकान्त को प्रमाण कहते हैं। नय की अपेक्षा एकान्त होता है और प्रमाण की अपेक्षा अनेकान्त होता है। यदि केवल अनेकान्त ही हो और एकान्त न हो तो एकान्तों के समूह रूप अनेकान्त का भी अभाव हो जाये। जैसे शाखा पत्र पुष्प आदि के अभाव में वृक्ष का अभाव होता है।

शंका—यदि एकान्तों का समूह अनेकान्त है और एकान्त मिथ्या होता है तो उनका समूह अनेकान्त भी मिथ्या ठहरता है क्योंकि मिथ्या का समूह भी मिथ्या होता है?

समाधान—[1]निरपेक्ष ही नय मिथ्या होते हैं अतः उनका समूह भी मिथ्या होता है। सापेक्ष नय सुनय होते हैं अतः उनका विषय अर्थक्रियाकारी होने से उनका समूह मिथ्या नहीं होता।

---

१ मिथ्या समूहो मिथ्या चेन्न मिथ्यैकान्ततास्ति नः।
निरपेक्षा नया मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्॥ (आप्तमीमांसा १०८)

विरोधी धर्म का निराकरण करने का नाम निरपेक्षता है और विचार के समय विरोधी धर्म की अपेक्षा न होने से उपेक्षा होना सापेक्षता है। यदि ऐसा न माना जाये तो प्रमाण और नय में कोई भेद न रहे। क्योंकि अनेकान्त रूप वस्तु के ज्ञान को प्रमाण कहते हैं, और धर्मान्तर की अपेक्षा रखते हुए अनेकान्त रूप वस्तु के एक धर्म के जानने को नय कहते हैं। धर्मान्तर का निराकरण करके एक ही धर्म को स्वीकार करना दुर्नय[1] है।

नयवाद

जैन दर्शन की जैसे एक विशिष्ट देन स्याद्वाद है वैसे ही एक दूसरी देन नयवाद है। नयवाद को हृदयंगम किये बिना जिनागम के रहस्य को समझना शक्य नहीं है। आचार्य देवसेन ने अपने नयचक्र में कहा है—'जिनके नय रूपी दृष्टि नहीं है वे वस्तु के स्वरूप को नहीं जान सकते, और वस्तु स्वरूप को जाने बिना सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं?' उनके इस कथन से नय का महत्त्व स्पष्ट होता है।

प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के एकदेश को जो जानता है वह नय है। नय के द्वारा गृहीत एकदेश न तो वस्तु है और न ही अवस्तु। यदि एकदेश को ही वस्तु स्वीकार किया जाता है तो उनके अन्य देश अवस्तु कहलायेंगे। यदि प्रत्येक देश को वस्तु माना जाता है तो एक ही वस्तु में वस्तुबहुत्व का प्रसंग आता है। यदि एकदेश को अवस्तु माना जाता है तो शेष देशों के भी अवस्तु होने से वस्तु की व्यवस्था नहीं बन सकेगी। इसलिए नय का विषय वस्तु का एक अंश या धर्म है।

शंका—जैसे वस्तु का अंश न वस्तु है, न अवस्तु है, किन्तु वस्तु का अंश है। उसी प्रकार अंशी न वस्तु है न अवस्तु, वह केवल अंशी है। वस्तु तो अंश और अंशी के समूह का नाम है। अतः जैसे अंश को जानने वाला ज्ञान नय है उसी प्रकार अंशी को भी जाननेवाला ज्ञान नय होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है तो जैसे अंशी को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है उसी प्रकार अंश को जाननेवाला ज्ञान भी प्रमाण ही होना चाहिए। ऐसा मानने पर तो नय प्रमाण से भिन्न नहीं हुआ?

समाधान—जब अंशी में सब अंश गौण होते हैं तब उसका ज्ञान नय है और जब अंशी में सब अंश प्रधान होते हैं तब उसका ज्ञान प्रमाण माना है। अतः प्रमाण से नय भिन्न ही है।

शंका—तब तो नय अप्रमाण हुआ, क्योंकि वह प्रमाण से भिन्न है। एक ज्ञान एक साथ प्रमाण और अप्रमाण दोनों भी नहीं है, ऐसा नहीं कह सकते। यदि वह प्रमाण नहीं है तो अप्रमाण ठहरता है और यदि अप्रमाण नहीं है तो प्रमाण ठहरता है। दूसरी कोई गति नहीं है।

---

१. अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः॥—अष्टश:, अष्टसहस्री, पृ. २६०।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि नय प्रमाण का एकदेश है। नय न तो प्रमाण ही है क्योंकि वह प्रमाण से सर्वथा अभिन्न नहीं है। और न अप्रमाण ही है क्योंकि प्रमाण से सर्वथा भिन्न भी नहीं है। अंश और अंशी में कथंचित् भेद होता है।

शंका—जिस अपेक्षा से वह एकदेश अभिन्न है उस अपेक्षा से प्रमाण हुआ और जिस अपेक्षा से भिन्न है उस अपेक्षा से अप्रमाण हुआ।

समाधान—इसमें हमें कोई अनिष्ट प्रतीत नहीं होता। हम नय को एकदेश से प्रमाण और एकदेश से अप्रमाण मानते हैं। पूर्णरूप से नय को प्रमाण नहीं मानते। अस्तु।

यद्यपि नय प्रमाण से गृहीत वस्तु के एकदेश को जानता है, और प्रमाण ज्ञान पाँच हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान। किन्तु मति, अवधि और मनःपर्यय से ज्ञात पदार्थ के अंश में नय की प्रवृत्ति नहीं होती, क्योंकि ये समस्त देश और समस्त कालवर्ती पदार्थों को नहीं जानते। लेकिन नय समस्त देश और समस्त कालवर्ती पदार्थों का एक देश जानता है। केवलज्ञान त्रिकालवर्ती सब पदार्थों को स्पष्ट जानता है जबकि नय परोक्ष रूप से जानते हैं इसलिए नय का मूल केवलज्ञान भी नहीं है। अतः नय का मूल श्रुतज्ञान[1] है। उसी के भेद नय हैं।

नय के भेद

श्रुत प्रमाण के विषयभूत पदार्थ के अंश को जो जानता है वह नय है। वस्तु के दो अंश हैं—द्रव्य और पर्याय, क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। अतः नय के भी मूलभेद दो हैं—द्रव्य को विषय करने वाला द्रव्यार्थिक है और पर्याय को विषय करने वाला पर्यायार्थिक नय है। द्रव्यार्थिक के भेद नैगम, संग्रह और व्यवहार हैं। पर्यायार्थिक के चार भेद हैं—ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। इस तरह विस्तार से नय के सात भेद हैं और अतिविस्तार से संख्यात भेद हैं। क्योंकि जितने कथन के मार्ग हैं उतने ही नय हैं। इसी से नय का लक्षण ज्ञाता का अभिप्राय किया गया है। ज्ञाता वस्तु को जानकर अपने अभिप्राय के अनुसार उसका कथन करता है।

ज्ञाता के अभिप्राय से आशय यह कि यद्यपि प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मों से युक्त होता है किन्तु ज्ञाता उन अनेक धर्मों में से एक ही धर्म को ग्रहण करता है क्योंकि उस समय उसकी इच्छा उस एक ही धर्म को जानने या कहने की है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि पदार्थ में वही एक धर्म है, अन्य अनेक धर्म नहीं है। अन्य धर्मों के होते हुए भी उस समय उनकी विवक्षा नहीं है, इसी से वह विवक्षित धर्म का ही ग्रहण करता है, उसी को कहता है।

इस तरह नय के तीन रूप हो जाते हैं—अर्थ रूप, शब्द रूप और ज्ञान रूप।

---

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १।६

वस्तु का एक धर्म अर्थरूप नय है। उस धर्म का वाचक शब्द शब्दनय है और उस धर्म का ग्राहक ज्ञान ज्ञाननय है। वस्तु का एक धर्म नय के द्वारा ग्राह्य होने से नय कहा जाता है और उसका वाचक शब्द तथा ग्राहक ज्ञान उस एक ही धर्म को कहने अथवा जानने से नय कहा जाता है। इस तरह नय के द्वारा जो कहा जाता है और जो जाना जाता है वह भी नय है।

जैसा ऊपर कहा है, नय के अनेक भेद हैं तथा उन भेदों की प्रक्रिया भी भिन्न है। ऊपर जो नय के भेद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक कहे हैं उनका प्रयोग द्रव्यपर्यायात्मक वस्तु को जानने में किया जाता है अतः जैन सिद्धान्त में उन्हीं का चलन है।

किन्तु जैन अध्यात्म में इन दोनों नामों का पर्यायान्तर हो जाता है। द्रव्यार्थिक का नाम निश्चय और पर्यायार्थिक का नाम व्यवहार नय है। जैन अध्यात्म के प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्रवचनसार में द्रव्यार्थिक नयों और पर्यायार्थिक नयों का निर्देश किया है। किन्तु समयसार में निश्चय नय और व्यवहार नय का ही सर्वत्र निर्देश है। तदनुसार ही निर्देश उनके प्रथम टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने भी किया। इन दोनों नयों के किन्हीं भेदों का कथन उन्होंने नहीं किया।

प्रवचनसार गाथा २।२२ की टीका में उन्होंने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों से जीवद्रव्य का वर्णन करते हुए कहा है—

सर्व वस्तु सामान्य-विशेषात्मक (द्रव्यपर्यायात्मक) होने से उसके स्वरूप को देखनेवालों के यथाक्रम सामान्य और विशेष को देखनेवाली दो आँखें हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। उनमें से पर्यायार्थिक नय रूपी आँख को सर्वथा बन्द करके केवल द्रव्यार्थिक नय रूपी आँख को खुली रखकर जब जीववस्तु को देखते हैं तब नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध पर्यायरूप विशेषों में स्थित एक जीवसामान्य को देखनेवालों को और विशेषों को न देखनेवालों को वह सब जीवद्रव्य रूप ही दिखायी देता है। और जब द्रव्यार्थिक रूपी आँख को सर्वथा बन्द करके तथा केवल पर्यायार्थिक रूपी आँख को खुली रखकर देखते हैं तब जीव द्रव्य में स्थित नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध पर्याय रूप अनेक विशेषों को देखने वालों को और सामान्य जीवद्रव्य को न देखनेवालों को जीव अन्य-अन्य रूप ही प्रतिभासित होता है। क्योंकि द्रव्य उस-उस विशेषकाल में अपने उन-उन विशेषों से तन्मय होने से अभिन्न है। जैसे आग जब तृण को जलाती है तो तृणमय होती है, लकड़ी को जलाती है तो लकड़ी रूप होती है। और जब द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक रूप दोनों आँखों को एक साथ खोलकर देखते हैं तब नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध पर्यायों में स्थित जीवसामान्य और जीवसामान्य में स्थित नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव और सिद्ध पर्यायरूप विशेष एक साथ दिखाई देते हैं। अतः एक आँख से देखना एक देश देखना है और दोनों आँखों से देखना पूर्ण देखना है।

यह द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के साथ नय के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण है। ये ही दोनों नय आध्यात्मिक दृष्टिकोण के साथ अध्यात्म में निश्चय नय और व्यवहार नय के नाम से अवतरित हुए हैं। अध्यात्म का मुख्य विषय है आत्मा और उसकी शुद्ध तथा अशुद्ध दशा। अशुद्ध दशा का नाम संसार है और शुद्ध दशा का नाम मोक्ष है। जो नय शुद्ध स्वरूप या स्वाश्रित स्वरूप को ग्रहण करता है वह शुद्ध या निश्चय नय है और जो नय पराश्रित स्वरूप या अशुद्ध स्वरूप को ग्रहण करता है वह व्यवहार नय है। अशुद्धता दो कारणों से होती है। पर-वस्तु के मेल से अशुद्धता तो प्रसिद्ध है। दूध में पानी मिलाने से शुद्ध दूध नहीं रहता। इसी प्रकार कर्म से बद्ध आत्मा अशुद्ध दशा में होता है। दूसरे प्रकार की अशुद्धता, अखण्ड शुद्ध द्रव्य में भी भेद करने से होती है। जैसे आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है। उसमें गुण और गुणी का भेद करना कि उसमें दर्शन ज्ञान चारित्र आदि गुण हैं। ऐसा करने से सुननेवाले को ऐसी प्रतीति होती है कि आत्मा नाना गुणों के मेल से बना है जो यथार्थ नहीं है। किन्तु ऐसा कहे बिना दूसरा समझ नहीं सकता, अतः कहना पड़ता है। यह कथन और परवस्तु के मेल से निष्पन्न अशुद्धता दोनों व्यवहार नय का विषय हैं और शुद्ध तथा अभेद दशा निश्चय नय का विषय है। आगे इन दोनों नयों के सम्बन्ध में विस्तारसे प्रकाश डाला गया है।

निश्चय नय

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने समयसार के प्रारम्भ में व्यवहार नय के प्रतिपक्षी के रूप में शुद्ध नय का निर्देश किया है और उसे भूतार्थ कहा है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

> **जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं।**
> **अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणाहि ॥१४॥**

जो आत्मा को अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त जानता है उसे शुद्ध नय जानो। आचार्य अमृतचन्द्र ने इसकी व्याख्या में कहा है—

जैसे कमलिनी का पत्र पानी में डूबा हुआ है। वह पानी को छू रहा है। इस दृष्टि से हम जब देखते हैं तो उसका पानी को छूना भूतार्थ-सत्यार्थ है। किन्तु कमलिनी के पत्र का स्वभाव है पानी में रहते हुए भी पानी से अछूता रहना। जब हम उसके इस स्वभाव को दृष्टि में रखकर देखते हैं तो उसका पानी को छूना अभूतार्थ है। इसी प्रकार जब हम देखते हैं कि आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बद्ध-स्पृष्ट है तो उसका बद्ध-स्पृष्टपना भूतार्थ प्रतीत होता है। किन्तु जब हम देखते हैं कि आत्मा का स्वभाव पुद्गल कर्मों से अछूता है तब हमें उसका बद्ध-स्पृष्टपना अभूतार्थ प्रतीत होता है।

जैसे, जब हम मिट्टी को घड़ा, सकोरा आदि नाना पर्याय रूप से देखते हैं तो उसका नानापना भूतार्थ प्रतीत होता है। किन्तु जब हम मिट्टी को मिट्टी रूप सें देखते हैं तो उसके नाना रूप अभूतार्थ प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार जब हम आत्मा को नारक आदि पर्याय रूप से देखते हैं तो उसका अन्य-अन्यपना भूतार्थ प्रतीत होता है। किन्तु जब हम कभी भी अन्य रूप न होने वाले आत्मस्वभाव का अनुभव करते हैं तो उसका अन्य-अन्यपना अभूतार्थ लक्ष्य में आता है। तथा जैसे, समुद्र की हानि-वृद्धि को दृष्टि में रखकर देखने से समुद्र का अनियतपना भूतार्थ प्रतीत होता है किन्तु समुद्र के नित्य व्यवस्थित स्वभाव को लक्ष्य में रखकर देखने से उसका अनियतपना अभूतार्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार आत्मा में होनेवाली षड्गुणि हानि-वृद्धि रूप पर्याय का अनुभवन करने पर उसका अनियतपना भूतार्थ होते हुए भी नित्य व्यवस्थित आत्मस्वभाव का अनुभवन करने पर अभूतार्थ अनुभव में आता है। जैसे सुवर्ण के पीतता, चिक्कणता, गुरुता आदि पर्यायों को देखने पर उसका विशेषपना भूतार्थ दृष्टिगोचर होता है। किन्तु समस्त विशेषताएँ जिसमें लीन हैं ऐसे उसके स्वभाव को दृष्टि में रखने पर उसकी विशेषताएँ अभूतार्थ प्रतीत होती हैं। उसी प्रकार आत्मा को ज्ञान दर्शन आदि पर्याय रूप से अनुभवन करने पर उसकी विशेषताएँ भूतार्थ होने पर भी, जिसमें समस्त विशेष लीन हैं ऐसे उसके आत्मस्वभाव का अनुभवन करने पर सब विशेष अभूतार्थ प्रतीत होते हैं। तथा जैसे, पानी आग के संयोग से गर्म हो जाता है इस दृष्टि से देखने पर उसका संयुक्तपना भूतार्थ है तथापि उसके सर्वथा शीत स्वभाव का अनुभवन करने पर वह अभूतार्थ है। इसी प्रकार जब हम आत्मा को कर्मजन्य मोहयुक्त पर्याय से अनुभव करते हैं तो उसका कर्मसंयुक्तपना भूतार्थ होने पर भी उसके एकान्त चैतन्य स्वभाव का अनुभवन करने पर वह अभूतार्थ अनुभव में आता है।

सारांश यह है कि वस्तु का स्वरूप अनेकान्तात्मक होने से आत्मा भी अनेक धर्मात्मक है। उसके धर्मों में कितने ही धर्म तो स्वाभाविक हैं और कितने ही कर्मपुद्गलों के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। कर्मजन्य धर्मों को यह अज्ञानी जीव आत्मा का मानता है, क्योंकि उसे आत्मा के यथार्थस्वरूप का ज्ञान नहीं है। आत्मा एक अखण्ड, नित्य, अनादिनिधन चैतन्यस्वभाव वाला है। उस स्वभाव का अनुभवन करने से अनादि अज्ञान मिटता है और उसके मिटने से ही संसार के बन्धन से छुटकारा होता है।

जैसा कि ऊपर कहा है, आत्मा व्यवहार नय से बद्ध स्पृष्ट आदि रूप दीखता है वह यद्यपि व्यवहार नय की दृष्टि से सत्यार्थ है परन्तु शुद्ध नय की दृष्टि से असत्यार्थ है। इसमें स्याद्वाद बतलाया गया है।

कोई-कोई व्यवहारपक्षी ऐसा कहते सुने जाते हैं कि जैसे शुद्ध नय की दृष्टि

में व्यवहार असत्यार्थ है वैसे ही व्यवहार नय की दृष्टि में निश्चय नय भी असत्यार्थ है। अत: व्यवहार को ही असत्यार्थ क्यों कहा जाता है ? इसका समाधान यह है कि व्यवहार नय द्रव्य की अशुद्ध दशा को कहता है और निश्चय नय शुद्ध द्रव्य को कहता है। यद्यपि शुद्धता और अशुद्धता दोनों यथार्थ हैं क्योंकि दोनों से रूप द्रव्य की प्रतीति होती है। किन्तु मोक्षमार्ग में साधकतम होने से निश्चय नय को ही ग्रहण किया गया है। इसका कारण यह है कि मोक्षमार्ग का साध्य शुद्ध आत्मा है और निश्चय नय ही शुद्ध द्रव्य का प्रकाशक है। उसी को लक्ष्य में लेने से आत्मा के शुद्ध स्वरूप की प्रतीति होती है। किन्तु व्यवहार नय तो अशुद्ध द्रव्य का प्रकाशक है। अत: वह मोक्षमार्ग में उपयोगी होने पर भी साधकतम नहीं है। अत: व्यवहारनय से निश्चयनय के कथन को अयथार्थ मानकर छोड़ देने पर और व्यवहारनय के द्वारा दर्शित अशुद्ध दशा को ही सर्वथा यथार्थ मानने पर तो संसार के बन्धन से कभी छुटकारा संभव ही नहीं है। इसीलिए व्यवहारनय को अभूतार्थ और निश्चय-नय को भूतार्थ कहा है और इस तरह व्यवहार को हेय और निश्चय को उपादेय कहा गया है। किन्तु व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ और हेय नहीं है। ऐसा मानने से तो एकान्तवाद आ जाता है।

'प्रवचनसार' (गाथा १९०) में कहा है कि अशुद्ध नय के अवलम्बन से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है। यथा—

जो शुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाले निश्चयनय से निरपेक्ष रहकर अशुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाले व्यवहार नय के मोह में पड़ जाता है वह परद्रव्य, शरीर, धन-सम्पति को 'यह मेरा है या यह मैं हूँ' ऐसा मानकर ममत्व नहीं छोड़ता। वह शुद्धात्म परिणति रूप मोक्षमार्ग को त्याग कर अशुद्धात्म परिणति रूप उन्मार्ग को अपनाता है। अत: यह निश्चित है कि अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है।

आगे गाथा १९१ में कहा है कि शुद्ध नय से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है यथा—

जो अशुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाले व्यवहार नय से विरोध न करते हुए मध्यस्थ रहकर शुद्ध द्रव्य का कथन करनेवाले निश्चय नय के अवलम्बन से मोह को दूर करके 'मैं न पर का हूं और न पर मेरे हैं' इस प्रकार से पर वस्तुओं के साथ अपने स्वामी सम्बन्ध को भी दूर करता है तथा आत्मा को ही अपना मानता हुआ उसी में लीन होता है वह शुद्धात्मा हो जाता है। अत: यह निश्चित है कि शुद्ध नय से शुद्ध आत्मा का ही लाभ होता है।

इस प्रकार निश्चयनय ही सत्यार्थ और उपादेय होने से प्रधान है। वही सम्यक्त्व का कारण है। 'समयसार' में कहा है—'भूतार्थ का आश्रय लेने वाला जीव ही सम्यग्दृष्टि होता है।'

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र ने उक्त प्रकार से निश्चय नय का कथन किया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयसार' की अपनी टीका मे निश्चयनय को स्वाश्रित और व्यवहार नय को पराश्रित कहा है। तथा 'प्रवचनसार' की टीका में निश्चय को शुद्ध द्रव्य का निरूपक और व्यवहार को अशुद्ध द्रव्य का निरूपक कहा है। इन दोनों लक्षणों में केवल शब्द-भेद है, अभिप्राय-भेद नहीं है। द्रव्य की शुद्ध दशा का कथन ही स्वाश्रित कथन है और द्रव्य की अशुद्ध दशा का कथन ही पराश्रित कथन है; क्योंकि शुद्धता स्वाश्रित होती है और अशुद्धता पराश्रित होती है।

'आलाप पद्धति' में कुछ भिन्न प्रकार से लक्षण कहा है यथा—

अभेद और अनुपचार से वस्तु का निश्चय करने वाला निश्चयनय है। अर्थात् निश्चयनय अभेदरूप वस्तु को ग्रहण करता है। जैसे 'समयसार' में कहा है—

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तदंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

अर्थात् आत्मा के दर्शन, ज्ञान, चारित्र भी व्यवहारनय से कहे जाते हैं किन्तु परमार्थ से न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है। वह तो एक शुद्ध ज्ञायक भाव मात्र है।

धर्म और धर्मी में स्वभाव से तो अभेद ही है। किन्तु जो उसे नहीं समझ सकते उनके समझाने के लिए धर्म-धर्मी में कथन की अपेक्षा भेद उत्पन्न करके कहा जाता है कि आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र है। किन्तु जो एक अभेद रूप आत्मा का अनुभवन करते हैं उनके लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र नहीं है; आत्मा तो एक शुद्ध ज्ञायक भावरूप है। इसी तरह वह अनुपचरित स्वरूप वस्तु को ग्रहण करता है।

निश्चयनय के भेद

यह हम बतला चुके हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द और उनके टीकाकार अमृतचन्द्र ने निश्चय और व्यवहार के भेदों का निर्देश नहीं किया। 'आलाप पद्धति' में तथा 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' की टीका में तथा आचार्य जयसेन की टीका आदि में ये भेद मिलते हैं। उनके अनुसार निश्चयनय के दो भेद हैं—शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चय-नय। 'आलाप-पद्धति' के अनुसार जो निरूपाधिक—उपाधिरहित गुण और गुणी में अभेद को विषय करता है वह शुद्ध निश्चयनय है। जैसे केवलज्ञानादि गुण जीव है। उपाधिसहित गुण-गुणी में अभेद को विषय करने वाला अशुद्ध निश्चयनय है। जैसे मतिज्ञानादि गुण जीव है।

'द्रव्यसंग्रह' के कर्ता ने भी नयविवक्षा से वर्णन किया है। एक ही गाथा में उन्होंने तीन नयों से जीव को तीन विविध भावों का कर्ता कहा है। यथा—

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्छयदो।
चेदण कम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाणं ॥८॥

अर्थात् व्यवहारनय से आत्मा पुद्गल कर्मादि का कर्ता है। निश्चयनय से चेतनकर्मों का कर्ता है और शुद्धनय से शुद्ध भावों का कर्ता है।

आगे कहा है—

मग्गणगुणठाणेहि य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

अर्थात् अशुद्धनय से संसारी जीव के मार्गणा और गुणस्थानों के भेद से चौदह-चौदह भेदरूप जानना और शुद्धनय से सब संसारी जीव शुद्ध अर्थात् भेदरहित हैं।

ऊपर की गाथा में भी निश्चय से अशुद्धनिश्चय लिया गया है और शुद्धनय से शुद्ध निश्चय नय लिया गया है।

आचार्य जयसेन ने 'समयसार' गाथा ११ की टीका में निश्चयनय के दो भेद किये हैं—शुद्ध और अशुद्ध। किन्तु उन्होंने शुद्ध निश्चय के लिए निश्चय शब्द का भी प्रयोग किया है, शुद्धनिश्चय का तो किया ही है। एक स्थान पर तो सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय का भी प्रयोग मिलता है। चर्चा इस प्रकार है—

'समयसार' गाथा १११ का व्याख्यान करते हुए कहा है—'ये मिथ्यात्व आदि भावप्रत्यय शुद्ध निश्चयनय से अचेतन हैं; क्योंकि पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न होते हैं। जैसे पुत्र स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होता है। विवक्षावश कुछ लोग उसे पिता देवदत्त का पुत्र कहते हैं और कुछ उसे माता देवदत्ता का पुत्र कहते हैं। इसमें कोई दोष नहीं है। उसी प्रकार जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न मिथ्यात्व रागादि प्रत्यय अशुद्ध निश्चयनय से जीवसम्बद्ध होने से चेतन हैं। शुद्ध निश्चयनय से पौद्गलिक होने से अचेतन हैं। परमार्थ से न तो एकान्त से जीवरूप हैं और न पुद्गलरूप हैं। वास्तव में तो सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से वे हैं ही नहीं। उनकी उत्पत्ति तो अज्ञानजन्य है। अतः जो कहते हैं कि एकान्त से रागादि जीव के हैं या पुद्गल के हैं, ये दोनों ही कथन मिथ्या हैं। क्योंकि पूर्वोक्त स्त्री-पुरुष के दृष्टान्त के अनुसार, वे जीव और पुद्गल के संयोग से उत्पन्न हुए हैं। यदि कहोगे कि सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से वे किसके हैं? तो सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय से उनका अस्तित्व ही नहीं है, यह हम पहले कह चुके हैं। तब हम क्या उत्तर देवें?'

यही चर्चा इन्हीं शब्दों में 'वृहद्द्रव्यसंग्रह' गाथा ४८ की टीका में भी ब्रह्मदेव

ने उठाई है। किन्तु उन्होंने साक्षात् शुद्ध निश्चयनय का प्रयोग किया है, सूक्ष्म शुद्ध निश्चयनय का नहीं। यहाँ हम यह स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि आचार्य जयसेन का कथन ब्रह्मदेव के कथन का ऋणी है। जयसेन ने ब्रह्मदेव की टीकाओं से बहुत कुछ लिया है। अस्तु।

अशुद्ध निश्चय व्यवहार ही है

श्री जयसेनाचार्य ने 'समयसार' की अपनी टीका में कई स्थलों पर यह स्पष्ट किया है कि वास्तव में तो अशुद्ध निश्चय व्यवहार ही है। यहाँ हम उन स्थलों की चर्चा करेंगे—

गाथा ५७ की टीका में यह प्रश्न किया है कि रूप, रस आदि तो बाह्य हैं, उनका जीव के साथ दूध-पानी की तरह सम्बन्ध व्यवहारनय से हुआ। किन्तु रागादि तो अभ्यन्तर हैं। उनके साथ जीव का सम्बन्ध व्यवहारनय से न होकर अशुद्ध निश्चयनय से होना चाहिए?

इसके समाधान में कहा है कि जीव का द्रव्य कर्मों के साथ सम्बन्ध असद्भूत व्यवहारनय से कहा गया है। उसकी अपेक्षा तारतम्य बतलाने के लिए जीव का रागादि के साथ सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनय से कहा है। वास्तव में तो शुद्ध निश्चय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय भी व्यवहार ही है।

आगे गाथा ५८ की टीका में भी यही बात कही है। उन्होंने लिखा है कि निश्चय और व्यवहारनय का विचार करते समय सर्वत्र यह व्याख्यान जानना कि शुद्ध निश्चय की अपेक्षा अशुद्ध निश्चय व्यवहार ही है।

गाथा १३७-१३८ की टीका में कहा है—जीव अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से द्रव्यकर्मों का कर्ता है और अशुद्ध निश्चय से रागादि भावों का कर्ता है। वह अशुद्ध निश्चय यद्यपि द्रव्यकर्म के कर्तृत्व विषयक अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चय नाम पाता है। तथापि शुद्ध आत्मद्रव्य को विषय करनेवाले शुद्ध निश्चय की अपेक्षा व्यवहार ही है।

'द्रव्यसंग्रह' गाथा ४८ की टीका में ब्रह्मदेवजी ने भी यही बात कही है।

यथार्थ में निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से जीव के स्वाभाविक भाव को ही उसका कहता है। स्वाभाविक भाव वही हैं जिनका जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। अतः राग द्वेष, मोह और उनके कारण कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान ये सब व्यवहार से ही जीव के कहे हैं, निश्चय से जीव के नहीं है क्योंकि इन सबका जीव के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है। जीव तो नित्य ही अमूर्त स्वभाव और उपयोग गुणवाला है।

एक देश शुद्ध निश्चयनय

ब्रह्मदेवजी ने एक देश शुद्ध निश्चयनय का भी प्रयोग 'द्रव्यसंग्रह' की टीका में किया है। गाथा ८ की टीका में 'सुद्धणया सुद्धभावाणं' की व्याख्या करते हुए वह लिखते हैं—'जब जीव शुभ-अशुभ रूप तीनों योगों के व्यापार से रहित एक शुद्ध-बुद्ध स्वभाव रूप से परिणमन करता है तब छद्मस्थावस्था में अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि भावों का भावनारूप विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चयनय से कर्ता है और मुक्तावस्था में शुद्धनय से कर्ता है।'

यहाँ जो शुभ-अशुभ रूप तीनों योगों के व्याहार से रहित छद्मस्थावस्था कही है यह एकत्ववितर्क रूप शुक्लध्यान की वह अवस्था प्रतीत होती है जिसके पश्चात् केवलज्ञान प्रकट होता है। उस अवस्था में अनन्तचतुष्टय रूप भावों की भावना ही होती है। उनका कर्ता शुद्ध निश्चय से भी नहीं है और अशुद्ध निश्चय से भी नहीं है किन्तु अशुद्ध निश्चय से ऊपर और शुद्ध निश्चय से नीचे स्थित एकदेश शुद्ध निश्चय से कर्ता कहा है।

आगे गाथा ५५ में वर्णित निश्चयध्यान की व्याख्या करते हुए टीका में कहा है—'निश्चय शब्द से प्राथमिक अभ्यासियों की अपेक्षा तो व्यवहार रत्नत्रय के अनुकूल निश्चय लेना चाहिए। किन्तु निष्पन्नयोग वाले पुरुष की अपेक्षा शुद्धोपयोग रूप विवक्षित एकदेश शुद्ध निश्चय लेना चाहिए।' ऊपर कहा गया एकदेश शुद्ध निश्चय और नीचे कहा गया एकदेश शुद्ध निश्चय ये दोनों एक ही प्रतीत होते हैं।

इस तरह तरतम भाव को दृष्टि में रखकर शुद्ध निश्चयनय में भेदकल्पना की गई है। यथार्थ में तो शुद्ध निश्चय ही निश्चय है और उसका कोई भेद नहीं है।

व्यवहारनय

अब हम व्यवहारनय की ओर आते हैं। निश्चयनय से विपरीत व्यवहारनय है। निश्चयनय स्वाश्रित है, शुद्ध स्वरूप को ग्रहण करता है जबकि व्यवहारनय पराश्रित है, अशुद्ध स्वरूपको ग्रहण करता है। निश्चयनय अभेद रूप और अनुपचरित वस्तु स्वरूप को ग्रहण करता है तो व्यवहारनय भेदरूप और उपचरित वस्तु को ग्रहण करता है।

व्यवहारनय के भेद

जैसे निश्चय के शुद्ध और अशुद्ध दो भेद हैं वैसे ही व्यवहारनय के भी दो भेद हैं—सद्भूत व्यवहारनय और असद्भूत व्यवहारनय। एक ही वस्तु में भेद करनेवाला सद्भूत व्यवहारनय है। इसके दो भेद हैं—अनुपचरित और उपचरित। शुद्ध गुण और शुद्ध गुणी में, शुद्ध पर्याय और शुद्ध पर्यायी में भेद करनेवाला शुद्ध

सद्भूत या अनुपचरित सद्भूत व्यवहारनय है। इसी प्रकार अशुद्ध गुण और अशुद्ध गुणी में तथा अशुद्ध पर्याय और अशुद्ध पर्यायी में भेद को विषय करने-वाला अशुद्ध सद्भूत या उपचरित सद्भूत व्यवहारनय है।

इसी तरह असद्भूत व्यवहारनय के भी दो भेद हैं—उपचरित और अनुपचरित। सम्बन्ध रहित वस्तुओं में सम्बन्ध को विषय करने वाला उपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे यह धन मेरा है। सम्बन्ध सहित दो भिन्न वस्तुओं में सम्बन्ध को विषय करने वाला अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जैसे यह शरीर मेरा है।

यह हम ऊपर लिख आये हैं कि ये निश्चय और व्यवहार नय अध्यात्मनय कहलाते हैं। आत्मा का असली (स्वाश्रित) और नकली (पराश्रित) स्वरूप जानने में इनका उपयोग होता है। उसके विना आत्मा और अनात्मा की पहचान नहीं होती और आत्मा-अनात्मा या स्व और पर को जाने विना सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन के विना मोक्षमार्ग नहीं खुलता, वह बन्द रहता है।

अत: नीचे हम आगम के आधार पर नय की विवक्षा से जीव का स्वरूप कहते हैं। उससे इन नयों का भेद स्पष्ट हो सकेगा।

(१) **जीव**—अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से जो द्रव्येन्द्रिय रूप प्राणों से जीता है वह जीव है।

अशुद्ध निश्चयनय से जो क्षायोपशमिक भावेन्द्रिय आदि रूप भावप्राणों से जीता है वह जीव है।

निश्चयनय से सत्ता चैतन्यबोध आदि शुद्ध भावरूप प्राणों से जो जीता है वह जीव है।

शुद्ध निश्चयनय से जिसके शुद्ध चेतना है वह जीव है।

इन चारों में उपादेय शुद्ध चेतना रूप प्राण है। शेष सब हेय हैं।

(२) **उपयोग**—जीव का समान्य लक्षण आठ प्रकार का ज्ञानोपयोग और चार प्रकार का दर्शनोपयोग कहा है। इनमें कुमति कुश्रुत कुअवधि तो उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से जीव के लक्षण हैं। छद्मस्थ अवस्था में होने वाले अपूर्ण ज्ञान दर्शन उपचरित सद्भूत व्यवहार नय से जीव के लक्षण हैं।

केवलज्ञान तथा केवलदर्शन अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नय से जीव के लक्षण है।

इसी प्रकार शुद्ध नय से शुद्ध ज्ञान दर्शन जीव के लक्षण हैं। इनमें से साक्षात् उपादेयभूत अविनाशी सुख के उपादान कारण होने से केवलज्ञान केवलदर्शन उपादेय हैं।

(३) **अमूर्तिक**—शुद्ध निश्चयनय से शुद्धबुद्धैकस्वभाव शुद्ध जीव में पाँच वर्ण, पाँच रस, दो गन्ध, आठ स्पर्श नहीं हैं अत: अमूर्तिक है। किन्तु अनुपचरित

असद्भूत व्यवहार नय से अनादि कर्मबन्धन के कारण मूर्तिक है।

कर्ता—अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से निज शुद्धात्मतत्त्व भावना से शून्य जीव ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मों का कर्ता है। उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से बाह्य घट-पट आदि का कर्ता है। अशुद्ध निश्चयनय से वह रागद्वेषादि भावों का कर्ता है। शुभाशुभ रूप तीन योगों के व्यापार से रहित शुद्धबुद्धैकस्वभाव रूप से जब परिणमन करता है तब छद्मस्थ अवस्था में विकसित एकदेश शुद्ध निश्चय-नय से अनन्तज्ञान अनन्तसुख आदि शुद्ध भावों का भावनारूप कर्ता होता है और मुक्त अवस्था में उनका कर्ता शुद्धनय से होता है।

भोक्ता—उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से इष्ट-अनिष्ट पंचेन्द्रियजनित सुख-दुःख का भोक्ता है।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय से अभ्यन्तर में सुख-दुःख के जनक द्रव्य कर्म रूप साता-असाता के उदय का भोक्ता है। अशुद्ध निश्चय नय से हर्ष विषाद रूप सुख-दुःख का भोक्ता है।

शुद्ध निश्चय नय से परमात्म स्वभाव की सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् अनुष्ठान से उत्पन्न सदा आनन्द रूप सुखामृत का भोक्ता है।

इस प्रकार नयविभाग से आगम में जीव का स्वरूप कहा गया है।

सिद्धान्त में भी निश्चय-व्यवहार का प्रयोग

निश्चय और व्यवहार से कथन केवल अध्यात्म में ही है ऐसी बात नहीं है, सिद्धान्तग्रन्थों में भी उनका कथन प्राप्त होता है। इसके कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

१. 'सर्वार्थसिद्धि' नामक तत्त्वार्थवृत्ति के पाँचवें अध्याय में 'लोकाकाशेऽवगाहः' सूत्र की व्याख्या में शंका-समाधान देते हुए कहा है—धर्मादि द्रव्यों का आधार आकाश है यह कथन व्यवहार नय से किया है। लोकाकाश और धर्मादि द्रव्यों में जो आधार-आधेय की कल्पना की गई है उसका फल इतना ही है कि धर्मादि द्रव्य लोकाकाश से बाहर नहीं हैं। एवंभूत नय की अपेक्षा सब द्रव्य स्वप्रतिष्ठ हैं। यहाँ एवंभूत से निश्चय नय ही विवक्षित है।

२. अकलंक देव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में भी इसी सूत्र की व्याख्या में उक्त कथन करते हुए लिखा है—'तथा लोकाकाशेऽवगाहो धर्मादीनामिति व्यवहार-नयादेशादुक्तम्। परमार्थतस्तु सर्वद्रव्याणि स्वात्माधिकरणानि।'
अर्थात् लोकाकाश में धर्मादि का अवगाह है यह व्यवहारनय से कहा है परमार्थ से सब द्रव्य अपने ही आधार हैं।

३. अकलंक देव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में निर्देश-स्वामित्व आदि सूत्र की

व्याख्या में भी जीव का कथन निश्चय और व्यवहार नय से किया है। यथा निश्चय से जीव का साधन पारिणामिक भाव है जबकि व्यवहार से औपशमिकादि भाव हैं। निश्चय से जीव का अधिकरण उसके अपने प्रदेश हैं और व्यवहार से शरीरादि हैं।

'असंख्येया: प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्' सूत्र की व्याख्या में कहा है—संसारी जीव व्यवहार नय ने सावयव है। शुद्धनय से तो आत्मा अप्रदेशी है।

४. आचार्य विद्यानंद ने अपने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में प्रथम सूत्र की व्याख्या में कहा है—'सयोगकेवली से लेकर अयोगकेवली के अन्तिम समय पर्यन्त रत्नत्रय एक ही है, यह हमें अनिष्ट नहीं है, व्यवहार नय के अनुरोध से इष्ट ही है। किन्तु निश्चय नय का आश्रय लेने पर तो जिसके अनन्तर ही मोक्ष होता है वही अयोगकेवली का अन्तिम समयवर्ती रत्नत्रय मोक्ष का मुख्य कारण है।'

इस तरह सिद्धान्त-ग्रन्थों में भी निश्चय और व्यवहार नयों से तत्त्व का प्रतिपादन पाया जाता है। और उससे भी निश्चय और व्यवहार का अन्तर स्पष्ट होने के साथ निश्चय की यथार्थता और व्यवहार की अयथार्थता पर भी प्रकाश पड़ता है।

यहाँ 'समयसार' से भी निश्चय और व्यवहार की कथनी को दिया जाता है—

१. व्यवहार नय के अनुसार जीव और शरीर एक हैं। किन्तु निश्चय नय से जीव और शरीर कभी भी एक नहीं हैं। (गा. २७)।

२. आगम में जो जीव के वर्णादि, रागद्वेषादि, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यवसाय, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान आदि कहे हैं वे सब व्यवहार से कहे हैं, निश्चय से वे जीव के नहीं हैं।

३. मोहनीय कर्म के उदय से जो गुणस्थान कहे गये हैं वे जीव के कैसे हो सकते हैं? वे तो अचेतन हैं। (गाथा ६८)

४. निश्चयनय से आत्मा आत्मा का ही कर्ता है, उसी का भोक्ता है। (गाथा ८३) जबकि व्यवहारनय से आत्मा पुद्गलकर्म का कर्ता है, उसी का भोक्ता है। (गाथा ८४)

५. व्यवहारनय से आत्मा घट, पट, रथ आदि का तथा कर्मों का कर्ता है। (गाथा ९८) यदि वह पर का कर्ता होता तो नियम से तन्मय होता। किन्तु यत: वह तन्मय नहीं है अत: पर का कर्ता भी नहीं है। (गाथा ९९)

६. जैसे सैनिकों के युद्ध करने पर, राजा ने युद्ध किया—यह उपचार से कहा जाता है, वैसे ही जीव ने पुद्गलकर्म किये—ऐसा उपचार (व्यवहार) से ही कहा जाता है। (गाथा १०६)

७. व्यवहारनय से कर्म जीव के प्रदेशों से बद्ध और स्पृष्ट हैं। शुद्धनय से कर्म जीव से अबद्ध और अस्पृष्ट हैं।

८. व्यवहारनय से पुण्य-पाप में भेद है, निश्चयनय से दोनों में भेद नहीं है।

९. इस प्रकार निश्चयनय के द्वारा व्यवहार का प्रतिषेध किया है (क्योंकि निश्चयनय शुद्ध-आत्मद्रव्याश्रित है और व्यवहारनय पर-द्रव्याश्रित है।) निश्चयनय का आश्रय करनेवाले मुनि ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। (गाथा २७२)

१०. वस्तु-स्वरूप को न जानने वाले व्यवहार के वचनों को सुनकर परद्रव्य को अपना कहते हैं। किन्तु निश्चय से परमाणु मात्र भी अपना नहीं है। (गाथा ३२४)

'समयसार' के उक्त उद्धरणों से व्यवहारनय की स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवहार को अभूतार्थ क्यों कहा है। निश्चयनय को भूतार्थ या परमार्थ कहने से ही व्यवहारनय की अभूतार्थता या अपरमार्थता ध्वनित होती है। 'समयसार' (गाथा १०५) में ही व्यवहारनय को उपचार मात्र कहा है।

व्यवहारनय एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता कहता है और ऐसा कहना मिथ्या है। इसी तरह एक द्रव्य को दूसरे का बताना भी मिथ्या है। इसी तरह कार्य को सर्वथा निमित्ताधीन कहना भी मिथ्या है। इसी से व्यवहारनय को अभूतार्थ तथा हेय कहा है किन्तु वह न सर्वथा मिथ्या है और न सर्वथा हेय है।

व्यवहारनय की कथंचित् सत्यता और उपादेयता

'समयसार' गाथा ४६ की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र जी ने कहा है—ये सब अध्यवसान आदि भावजीव हैं, ऐसा जो भगवान् सर्वज्ञदेव ने कहा है वह अभूतार्थ भी व्यवहारनय का ही प्रदर्शन है। जैसे म्लेच्छों को म्लेच्छ भाषा उपयोगी होती है उसी प्रकार व्यवहारनय अपरमार्थ होने पर भी परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहारीजनों के लिए तीर्थ की प्रवृत्ति के निमित्त उपयोगी होता है। अतः उसका प्रदर्शन उचित ही है। उसके बिना परमार्थ से, शरीर से जीव का भेद दिखलाने से, त्रस और स्थावर जीवों का निःशंक होकर धूल की तरह मर्दन करने से भी हिंसा का अभाव मानने पर बन्ध का ही अभाव हो जाता है। तथा परमार्थ से राग-द्वेष-मोह से जीव का भेद बतलाने पर मोक्ष के उपायों की आवश्यकता न रहने से मोक्ष का भी अभाव होता है!

'समयसार' गाथा ३६५ की टीका में जयसेनाचार्य ने कहा भी है कि जैसे निश्चय की अपेक्षा व्यवहार मिथ्या है उस तरह व्यवहार की अपेक्षा व्यवहार मिथ्या नहीं है। यदि व्यवहार की अपेक्षा भी व्यवहार मिथ्या हो तो समस्त लोकव्यवहार ही

सर्वथा मिथ्या हो जायेगा।

तथापि मोक्षमार्ग में साधकतम निश्चयनय ही है क्योंकि वह शुद्धआत्म का द्योतक है। अशुद्ध का द्योतक होने से व्यवहारनय साधकतम नहीं है। धवला पु० १, पृ० ६३ में शंका की गयी है कि सर्वत्र निश्चयनय का आश्रय लेकर कथन करने के बाद यहाँ व्यवहारनय का आलम्बन क्यों किया है। इसके समाधान में कहा गया है कि मन्दबुद्धिजनों के अनुग्रह के लिए ऐसा किया गया है।

'समयसार' गाथा ८ में ही कहा है कि व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश देना शक्य नहीं है। गाथा १२ में कहा है कि जो जीव अपरम भाव से स्थित हैं वे व्यवहारनय से उपदेश करने के योग्य हैं। इसकी टीका में आचार्य जयसेन ने अपरम भाव की व्याख्या करते हुए लिखा है—जो पुरुष अशुद्ध अर्थात् असंयत सम्यग्दृष्टि अथवा श्रावक की अपेक्षा सराग सम्यग्दृष्टि रूप शुभोपयोग में और प्रमत्त संयत, अप्रमत्त संयत की अपेक्षा भेद रत्नत्रय में स्थित हैं उनको व्यवहारनय प्रयोजवान् है। जैसे धर्म और धर्मी में स्वभाव से अभेद है फिर भी व्यवहार से भेद करके कहा जाता है कि आत्मा में दर्शन-ज्ञान-चरित्र है। उसके बिना मन्दबुद्धि व्यवहारी आत्मा को नही समझ सकता।

दोनों का समन्वय

निश्चयनय की उपादेयता के कारण इस प्रकार कहे हैं—

१. निश्चयनय के आश्रय से ही सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। (समयसार गाथा १३)

२. निश्चयनय का आश्रय लेने वाले मुनि ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं। (समयसार, गाथा २७२)

३. 'समयसारकलश' (१२२) में कहा है—कहने का तात्पर्य इतना ही है कि शुद्धनय हेय नहीं है, क्योंकि उसके त्यागने पर बन्ध होता है और न त्यागने पर बन्ध नही होता।

४. श्रुतभवनदीपक 'नयचक्र' में कहा है—निश्चयनय एकत्व को प्राप्त कराकर ज्ञानचेतना में स्थापित करके, परमानन्द को उत्पन्न करता है और वीतराग बनाकर स्वयं निवर्तमान होकर (निश्चयनयावलम्बी योगी को) नयपक्षातिक्रान्त करता है इसलिए पूज्यतम है।

और भी कहा है—जैसे सम्यक् व्यवहार से मिथ्या व्यवहार चला जाता है वैसे ही निश्चय से व्यवहार का विकल्प भी चला जाता है। तथा जैसे निश्चय से व्यवहार का विकल्प चला जाता है उसी प्रकार स्व में स्थित भाव से एकत्व का विकल्प भी चला जाता है। इस प्रकार जो जीव का अपने स्वभाव में स्थित होना है वही नयपक्षातिक्रान्तता है।

अतः सबसे भिन्न आत्मा का दर्शन करने वालों को व्यवहारनय का अनुसरण नहीं करना चाहिए। लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिए कि—

१. जो नीचे की भूमिका में स्थित हैं तथा मन्दबुद्धि हैं उनके लिए व्यवहार-नय उपयोगी है। २. व्यवहार के बिना निश्चय का प्रतिपादन अशक्य है। ३. व्यवहार के बिना जीव की अशुद्ध दशा का बोध नहीं हो सकता।

दोनों में विरोध

निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों परस्पर में विरोधी हैं। यथा—

१. निश्चय भूतार्थ है, व्यवहार अभूतार्थ है।

२. निश्चयनय सम्यक्त्व का कारण है। व्यवहारनय का आश्रय मिथ्यात्व का कारण है।

३. निश्चयनय उपादेय है, व्यवहारनय हेय है।

४. निश्चयनय अभेद को विषय करता है, व्यवहारनय भेद को विषय करता है।

५. निश्चयनय स्वाश्रित है, व्यवहारनय पराश्रित है।

६. निश्चयनय प्रतिषेधक है, व्यवहारनय प्रतिषेध्य है। निश्चय साध्य है, व्यवहार साधन है।

निश्चय-व्यवहार में साध्य-साधन भाव

'पंचास्तिकाय' गाथा १५९ की टीका के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—इस प्रकार शुद्ध द्रव्य के आश्रित और जिसमें साध्य और साधन भाव का भेद नहीं होता उस निश्चयनय की अपेक्षा मोक्षमार्ग का कथन है। इससे पहले गाथा १०७ में स्व और परहेतुक पर्याय के आश्रित भिन्न साध्य-साधन भाववाले व्यवहारनय की अपेक्षा मोक्षमार्ग का कथन किया है। ऐसा करना परस्पर विरोधी नहीं है, क्योंकि सुवर्ण और सुवर्णपाषाण की तरह निश्चय और व्यवहार में साध्य-साधनभाव है। इसीलिए जिनेन्द्र का तीर्थप्रवर्तन—धर्मोपदेश दोनों नयों के अधीन है।

आशय यह है कि जैसे व्यवहार से सुवर्णपाषाण को स्वर्ण का साधन कहा जाता है, वैसे ही व्यवहारनय से व्यवहार मोक्षमार्ग निश्चय मोक्षमार्ग का साधन कहा जाता है; क्योंकि वीतराग सर्वज्ञ के द्वारा कहे जीवादि पदार्थों के विषय में सम्यक्श्रद्धान, ज्ञान तथा प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थान के योग्य पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, छह आवश्यक आदि—ये सब स्व-परहेतुक हैं। अतः व्यवहारनय के विषयभूत होने से इसे व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं। यह व्यवहार मोक्षमार्ग निर्विकल्प दशा में वर्तते हुए मुनि के शुद्धात्म श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान

का साधन है।

श्रुतभवनदीपक 'नयचक्र' में यह प्रश्न किया है कि निश्चय और व्यवहार में कथंचित् भेद क्यों नहीं किया ? इसके उत्तर में कहा है कि ऐसा करने से उसमें साध्य-साधनभाव नहीं बनता। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—निश्चय के अविरोधी व्यवहार और सम्यक् व्यवहार से सिद्ध निश्चय ही परमार्थ है। अतः परमार्थ से मूढ़ व्यवहारावलम्बियों के, व्यवहार से मूढ़ निश्चयवादियों के, दोनों से मूढ़ किन्तु दोनों को मानने वालों के तथा अनुभय मूढ़ अनुभय अवलम्बियों के मोह को दूर करने के लिए निश्चय और व्यवहार से आलिङ्गित करके वस्तु का निर्णय करना चाहिए। इस प्रकार कथंचित् भेद के होते हुए ही परस्पर में अविनाभाव रूप से निश्चय और व्यवहार की निराकुल सिद्धि होती है। अन्यथा दोनों नयाभास होते हैं। अतः व्यवहार की प्रसिद्धि से ही निश्चय की प्रसिद्धि होती है, अन्यथा नहीं होती।

पूज्यतर और पूज्यतम

उसी 'नयचक्र' में यह भी प्रश्न किया गया है—ऐसी स्थिति में तो दोनों ही नय समान रूप से पूज्य हुए ? उत्तर में कहा है—ऐसा नहीं है। यद्यपि दोनों नय पूज्य हैं किन्तु व्यवहारनय पूज्यतर है और निश्चयनय पूज्यतम है।

निश्चय और व्यवहारनयों का स्वरूप बतलाकर आगे कुछ आगमिक विषयों में उन्हें प्रदर्शित किया जाता है—

'तत्त्वानुशासन' (श्लोक २९) में निश्चय और व्यवहार का स्वरूप अन्य प्रकार से कहा है। निश्चयनय अभिन्न कर्ता-कर्मादिविषयक होता है और व्यवहारनय भिन्न कर्ता-कर्मादिविषयक होता है।

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छह कारक होते हैं। जहाँ पर के निमित्त से कार्य की सिद्धि कही जाती है वहाँ व्यवहारकारक होते हैं और जहाँ अपने ही उपादान कारण से कार्य की सिद्धि होती है वहाँ निश्चय कारक होता है।

जैसे 'प्रवचनसार' गाथा १६ में आत्मा को स्वयंभू कहा है। उसकी उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—'शुद्धोपयोग से जन्य शुद्धात्मस्वभाव का लाभ कारकान्तर से निरपेक्ष होने से अत्यन्त आत्माधीन है—यह प्रकट करते हैं। टीका में कहा है—यह आत्मा शुद्धोपयोग की भावना के महात्म्य से समस्त घातिया कर्मों को नष्ट कर शुद्ध अनन्तशक्ति रूप चित्स्वभाव को प्राप्त करता है, अतः शुद्ध ज्ञायक स्वभावरूप से स्वतन्त्र होने से स्वयं ही कर्ता है, और जिस शुद्ध ज्ञायक स्वभाव का कर्ता है वह उसका कर्म होने से कर्म भी स्वयं ही है। उसमें साधकतम उसी का शुद्ध अनन्तशक्ति ज्ञान स्वभाव होने से स्वयं ही करण

है। अपने शुद्ध अनन्तशक्ति ज्ञानस्वभाव का स्वयं ही आश्रय होने से स्वयं ही सम्प्रदान है। जब यह आत्मा शुद्ध अनन्तशक्ति ज्ञान रूप से परिणमन करता है उस समय पूर्व के क्षायोपशमिक ज्ञान का विनाश होने पर भी स्वाभाविक ज्ञान-स्वभाव रूप से ध्रुव होने से स्वयं ही अपादान है और शुद्ध अनन्तशक्ति ज्ञान स्वभाव का आधारभूत होने से स्वयं ही अधिकरण है। इस प्रकार स्वयं ही षट्-कारक रूप होने से स्वयंभू कहा जाता है। 'समयसार' गाथा २९७ की टीका में आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा कैसे ग्रहण करना चाहिए, इसके उत्तर में कहा है—'मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिए ही, मुझसे ही, मुझमें ही मैं अपने को ग्रहण करता हूँ। 'पञ्चास्तिकाय' गाथा ४६ की टीका में भिन्न षट्कारक और अभिन्न षट्कारक के उदाहरण इस प्रकार दिये हैं—

देवदत्त (कर्ता), फल (कर्म) अंकुश के द्वारा (करण) धनदत्त के लिए (सम्प्रदान) वृक्ष से (अपादान) वाटिका में (अधिकरण) तोड़ता है। लेकिन यहाँ षट्कारक भिन्न हैं। मिट्टी (कर्ता) घटपने को (कर्म) स्वयं स्व के द्वारा, अपने लिए, अपने से, अपने में करती है। इसी प्रकार आत्मा आत्मा को, आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा से, आत्मा में जानती है। यह अभिन्न षट्कारक है। यह बतलाता है कि आत्मा स्वयं ही षट्कारक रूप से वर्तता हुआ कारकान्तर की अपेक्षा नहीं करता। अत: निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकत्व सम्बन्ध नहीं है। इसलिए शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति के लिए बाह्य सामग्री की खोज में व्याकुल रहना व्यर्थ है।

'प्रवचनसार' (२/३४) में कहा है—जो इस प्रकार कर्ता, कर्म, करण, और कर्मफल आत्मा ही है ऐसा निश्चय करके परद्रव्य रूप परिणमन नहीं करता वही परद्रव्य से सम्पर्क को रोककर और पर्यायों को द्रव्य में लीन करके शुद्ध आत्मा को प्राप्त करता है।

'परमात्मप्रकाश' की टीका में कहा है—जब तक कर्ता आत्मा, कर्मरूप आत्मा को, करणरूप आत्मा के द्वारा, आत्मा के निमित्त, आत्मा से, आत्मा में स्थित होकर नहीं जानता, तब तक परमात्मा को प्राप्त नहीं करता।

इस प्रकार निश्चय से कर्ता, कर्म आदि में अभेद है। 'समयसारकलश' ५१ में कहा है—जो परिणमन करता है वह कर्ता है। उसका जो परिणमन है वह कर्म है, और, जो परिणति है वह क्रिया है। ये तीनों वस्तुरूप से भिन्न नहीं हैं।

सिद्धान्त-शास्त्रों में जीव को पौद्गलिक कर्मों का भोक्ता और पौद्गलिक कर्मों का कर्ता कहा है। ऐसा कथन व्यवहारनय से है क्योंकि जीव और पुद्गल दोनों दो द्रव्य हैं और एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता-भोक्ता व्यवहार से ही कहा जाता है। इस विषय में 'पञ्चास्तिकाय' में जो कुछ कहा गया है उसे नीचे दिया जाता है क्योंकि उसमें व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों को स्पष्ट किया है।

गाथा ५८ की टीका में कहा है—द्रव्यकर्म के (निमित्त) विना जीव के उदय,

उपशम, क्षय और क्षयोपशम नहीं होते। इसलिए क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और औदयिक भावों को कर्मकृत मानना चाहिए। पारिणामिक भाव तो निरुपाधि अनादि-निधन होने से स्वाभाविक नहीं है। क्षायिकभाव स्वभाव की व्यक्ति रूप होने से यद्यपि अनन्त है तथापि कर्म के क्षय से उत्पन्न होने से सादि है अत: उसे कर्मकृत कहा है। औपशमिक तो कर्मों का उपशम होने पर उत्पन्न होने से और कर्मों का उपशम न होने पर उत्पन्न न होने से कर्मकृत ही है। अथवा उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम रूप चारों अवस्थाएँ द्रव्यकर्मों की ही हैं, परिणामस्वभावरूप जीव की नहीं। इसलिए कर्मों के उदय आदि से होने वाले आत्मा के भावों को निमित्तमात्रभूत उस प्रकार की अवस्था रूप से स्वयं परिणमन करने से द्रव्यकर्म भी आत्मा के भावों का कर्ता कहलाता है।

इस प्रकार कर्म को जीवभाव का कर्ता कहने पर यह शंका की गयी कि यदि औदयिक आदि रूप जीव का भाव कर्म के द्वारा किया जाता है तो जीव उसका कर्ता नहीं होता। और, जीव का अकर्तापना इष्ट नहीं है अत: पारिशेप्य से जीव द्रव्यकर्म का कर्ता प्राप्त होता है। किन्तु वह कैसे सम्भव हो सकता है; क्योंकि निश्चयनय से आत्मा अपने भाव को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं करता।

इसके समाधान में सिद्धान्त पक्ष उपस्थित करते हुए कहा गया है—यह कि व्यवहार से निमित्तमात्र होने के कारण कर्म जीव के भाव का कर्ता है। और, जीव का भाव कर्म का कर्ता है। किन्तु निश्चयनय से न कर्म जीव के भावों का कर्ता है और न जीव का भाव कर्म का कर्ता है। तथा वे दोनों कर्ता के बिना नहीं होते अत: निश्चय से जीव के परिणामों का कर्ता जीव है और कर्मपरिणामों का कर्ता कर्म है।

इस प्रकार निश्चयनय से अभिन्न कारक होने से जीव और कर्म को स्वयं अपने स्वरूप का कर्ता कहा है।

इस पर पुन: शंका उपस्थित की गयी कि जब कर्म और जीव परस्पर में एक दूसरे के कर्ता नहीं है तो अन्य का दिया हुआ फल अन्य भोगे यह दूषण आता है। इसके समाधान में कहा है—आत्मा संसार अवस्था में अपने पारिणामिक चैतन्य स्वभाव को छोड़े बिना ही अनादि-बन्धन से बँधा हुआ होने से अनादि मोह, राग-द्वेष से स्निग्ध अविशुद्ध भावरूप से परिणमन करता है। जब जहाँ वह मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप अपने भाव करता है तब तहाँ उस भाव को निमित्त बनाकर जीव के प्रदेशों में स्वभाव से ही परस्पर अवगाहन रूप से प्रविष्ट पुद्गल कर्मपने को प्राप्त होते हैं। जब वे परस्पर में पृथक् होते हैं तब उदय में आकर खिरनेवाले पुद्गलकर्म निश्चय से सुख-दु:खरूप आत्मपरिणामों के और व्यवहार से इष्ट-अनिष्ट विषयों के निमित्तमात्र होने से सुख-दु:खरूप फल को देते हैं। और, जीव निश्चय से निमित्तमात्रभूत द्रव्यकर्म से निष्पन्न होनेवाले सुख-दु:ख

रूप आत्मपरिणामों का तथा व्यवहार से द्रव्यकर्म के उदय से प्राप्त इष्ट-अनिष्ट विषयों का भोक्ता होने से उस प्रकार का फल भोगता है।

अतः यह निश्चित हुआ कि निश्चय से कर्म अपना कर्ता है और व्यवहार से जीव के भाव का कर्ता है। जीव भी निश्चय से अपने भाव का कर्ता है और व्यवहार से कर्म का कर्ता है। किन्तु जैसे दोनों नयों से कर्म कर्ता है वैसे एक भी नय से भोक्ता नहीं है क्योंकि जड़ कर्म में चैतन्यपूर्वक अनुभूति का अभाव है। अतः चेतन होने के कारण केवल जीव ही कर्मफलभूत कथंचित् आत्मा के सुख-दुःख परिणामों का और कथंचित् इष्ट-अनिष्ट विषयों का भोक्ता प्रसिद्ध है।

इस प्रकार निश्चय से कर्ता-कर्मभाव एक ही द्रव्य में होता है, क्योंकि निश्चय से प्रत्येक द्रव्य अपने ही परिणाम का कर्ता है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणामों का कर्ता नहीं हो सकता। हाँ, एक द्रव्य दूसरे का निमित्त हो सकता है। जैसा पूर्व में कहा है, कर्म जीवभाव का निमित्त है और जीव का भाव कर्म में निमित्त है। एक को दूसरे का कर्ता कहना तो व्यवहार या उपचारमात्र है। जैसे जीव के निमित्तमात्र होने पर कर्मबन्धरूप परिणाम को होता जानकर जीव ने कर्म किया, ऐसा उपचारमात्र से कहा जाता है।

५. कारण-विचार

'न्यायशास्त्र' में कार्यकारणभाव को अन्वय-व्यतिरेकगम्य कहा है। अर्थात् जो जिसके होने पर होता है और नहीं होने पर नहीं होता है, या जिसके बिना जो नियम से नहीं होता वह उसका कारण व दूसरा कार्य होता है। इस कारण के मुख्य भेद दो हैं—उपादान कारण और निमित्त कारण। जो द्रव्य स्वयं कार्यरूप परिणमता है वह उपादान कारण होता है और उसमें जो सहायक होता है वह निमित्तकारण होता है। उपादान कारण का लक्षण दर्शनशास्त्र में इस प्रकार कहा है—

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत् पौर्वापर्येण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम्॥

अर्थात् जो पौर्वापर्यरूप से अपने आत्मरूप को त्यागता भी है और नहीं भी त्यागता, तीनों कालों में उस द्रव्य को उपादान कारण कहते हैं। 'स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कार्य-कारणभाव का स्वरूप इस प्रकार कहा है—

पुव्वपरिणामजुत्तं कारणभावेण वट्टदे दव्वं।
उत्तरपरिणामजुदं तं चिय कज्जं हवे णियमा॥२२२॥

अर्थात् पूर्व पर्याय से युक्त द्रव्य कारणभाव यानी उपादान कारण होता है। और, उत्तर पर्याय से युक्त वही द्रव्य कार्य होता है। इस तरह वस्तु के पूर्व और उत्तर परिणाम को लेकर तीनों ही कालों में प्रति समय कार्य-कारण भाव होता है।

आशय यह है कि वस्तु में प्रतिसमय उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होते हैं। वही वस्तु का लक्षण है। ऐसा होने से प्रतिसमय प्रत्येक द्रव्य में पूर्व पर्याय का विनाश और उत्तर पर्याय का उत्पाद होता है। अतः तीनों कालों में प्रत्येक द्रव्य में कारण-कार्य की परम्परा बनी रहती है। पूर्व पर्याय विशिष्ट जो द्रव्य अपनी उत्तर पर्याय क

कारण होता है वही द्रव्य अपने पूर्व पर्याय विशिष्ट द्रव्य का कार्य होता है। इस तरह प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपना कारण और स्वयं ही अपना कार्य होता है। इस तरह निश्चय से कारण-कार्य में अभेद है। 'नयचक्र' में कहा भी है—

उप्पज्जंतो कज्जं कारणमप्पा णियं तु जणयंतो।
तम्हा इह ण विरुद्धं एकस्स व कारणं कज्जं ॥३६६॥

अर्थात् जो उत्पद्यमान है वह कार्य है और उसको उत्पन्न करनेवाला निजात्मा कारण है। अतः एक ही द्रव्य में कार्य-कारणभाव विरोध को प्राप्त नहीं होता।

'तत्त्वार्थवार्तिक' (पृ० ३७) में भी अकलंकदेव ने अनेकान्त की सिद्धि करते हुए कहा है—सभी दार्शनिक और लौकिक जन पूर्वकालभावी अवस्था को कारण और उत्तरकालभावी अवस्था को कार्य मानते हैं। इस प्रकार एक ही द्रव्य में कार्यशक्ति और कारणशक्ति के मानने में कोई विरोध नहीं है। अध्यात्म में भी मुक्तात्मा का जो मोक्षपर्याय रूप से उत्पाद है वही निश्चयरत्नत्रयात्मक निश्चयमोक्षमार्गपर्याय रूप से विनाश है। तथा वे दोनों मोक्षपर्याय और मोक्ष-मार्ग पर्याय कार्य-कारण रूप से भिन्न हैं किन्तु उन दोनों का आधारभूत परमात्मा द्रव्य एक ही है। 'समयसारकलश' (१५) में एक ही आत्मा को साध्य-साधक भाव या कार्य-कारणभाव रूप से दो कहा है अर्थात् वह कारण भी है और कार्य भी। उसी को कारण समयसार और कार्य समयसार कहते हैं।

द्रव्यस्वभावप्रकाशक 'नयचक्र' (गाथा ३६१-३६२) में कहा गया है—समय कारणरूप और कार्यरूप है। कार्य शुद्धस्वरूप है और उसका जो साधन है वह कारणरूप है। कर्मों के क्षय से शुद्ध जीव का स्वभाव कारण समयसार है और कर्मों का क्षय उस स्वभाव के ध्यान से होता है। इस तरह एक ही द्रव्य कारण भी होता है और कार्य भी होता है। यह कार्य-कारणभाव सर्वसम्मत है और निश्चयनय को भी अभिमत है। यहाँ हम उक्त नयचक्र की चूलिका में दिये गये कारण समयसार के विवेचन को दे देना उचित समझते हैं—

पराश्रित होते हुए भी उपादेय जो वाच्य-वाचकरूप पञ्चनमस्कार मन्त्र है वह कारण समयसार है और भाव नमस्काररूप कार्य समयसार है। उसके आधार से जो पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के भेद से चार प्रकार का धर्मध्यान होता है वह कारण समयसार है और उसके पश्चात् जो प्रथम शुक्लध्यान होता है वह कार्य समयसार है। उस प्रथम शुक्लध्यान के आश्रय से जो भेदज्ञान होता है वह कारण समयसार है। वह भेदज्ञान रूप कारण समयसार जिसका आधारभूत है वह स्वसंवेदन रूप कार्य समयसार है। इसी तरह अप्रमत्तगुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त प्रति समय कारण और कार्यरूप समयसार जानना। इस तरह पूर्वावस्था कारण और उत्तरावस्था कार्य है तथा जो पूर्वावस्था का कार्य है वही उत्तरावस्था का कारण है।

इस तरह एक ही द्रव्य में उपादानोपादेय भाव होता है, भिन्न में नहीं होता। आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' (५८) में कहा भी है—

'कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमाल्लक्षणात् पृथक् ।'

अर्थात् उपादान का पूर्वाकार रूप से विनाश ही कार्य की उत्पत्ति है क्योंकि दोनों का हेतु एक है। जो उपादान के क्षय से अन्य होता है उसका हेतु एक नहीं होता। जैसे तन्तु घट के अनुपादान हैं, उपादान नहीं हैं। उनका क्षय आग आदि भिन्न कारण से होता है। और, तन्तु का अनुपादेय—उपादेय नहीं—घट है उसके उत्पाद का कारण मिट्टी आदि है। किन्तु उपादान का क्षय और उपादेय का उत्पाद एक-हेतुक है। अतः उपादान का क्षय ही उपादेय का उत्पाद है—यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि कार्य की उत्पत्ति और कारण का विनाश एक-हेतुक है यह नियम सुप्रसिद्ध है। इसका यह मतलब नहीं है कि उत्पाद और विनाश में सर्वथा अभेद है क्योंकि उत्पाद और विनाश का लक्षण भिन्न होने से उनमें भेद है। इस तरह कारण और कार्य में कथंचित् भेद और कथंचित् अभेद होता है।

इसी प्रकार उपादान कारण के समान ही कार्य होता है क्योंकि उपादेय (कार्य) उपादान के अनुरूप होता है। किन्तु ऐसा भी एकान्त नहीं है। यदि ऐसा एकान्त नियम हो तो मिट्टी के पिण्ड से मिट्टी का पिण्ड ही उत्पन्न हो सकेगा, घट, घटी, सकोरा, लोटा आदि उत्पन्न नहीं हो सकेंगे। अतः घट अपने उपादान कारण मिट्टी के पिण्ड के कथंचित् सदृश और कथंचित् असदृश होता है।

उपादान की स्वतन्त्रता

जैन सिद्धान्त में, परिणमन वस्तु का स्वभाव है और स्वभाव दूसरे की अपेक्षा नहीं करता। 'प्रवचनसार' गाथा १६ की टीका में कहा है—ज्ञान और आनन्द आत्मा के स्वभाव हैं और स्वभाव पर की अपेक्षा नहीं करता। इसलिए इन्द्रियों के बिना भी आत्मा के ज्ञान और आनन्द होते हैं।

'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' (गाथा २१९) में कहा है—कालादिलब्धि से युक्त तथा नाना शक्तिवाले द्रव्यों को परिणमन करते हुए कौन रोक सकता है? 'प्रवचनसार' गाथा ४४ की टीका में कहा है—केवली भगवान् के बिना प्रयत्न के ही उस प्रकार योग्यता का सद्भाव होने से खड़ा रहना, बैठना, विहार और धर्मदेशना स्वभाव से ही होते हैं।

निमित्त कारण

अब हम निमित्त कारण की ओर आते हैं जिसके सम्बन्ध में विवाद है। 'सर्वार्थसिद्धि' (१।२१) में प्रत्यय कारण और निमित्त को एकार्थक कहा है।

निमित्त और कारण को एकार्थक कहने से ऐसा प्रतीत होता है कि लोक में और शास्त्र में कारण शब्द से निमित्त की ही प्रसिद्धि रही है। यद्यपि उपादान ही कार्य रूप परिणत होता है तथापि लोक में जिनकी सहायता से वह कार्यरूप परिणत होता है उनको ही कारण की संज्ञा दी गई प्रतीत होती है। यह इसलिए कि लोक में निमित्त के बिना कार्य होता नहीं देखा जाता। यह ठीक है कि मिट्टी के बिना घड़ा नहीं बनता, किन्तु कुम्हार के बिना मिट्टी के होते हुए भी घड़ा नहीं बनता। यह सबको दिखायी देता है अतः लोगों की दृष्टि में कारण शब्द निमित्त का पर्याय-वाची मान लिया गया और शास्त्र में भी वैसा ही व्यवहार चल पडा। फलतः लोकदृष्टि ही निमित्ताधीन हो गयी। अब यदि कोई उपादान कारण पर जोर देता है तो विद्वान भी निमित्तकारण पर ही जोर देते देखे जाते हैं और कार्य की निष्पत्ति में दोनों को समान भागी मानते हैं। इतना ही नहीं, उपादान के परिणमन को भी निमित्ताधीन मान बैठते हैं। अतः आगम में निमित्त की क्या स्थिति है, यह विविध शास्त्रीय कथनों के द्वारा यहाँ बतलाया जाता है—

स्वनिमित्त—यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक द्रव्य में प्रति समय जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप परिणमन होता है उसे स्वनिमित्तक और परनिमित्तक कहा है (सर्वार्थसिद्धि ५।७)। इस तरह निमित्त के दो भेद हो जाते हैं—स्व और पर। इससे प्रकट होता है कि निमित्त केवल पर ही नहीं होता, स्व भी होता है। वह स्वनिमित्त है द्रव्य की अन्तरंग शक्ति। जैसे धर्मादि निष्क्रिय द्रव्यों में वर्तमान अगुरुलघु नामक गुणों के निमित्त से उत्पाद-व्यय सतत होता रहता है।

'आप्तमीमांसा' (९९) में स्वामी समन्तभद्र ने संसार को कर्मबन्धानुरूप कहा है। इस पर शका की गई कि यदि ऐसा है तो किन्हीं की मुक्ति और किन्हीं का संसार कैसे बनेगा; क्योंकि संसार का निमित्त कर्मबन्ध है और वह सभी जीवों के है, तो उत्तर में कहा गया कि जीवों में कर्मबन्ध रूप निमित्त के समान होते हुए भी कुछ जीवों में शुद्धि नामक (भव्यत्व) शक्ति होती है और कुछ में अशुद्धि नामक (अभव्यत्व) शक्ति होती है। उनमें से भव्यजीव की शुद्धि शक्ति की व्यक्ति सादि है। ऐसा क्यों है? ऐसा तर्क वस्तुस्वभाव में नहीं होता, क्योंकि वस्तुस्वभाव तर्क से परे है।

परनिमित्त—निमित्त की चर्चा में यह उल्लेनीय है कि छह द्रव्यों में से चार द्रव्य केवल निमित्त रूप हैं। धर्मद्रव्य जीवों, पुद्गलों के चलने में निमित्त है और अधर्मद्रव्य उनके ठहरने में निमित्त है। आकाशद्रव्य सबके अवगाह में निमित्त है और कालद्रव्य सबके परिणमन में निमित्त है। इनका अन्य कुछ काम नहीं है। यद्यपि चलने और ठहरने की शक्ति जीवों और पुद्गलों में स्वाभाविक है। इसी तरह अवगाह शक्ति और परिणमन शक्ति भी सब में स्वाभाविक है, परन्तु

परनिमित्त भी आवश्यक है उसके बिना वह स्वाभाविक शक्ति भी व्यक्त नहीं होती।

अध्यात्म के प्रवर्तक आचार्य कुन्दकुन्द ने भी अपने 'पंचास्तिकाय' में धर्मद्रव्य को गमन में अनुग्रह करनेवाला और अधर्मद्रव्य को स्थितिक्रिया में पृथ्वी की तरह कारण कहा है। आगे (गाथा ८९ में) यह भी स्पष्ट कर दिया है कि वे अपने परिणाम से ही चलते और ठहरते हैं। धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य उन्हें चलाते और ठहराते नहीं हैं। उसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि वे मुख्य हेतु नहीं हैं, व्यवहारनय से स्थापित उदासीन हेतु हैं। निश्चय से तो गति-स्थितिमान पदार्थ स्वभाव से ही गति-स्थिति करते हैं। इस तरह इन दोनों अध्यात्मदर्शियों ने निश्चय और व्यवहार दोनों ही कथनों को अपनाया है।

जैसे आचार्य कुन्दकुन्द ने मछली के चलने में निमित्त जल को अनुगृहकर कहा है वैसे ही 'तत्त्वार्थसूत्र' में उमास्वामी ने उसे उपगृह या उपकार शब्द से कहा है। टीकाकार पूज्यपाद स्वामी ने भी 'निष्क्रियाणि' (५।७) सूत्र की व्याख्या में उन्हें 'बलाधान निमित्त' कहा है और अकलंकदेव ने 'तत्त्वार्थवार्तिक' (५।१७।१६) में लिखा है 'उपकारो बलाधानं अवलम्बनम् इत्यनर्थान्तरम्।' अर्थात् उपकार, बलाधान, अवलम्बन ये सब एकार्थक हैं।

'तत्त्वार्थवार्तिक' (५।१७।२४) में ही तीन दृष्टान्त दिये हैं—जैसे चलने में समर्थ आलसी व्यक्ति को लाठी सहायक होती है किन्तु उसके गमन की करनेवाली नहीं होती। यदि चलने में असमर्थ को भी चला सकती हो तो मूर्छित और सोते व्यक्ति भी लाठी के सम्बन्ध से चलने लगें। अथवा जैसे स्वयं देखने में समर्थ नेत्र का दीपक उपकारक होता है किन्तु दीपक नेत्र के देखने की शक्ति का कर्ता नहीं है। यदि देखने में असमर्थ की भी दर्शनशक्ति का कर्ता हो तो मूर्छित, सुषुप्त और जन्मान्धों को भी बाह्य वस्तु का दर्शन करा देगा। उसी प्रकार स्वयं ही गतिरूप और स्थिति रूप परिणमन करनेवाले जीवों और पुद्गलों को धर्म-अधर्म भी उपकारी हैं, गति-स्थिति के कर्ता नहीं हैं।

उपादान और निमित्तों की प्रधानता

अकलंकदेव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' में ही एक स्थान पर उपादान की प्रधानता से कथन किया तो दूसरे स्थान पर निमित्तों की प्रधानता से भी कथन किया है। वह लिखते हैं—'मिट्टी के स्वयं घट होने रूप परिणाम के अभिमुख होने पर दण्ड, चक्र और कुम्हार का प्रयत्न आदि निमित्त मात्र होता है। क्योंकि दण्ड आदि निमित्तों के होने पर भी यदि मिट्टी कंकर आदि से भरी हो तो स्वयं घट रूप परिणाम के अभिमुख होने से घट रूप नहीं होती। अतः मिट्टी ही बाह्य दण्डादि

निमित्तों की अपेक्षापूर्वक अभ्यंतर में घट परिणाम के अभिमुख होते हुए घट रूप होती है, दण्डादि घट रूप नहीं होते। अतः दण्डादि निमित्तमात्र हैं। (१.२०४)

इस कथन में उपादान की मुख्यता और निमित्त की गौणता बतलाई है। तथा (५/१७/३१ में)कार्य को अनेक उपकरण साध्य बतलाते हुए हुए कहा है—'जैसे मिट्टी घट परिणाम रूप होने के लिए अभ्यन्तर में सामर्थ्य होते हुए बाह्य कुम्भकार, दण्ड, चक्र, सूत्र, जल, काल, आकाश आदि उपकरणों की अपेक्षा पूर्वक घटपर्याय रूप से प्रकट होती है। अकेली मिट्टी कुम्भकार आदि बाह्य साधनों के मिले बिना घटरूप से होने में समर्थ नहीं है।'

यहाँ उपादान कारण की सामर्थ्य स्वीकार करते हुए भी उसकी अभिव्यक्ति के लिए बाह्य निमित्तों पर जोर दिया है।

इसी उदाहरण को 'समयसार' (गाथा ८४) की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इस प्रकार उपस्थित किया है—

'अन्तर्व्याप्यव्यापक भाव से मिट्टी घट को करती है और मिट्टी ही भाव्य-भावक भाव से घट को भोगती है। तथा कुम्हार बाह्य व्याप्यव्यापक भाव से घट की उत्पत्ति के अनुकूल व्यापार करता है और भाव्य-भावक भाव से घड़े में रखे पानी को पीकर तृप्ति का अनुभव करता है। इससे लोगों में अनादि से यह व्यवहार चला आता है कि कुम्भकार घट का कर्ता और भोक्ता है।' यहाँ उपादान और निमित्त की यथार्थ स्थिति का चित्रण है। जो सब अवस्थाओं में व्याप्त हो वह व्यापक है और अवस्थाएँ व्याप्य हैं। जैसे मिट्टी, घट, कपाल आदि सब अवस्थाओं में व्याप्त होने से व्यापक है और घट आदि अवस्थाएँ व्याप्य हैं। यह अन्तर्व्याप्य-व्यापकभाव तत्स्वरूप में ही होता है, अतत्स्वरूप में नहीं। कुम्भकार के साथ घट का इस प्रकार अन्तर्व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध नहीं है, बहिर्व्याप्य-व्यापकभाव है। क्योंकि कुम्भकार मिट्टी की तरह घट अवस्था में नहीं रहता है। यही उपादान कारण और निमित्तकारण में सबसे बड़ा भेद है। और, अन्तर्व्याप्य-व्यापकभाव के अभाव में कुम्भकार को घट का कर्ता नहीं कहा जा सकता। कहा है—

> व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि।
> व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृ-कर्मस्थितिः॥
>
> 'समयसारकलश' (४६)

अध्यात्म में निमित्तनैमित्तिकभाव का निषेध नहीं है

अध्यात्म का मूल लक्ष्य है संसार में जीव और कर्म के यथार्थ सम्बन्ध का विवेचन। लोगों में जैसे यह व्यवहार प्रचलित है कि कुम्भकार घट का कर्ता और

भोक्ता है वैसे ही यह व्यवहार भी रूढ़ है कि जीव पुद्गलों को कर्म रूप से परिणमाता है और कर्म भी जीव को अपने रूप परिणमाते हैं। उसी भ्रम को दूर करने के लिए 'समयसार' का कर्ता-कर्म अधिकार है। वह निमित्तनैमित्तिकभाव को स्वीकार करता है—

गाथा ८०-८२ की उत्थानिका में कहा गया है—'जीव के परिणाम और पुद्गल के परिणाम मे परस्पर मे निमित्तमात्रपना है, कर्ता-कर्मभाव नहीं है। टीका मे कहा है—'क्योंकि जीव के परिणाम को निमित्त करके पुद्गल कर्मरूप से परिणमन करते हैं और पुद्गलकर्म को निमित्त करके जीव परिणमन करता है। इस प्रकार जीव के परिणाम और पुद्गल के परिणाम में परस्पर में हेतुत्व का स्थापन होने पर भी जीव और पुद्गल में परस्पर में व्याप्य-व्यापकभाव का अभाव होने से जीव का पुद्गल परिणामों के साथ और पुद्गलकर्मों का जीव के परिणामों के साथ कर्ता-कर्मभाव नहीं है। किन्तु निमित्त-नैमित्तिक भाव मात्र का निषेध नहीं है अत: परस्पर में निमित्त मात्र होने से ही दोनों के परिणाम होते है।'

आगे 'समयसार' गाथा ९८ आदि में कहा है—'व्यवहार से आत्मा घट, पट, रथ आदि द्रव्यों का कर्ता है। यदि वह पर द्रव्यों को करे तो नियम से तन्मय हो जाय। यतः वह तन्मय नहीं होता इसलिए वह कर्ता नही है। इससे स्पष्ट है कि उपादान रूप से पर के कर्तृत्व का निषेध है।

हाँ, आगे गाथा १०० में अवश्य कहा है कि निमित्तनैमित्तिकभाव से भी पर का कर्ता नहीं है, क्योंकि कुम्भकार अपने योग और उपयोगरूप व्यापार का कर्ता है और योग तथा उपयोग रूप व्यापार ही घटादि में निमित्तरूप से कर्ता है। योग आत्मा के प्रदेशों का चलन रूप व्यापार है और उपयोग आत्मा का विकल्प है। कदाचित् इनके करने से कुम्भकार को भी घट का कर्ता कह दिया जाता है। तथापि आत्मा परद्रव्य रूप कर्म का कर्ता नहीं है।

सारांश इतना ही है कि व्यवहारनय से ही निमित्त वस्तुभूत है, निश्चय से कल्पनामात्र है। यह बात अध्यात्म की ही नहीं है, दर्शनशास्त्र में भी यही मत मान्य है। 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' (१/७/१३) में आचार्य विद्यानन्द ने भी कहा है—'व्यवहारनय का आश्रय लेने पर कार्यकारणभाव पारमार्थिक ही है, काल्पनिक नहीं। किन्तु सग्रह और ऋजुसूत्रनय का आश्रय लेने पर किसी का किसी के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, केवल कल्पनामात्र सम्बन्ध है।' इस तरह अध्यात्म और दर्शन में कार्यकारणभाव को लेकर कोई मतभेद नहीं है। इसी प्रकरण में विद्यानन्द स्वामी ने कहा है—'अनेकान्तवादी कथंचित् तादात्म्य रूप में कार्य-कारणभाव स्वीकार करते है। कार्य और कारण द्रव्यरूप से एक होते हैं, जैसे मिट्टी रूप द्रव्य से कुशूल और घट कार्यकारण रूप से स्वीकार किये गए हैं। क्रम से होने वाली पूर्व पर्याय और उत्तर पर्याय में एक द्रव्य प्रत्यासत्ति होने से उपा-

दानोपादेयभाव कहा गया है। इस प्रकार का कार्यकारणभाव सिद्धान्तविरुद्ध नहीं है।'

इस पर शंका की गई कि सहकारी कारण (निमित्तकारण) के साथ कार्य का कार्यकारणभाव कैसे बनेगा, वहाँ तो एक द्रव्य प्रत्यासत्ति नहीं है ? इसके समाधान में कहा है कि निमित्तकारण के साथ कार्य की कालप्रत्यासत्ति है अर्थात् कार्य काल में वर्तमान रहने से उसे निमित्तकारण कहा जाता है। यह सहकारीपना कहीं क्षेत्रप्रत्यासत्ति और कहीं भावप्रत्यासत्ति के रूप में होता है। अतः कोई नियम नहीं है। निकटदेशवर्ती चक्षु को भी रूपज्ञान की उत्पत्ति में सहायक देखा जाता है। और, सुनार सडाँसी से सोने के आभूषण को पकड़कर घड़ता है तो असुवर्ण-स्वभाव संडासी भी सोने के कड़े की उत्पत्ति में सहकारी देखी जाती है।'

इस तरह दर्शनशास्त्र में भी निमित्त-नैमित्तिकभाव व्यवहार से ही माना गया है, निश्चय से नहीं। यही मत अध्यात्म का भी है। अतः जो निमित्त-नैमित्तकभाव को निश्चय से मानते हैं वह ठीक नहीं है। निश्चय से निमित्त-नैमित्तिक भाव है ही नही।

परमार्थ में निमित्त अकिंचित्कर

सूत्र १।२ की व्याख्या में 'तत्त्वार्थवार्तिक' में अकलंकदेव ने आत्मपरिणाम को ही श्रद्धान शब्द से वाच्य कहा है। इस पर यह शंका की गई कि सम्यक्त्व-मोहनीय नामक जो कर्मप्रकृति है उसे भी कहने में क्या हानि है ? इसके उत्तर में कहा है—आत्मा के परिणाम को ही मोक्ष का कारण कहा है, सम्यकत्व कर्म तो पौद्‌गलिक होने से परपर्याय है।

इस पर पुनः शंका की गई कि उत्पाद स्व और पर निमित्त से होता है। जैसे घट का उत्पाद मिट्टी के निमित्त से और दण्ड आदि के निमित्त से होता है। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति आत्मा के निमित्त से और सम्यक्त्व नामक कर्म-पुद्‌गल के निमित्त से होती है। अतः वह भी मोक्ष का कारण है।

इसके उत्तर में कहा है—बाह्य साधन तो उपकरण मात्र हैं। तथा यह जो दर्शनमोह नामक कर्म है यह आत्मा के गुण का घातक है। आत्मपरिणाम से उसकी शक्ति क्षीण हो जाने पर ही उसका नाम सम्यक्त्व कर्म होता है। अतः वह आत्म-परिणाम का प्रधान कारण नहीं है। आत्मा ही अपनी शक्ति से सम्यग्दर्शन रूप पर्याय से उत्पन्न होता है इसलिए उसी को मोक्ष का कारण मानना युक्त है। आत्मा का आभ्यन्तर सम्यक्त्व परिणाम छोड़ा नहीं जा सकता, इसलिए अहेय है। बाह्य सम्यक्त्व कर्म तो हेय है, उसके बिना ही क्षायिक सम्यक्त्व परिणाम होता है। तथा आत्मा का आभ्यन्तर सम्यग्दर्शन परिणाम प्रधाम है। उसके होने पर बाह्य उप-ग्राहक होता है। अतः बाह्य आभ्यन्तर का उपग्राहक होने से अप्रधान है। इसी तरह

आत्मपरिणाम मोक्ष का प्रत्यासन्न कारण है, क्योंकि मोक्ष तादात्म्य रूप से आत्मा में ही प्रकट होता है। सम्यक्त्व कर्म तो बहुत दूर है, उसका आत्मा के साथ तादात्म्य नहीं है। अतः अहेय होने से, प्रधान होने से, अतिनिकट सम्बन्ध होने से आत्मपरिणाम ही मोक्ष का कारण है।

उक्त चर्चा से भी निमित्त की स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

इसी से सम्बद्ध चर्चा पाँच पापों के द्वारा कर्मबन्ध की है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में प्रमत्त के योग से प्राणों के घात को हिंसा कहा है। उसकी टीका 'सर्वार्थसिद्धि' और 'तत्त्वार्थवार्तिक' दोनों में ही यह शंका की गई है कि दो विशेषण किसलिए हैं। उत्तर दिया है—जब प्रमत्त योग नहीं है और केवल प्राणघात हुआ है तब हिंसा नहीं है। उसके समर्थन में प्राचीन गाथा उद्धृत है। उसमें कहा है—'ईर्या समिति पूर्वक चलते हुए संयमी पुरुष के पैर उठाने पर उसके चलने के स्थान पर कोई क्षुद्र जन्तु आ गिरे और उसके पैर से कुचल कर मर जाए तो उस संयमी पुरुष को उस जीव के वध का किंचित् भी पापबन्ध नहीं होता, ऐसा आगम में कहा है।'

यही बात 'प्रवचनसार' गाथा ३/१७ में तथा उसकी टीका में भी कही है। 'समयसार' की गाथा २६५ की टीका में कहा गया है—बाह्य वस्तु बन्ध के कारण अध्यवसान का कारण है, बन्ध का कारण नहीं है। जीव को मारो या न मारो, अध्यवसान से बन्ध होता है।

इस तरह आगम में भी उपादान कारण की ही प्रमुखता है, निमित्त की नहीं। जीव के मर जाने पर भी यदि परिणाम प्रमादयुक्त नहीं हैं तो बन्ध नहीं है।

क्या निमित्त सर्वथा अकिञ्चित्कर है ?

आगम में निमित्त के दो प्रकार मिलते हैं—उदासीन निमित्त और प्रेरक निमित्त। उदासीन निमित्त का उदाहरण है धर्मादि द्रव्य और प्रेरक निमित्त का है कुम्भकार। कुम्भकार के सम्बन्ध में 'समयसार' का दृष्टिकोण जो निश्चयदृष्टि से है, ऊपर बतला दिया गया है। धर्मादि द्रव्यों के सम्बन्ध में भी लिखा गया है। इन्हें अनुग्राहक, उपकारक, आलम्बन आदि शब्दों से कहा है।

'इष्टोपदेश' में पूज्यपाद स्वामी ने आत्मा का गुरु आत्मा को ही कहा है। इस पर शिष्य पूछता है—तब तो मुमुक्षु को धर्माचार्य आदि का सेवन नहीं करना चाहिए। इसके उत्तर में कहा है—

> नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।
> निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥३५॥

इसकी टीका में पं० आशाधरजी ने कहा है—अज्ञ अर्थात् तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के अयोग्य अभव्य आदि धर्माचार्य आदि के हजार उपदेशों से भी तत्त्वज्ञ नहीं होता

और जो तत्त्वज्ञ है वह तत्त्वज्ञान से च्युत किये जाने के हजार उपायों से भी अज्ञ नहीं होता। अतः गुरु आदि तो निमित्त मात्र हैं, उसमें तो योग्यता ही साधकतम है। जैसे गति परिणाम के अभिमुख पदार्थों की अपनी गतिशक्ति ही गति की साक्षात् जनिका है, उसके अभाव में कोई भी गति करा सकने में समर्थ नहीं है। धर्मास्तिकाय तो उसका सहकारी कारण मात्र है। इसी प्रकार प्रकृत में भी व्यवहार से ही गुरु की सेवा करणीय जानना। प्रेरक कारण का एक अन्य उदाहरण है। 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा है कि भाववचन की सामर्थ्य से युक्त क्रियावान् आत्मा के द्वारा प्रेरित पुद्गल वचन रूप परिणमन करते हैं।

यहाँ पर भी भाववचन की शक्ति से युक्त आत्मा में और भाषावर्गणा के पुद्गलों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध ही है। आत्मा का व्यापार आत्मा में और पुद्गल का व्यापार पुद्गल में ही होता है। आत्मा उन्हें भाषारूप नहीं परिणमाता। परिणमन तो वे स्वयं ही करते हैं।

इसी तरह सर्वत्र जानना। बलात् निमित्त उपादान को नहीं परिणमाता। किन्तु निमित्त-नैमित्तिक भाव से ही परिणमन होता है। तथापि लोक में निमित्त मात्र को भी हेतुकर्ता कहने में आता है।

इस उपादान और निमित्त के विवेचन से मौलिक लाभ यही है कि असली कारण की ओर दृष्टि जाये और नकली कारण से दृष्टि हटे। या नकली कारण को ही यथार्थ कारण मानने से जो भ्रम फैला है वह दूर हो। निमित्त पर ही जोर देने से मनुष्य उपादान की ओर से बेखबर हो जाता है। उपादान का परिणमन निमित्ताधीन नहीं है और न निमित्त का परिणमन उपादान के अधीन है। किसी का भी परिणमन किसी के भी अधीन नहीं है। सबका परिणमन स्वयं अधीन है। उसमें अन्य सहायक मात्र हो सकता है।

अतः न तो निमित्तों पर ही अत्यधिक जोर देना उचित है और न निमित्त को सर्वथा अकिंचित्कर मान कर उनकी उपेक्षा करना ही उचित है।

निमित्त का मिलना और मिलाना

यह भी चर्चा चलती है कि निमित्त मिलता है या मिलाना होता है। यदि उपादान कार्योन्मुख होता है तो निमित्त मिलता ही है, उसे मिलाना नहीं पड़ता। अपने कल्याण में सहायक निमित्तों की ओर अभिरुचि होना और अकल्याणकारी निमित्तों की ओर से रुचि का हटाना आदि भी जीव का अच्छा होनहार होने का ही सूचक है। अतः सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु के गुणों में भक्ति आदि निमित्तों से कतराना नहीं चाहिए। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिए कि अपना कल्याण अपने ही हाथ में है, पर के हाथ में नहीं है। पर तो तभी आत्मकल्याण में निमित्त हो सकता है जब उपादन की परिणति भी तदनुकूल हो,

अन्यथा नहीं। अतः अच्छे निमित्तों से दूर भी मत भागिए और उनमें उलझ भी मत जाइए।

कारण-कार्य सम्बन्धी नियम

उपादान कारण के समान ही कार्य होता है यह एक समान्य सिद्धान्त है। किन्तु एकान्त से ऐसा नहीं है। 'तत्वार्थवार्तिक' (१।२०।५) में अकलंकदेव ने लिखा है—जैसे घट अपने उपादान कारण मिट्टी के पिण्ड के कथंचित् सदृश है और कथंचित् असदृश है। दोनों मिट्टीरूप हैं, अजीव हैं आदि कारणों से घट अपने कारण के समान है। किन्तु मिट्टी और घट का आकार भिन्न होने से घट अपने कारण के समान नहीं है। जिसका मत है, कार्य सर्वथा अपने कारण के अनुरूप होता है, उसके मत से घट से पानी लाने का काम नहीं होना चाहिए क्योंकि मिट्टी का पिण्ड यह काम नहीं कर सकता। अतः एकान्त से कार्य कारण के समान नहीं होता।

'धवला' पु. १५ पृ. १६ पर भी यही प्रतिपादन किया गया है कि यदि कार्य सर्वथा कारण के समान होता तो मिट्टी के पिण्ड से मिट्टी के पिण्ड के सिवाय घट, घटी सकोरा आदि पर्यायें उत्पन्न नहीं हो सकती थीं। दूसरी आवश्यक बात यह है कि कारण पूर्वकालवर्ती होता है और कार्य उत्तरकालवर्ती होता है। एक साथ उत्पन्न होने वालों में; जैसे गाय के दोनों सींगों में, कार्यकारण भाव नहीं होता। तथा जो जिसके होने पर ही होता है और नहीं होने पर नहीं होता वह उसका कारण होता है। अतः कार्यकारण भाव अन्वयव्यतिरेक पूर्वक ही होता है।

कर्म व जीवगत कार्यकारण भाव—इसी प्रसंगवश कर्म व जीवगत कार्यकारण भाव भी विचारणीय हो जाता है क्योंकि उसमें प्राय: विवाद चलता आया है।

जीव और कर्म में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध सर्वमान्य है। 'समयसार' मे कहा है—

जीवपरिणाम हेदु कम्मत्तं पोग्गला परिणमंति।
पोग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमइ ॥८०॥

अर्थात् पुद्गल जीव के परिणाम के निमित्त से कर्मरूप परिणमन करते हैं, और जीव भी पुद्गल कर्म के निमित्त से परिणमन करता है।

कर्ता-कर्मभाव

इस प्रकार जीव और पुद्गल के परिणाम में निमित्त-नैमित्तिकभाव होते हुए भी कर्ता-कर्म भाव नहीं है। अर्थात् जीव पुद्गल के परिणामों का कर्ता है और पुद्गल परिणाम जीव के कर्म हैं तथा पुद्गल कर्म जीव के परिणामों के कर्ता हैं

और जीव के परिणाम उनके कर्म हैं ऐसा नहीं है। क्योंकि न तो जीव कर्म के गुणों का कर्ता है और न कर्म जीव के गुणों के कर्ता हैं। केवल परस्पर में एक-दूसरे का निमित्त होने से दोनों के परिणाम होते हैं। अतः आत्मा अपने भावों का ही कर्ता है, पौद्गलिक भावों का कर्ता नहीं है। यही वास्तविक निश्चयदृष्टि है। यदि आत्मा पुद्गल कर्मों का कर्ता और भोक्ता हो तो फिर आत्मा दो क्रियाओं का कर्ता ठहरता है।

कुन्दकुन्द के इस कथन को स्पष्ट करते हुए 'आत्मख्याति' में कहा है—

सभी क्रियाएँ परिणामस्वरूप होने से परिणाम से भिन्न नहीं हैं। और चूँकि परिणाम और परिणामी अभिन्न वस्तु होते हैं अतः परिणाम परिणामी से भिन्न नहीं है। यह कि क्रिया परिणामस्वरूप है अतः वह क्रियावान् से अभिन्न है। इस प्रकार क्रिया या कर्म और कर्ता अभिन्न ठहरने पर जैसे जीव व्याप्य-व्यापकभाव से अपने परिणाम का कर्ता है और भाव्य-भावक भाव से उसी का भोक्ता है, उसी प्रकार यदि जीव पुद्गल कर्मों का भी कर्ता भोक्ता हो तो वह एक स्व की और एक पर की—इन दो क्रियाओं से अभिन्न हुआ। और ऐसा होने पर स्व और पर में अर्थात् जीव और कर्म में कोई भेद न रहने से और उसी अभेद रूप अनेकात्मक एक आत्मा का अनुभव करने से वह मिथ्यादृष्टि ठहरता है क्योंकि वह अपना भी कर्ता है और पौद्गलिक भावों का भी कर्ता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के इस कथन पर यह फलित होता है कि जो परिणमन करता है वही कर्ता है और जो उसका परिणाम है वही कर्म है। सदा एक ही परिणमन करता है और सदा एक का ही परिणाम होता है। अतः कर्ता और कर्म अभिन्न ही होते हैं। दो द्रव्य एकरूप होकर परिणमन नहीं करते और न दो द्रव्यों का एक परिणाम होता है। एक के कर्ता दो नहीं होते और एक कर्ता के दो कर्म नहीं होते।

उदाहरण रूप में जैसे कुम्हार उपादान रूप से अपने परिणाम को करता है उसी प्रकार यदि घट को भी उपादान रूप से करता है तो कुम्हार को अचेतनपना और घटपना प्राप्त होता है अथवा घट को चेतनपना और कुम्हारपना प्राप्त होता है। इसी प्रकार जीव भी यदि उपादान रूप से पुद्गल द्रव्य कर्म को करता है तो जीव को अचेतनपना और पुद्गल द्रव्यपना प्राप्त होता है। अथवा पुद्गल कर्म को चेतनपना और जीवपना प्राप्त होता है।

संसार में मूलभूत पदार्थ दो ही हैं—जीव और अजीव। दोनों ही परिणामी हैं। यदि ये दोनों सर्वथा अपरिणामी हों तो दो ही रहेंगे, संसार की प्रक्रिया का ही अन्त हो जायेगा। यदि ये दोनों सर्वथा परिणामी हों तो जीव अजीव रूप या अजीव जीव रूप परिणमन करने से एक ही पदार्थ रहेगा अतः ये दोनों कथंचित् परिणामी हैं। कथंचित् परिणामी का अर्थ यह है कि यद्यपि निश्चयनय से जीव

अपना स्वरूप नहीं छोड़ता तथापि व्यवहारनय से कर्मोदयवश रागादिरूप औपाधिक परिणाम को ग्रहण करता है। यद्यपि रागादिरूप उपाधि परिणाम को ग्रहण करता है फिर भी स्वरूप को नहीं छोड़ता। जैसे स्फटिकमणि स्वयं लाल आदि रूप नहीं होती किन्तु यदि उसके साथ लाल आदि द्रव्यों को लगा दिया जाता है तो वह लाल आदि रूप दिखाई देती है। स्वभाव से तो वह शुद्ध ही है।

अत: दो द्रव्यों में कर्ताकर्म भाव निश्चय से नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—

> व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि ।
> व्याप्यव्यापकभावसंभवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ॥

अर्थात् व्याप्यव्यापकभाव तत्स्वरूप में ही होता है अतत्स्वरूप में नहीं होता और व्याप्यव्यापक भाव के हुए बिना कर्ता-कर्म भाव की स्थिति कुछ भी नहीं। जो सब अवस्था में व्याप्त हो वह व्यापक होता है और अवस्थाएँ व्याप्य होती हैं जैसे द्रव्य व्यापक है और उसकी पर्यायें व्याप्य हैं, क्योंकि द्रव्य अपनी पर्यायों में रहता है। द्रव्य और पर्याय अभेदरूप हैं। ऐसा व्याप्यव्यापक भाव तत्स्वरूप में ही संभव है। उसके अभाव में कर्ता-कर्मभाव नहीं होता। अत: एक द्रव्य दूसरे के परिणामों का कर्ता नहीं हो सकता। निश्चय से प्रत्येक पदार्थ अपने ही परिणाम का कर्ता होता है।

'समयसार' (गाथा ८६) की आत्मख्याति में कहा गया है—

जैसे कुम्हार घट की उत्पत्ति के अनुकूल अपने व्यापार परिणाम को, जो उससे अभिन्न है, करता हुआ प्रतिभासित होता है किन्तु घट बनाने के अहंकार से भरपूर होने पर भी अपने व्यापार के अनुरूप मिट्टी से अभिन्न मिट्टी के घट परिणाम को मिट्टी से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया के द्वारा करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानवश पुद्गलकर्म रूप परिणाम के अनुकूल आत्मा से अभिन्न आत्मा के परिणाम को आत्मा से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया के द्वारा करता हुआ भले ही प्रतिभासित हो, परन्तु पुद्गल के परिणाम को करने के अहंकार से भरा हुआ होने पर भी अपने परिणाम के अनुकूल पुद्गल के परिणाम को, जो पुद्गल से अभिन्न है, पुद्गल से अभिन्न परिणतिमात्र क्रिया के द्वारा करता हुआ प्रतिभासित नहीं होता।

'प्रवचनसार' (गाथा १८४) में भी कहा है—

'अपने भाव को करता हुआ आत्मा अपने भाव का कर्ता है, परन्तु पुद्गल द्रव्यमय सब भावों का कर्ता नहीं है।'

'प्रवचनसार' (गाथा १२२) की टीका में भी कहा गया है—

आत्मा का परिणाम स्वयं आत्मा ही है क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप

का कर्ता होने से परिणाम से अभिन्न होता है। और, जो आत्मा का आत्मरूप परिणाम है वह जीवमयी ही क्रिया है। क्योंकि सब द्रव्यों की परिणामलक्षणरूप क्रिया उस-उस द्रव्यमय ही मानी गयी है। और, जो जीवमयी क्रिया है उसका कर्ता स्वतंत्र रूप से आत्मा है अतः वह उसका कर्म है। अतः परमार्थ से आत्मा अपने परिणामरूप भावकर्म का ही कर्ता है, पुद्गल के परिणामरूप द्रव्य कर्म का कर्ता नहीं है। तब प्रश्न होता है कि द्रव्य कर्म का कर्ता कौन है? इसका उत्तर है—पुद्गल का परिणाम स्वयं पुद्गल ही है; क्योंकि परिणामी परिणाम के स्वरूप का कर्ता होने से परिणाम से अभिन्न होता है और जो पुद्गल का पुद्गल रूप परिणाम है वह पुद्गलमयी क्रिया ही है। और जो वह क्रिया है वह स्वतन्त्ररूप से पुद्गल के द्वारा की गयी होने से पुद्गल का कर्म है। अतः परमार्थ से पुद्गल अपने परिणामरूप द्रव्यकर्म का ही कर्ता है, आत्मा के परिणाम रूप भावकर्म का कर्ता नहीं है।

'समयसार' में कहा है—

आत्मा जो शुभ या अशुभ भाव करता है वह उसका कर्ता होता है तथा वह शुभ या अशुभ भाव उसका कर्म होता है। वह आत्मा अपने उस भाव का भोक्ता होता है। (१०२)

किन्तु पर-भाव को कोई नहीं कर सकता। इसका कारण यह है कि संसार में जितनी भी वस्तु हैं, वे चेतन हों या अचेतन, सब अपने-अपने द्रव्य और गुण को लिये हुए अनादिकाल से रह रही हैं। वे अपनी-अपनी वस्तुस्थिति की सीमा को लाँघने में असमर्थ होने से अपने ही स्वरूप में रहती हैं, द्रव्यान्तर या गुणान्तर रूप से संक्रमण नहीं करतीं। जो चेतन हैं वे चेतन ही रहते हैं जो अचेतन हैं वे अचेतन ही हैं। न मूर्तिक अमूर्तिक होता है और न अमूर्तिक मूर्तिक होता है? जब ऐसी स्थिति है तो एक वस्तु अन्य वस्तु को कैसे परिणमा सकती है। इसी से यह मान्यता स्थिर होती है कि आत्मा पुद्गलकर्मों का कर्ता नहीं है। क्योंकि—जैसे मिट्टीमय घटरूप कर्म में मिट्टीरूप द्रव्य और उसके गुण स्वभाव से ही रहते हैं, अतः उसमें द्रव्यान्तर और गुणान्तर का संक्रमण वस्तुस्थिति से ही निषिद्ध है। इसलिए कुम्हार उस घट में अपने को अथवा अपने गुणों को नहीं मिलाता; क्योंकि अन्य द्रव्य रूप हुए बिना अन्य वस्तु का परिणमन करना शक्य नहीं है। और ऐसा किये बिना परमार्थ से कुम्हार घट का कर्ता नहीं हो सकता। उसी प्रकार पुद्गलमय ज्ञानावरण आदि कर्मों में पुद्गल द्रव्यपना और पुद्गलद्रव्य के गुण स्वभाव से ही वर्तमान हैं। अतः उनका द्रव्यान्तर और गुणान्तर रूप से संक्रम करना अशक्य है। इसलिए जीव उनमें जीव द्रव्यपना या जीव के गुणों का संक्रमण नहीं कर सकता। फिर ऐसा किये बिना जीव परमार्थ से पुद्गलकर्मों का कर्ता कैसे हो सकता है?

अतः यद्यपि जीव स्वभाव से पौद्गलिक कर्म का निमित्तभूत नहीं है फिर भी अनादिकालीन अज्ञान से उसमें निमित्त जो अज्ञानभाव है उस रूप परिणमन

करने से निमित्त हो जाता है और उस पर ऐसा कह दिया जाता है कि आत्मा पौद्गलिक कर्म का कर्ता है। किन्तु यह उपचार कथन है परमार्थ से ऐसा नहीं है। इसलिए जीव और कर्म में निमित्त-नैमित्तिकभाव मात्र से कर्ता-कर्म व्यवहार है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के पाँचवें अध्याय का प्रथम सूत्र है—'अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गला: ।' यहाँ पर 'पुद्गला:' शब्द बहुवचन है। 'तत्त्वार्थवार्तिक' ५।१।२७ में अकलंक देव ने कहा है कि यहाँ बहुवचन स्वातंत्र्य का बोध कराने के लिए है अर्थात् धर्मादि द्रव्य गति आदि रूप उपकार के लिए स्वयं ही प्रवृत्त होते हैं, इनकी यह प्रवृत्ति किसी के अधीन नहीं है। इस पर किसी ने प्रश्न किया कि बाह्य निमित्त वश ही परिणामी द्रव्यों में परिणाम पाया जाता है, यदि आप उन्हें परिणमन में स्वतन्त्र कहते हैं तो उसमें विरोध आता है? इसके उत्तर में कहा गया है कि यह दोष ठीक नहीं है। बाह्य तो निमित्त मात्र है। गति आदि रूप परिणमन करने वाले जीव और पुद्गल गति आदि रूप उपकार में धर्मादि को प्रेरणा नहीं करते कि हमारी गति में सहायता करो। धर्मादि ऐसा करने में स्वतन्त्र है। वह जो अपना कार्य करने में स्वतन्त्र होता है वह कर्ता कहलाता है। और, उस कर्ता के द्वारा जो किया जाता है वह उसका कर्म है। जैसे कुम्हार घट का कर्ता है और घट उसका कर्म है। लोक मे ऐसा ही कर्ता-कर्म व्यवहार प्रचलित है। किन्तु परमार्थ से एक को दूसरे का कर्ता कहना असत्य है। यही स्पष्ट करने के लिए 'समयसार' में कर्ता-कर्म नामक अधिकार आता है। यदि मुमुक्षु की कर्ता-कर्म विषयक दृष्टि यथार्थ न हो तो वह मोक्षमार्ग में लगकर भी मोक्ष प्राप्त नही कर सकता।

इस अधिकार के प्रारम्भ में ही अमृतचन्द्र जी ने 'समयसार कलश' ४६ मे कहा है कि मैं चेतन कर्ता हूँ और ये क्रोधादि मेरे कर्म है ऐसा मानकर अज्ञानी क्रोधादि में प्रवृत्ति करता है। इसी तरह चेतन द्रव्य कर्ता है और पौद्गलिक कर्म ज्ञानावरणादि उसके कर्म हैं ऐसा लोक में व्यवहार से कहा जाता है। और व्यवहार को ही परमार्थ मानने वाले मूढ़ पुरुष उसमें भेद न करने के कारण संसार चक्र में फँसे रहते हैं। इसलिए उन्होंने कहा है—

व्यावहारिकदृशैव केवलं कर्तृ कर्म च विभिन्नमिष्यते ।
निश्चयेन यदि वस्तु चिन्त्यते कर्तृ कर्म च सदैकमिष्यते ।।२१०।।

अर्थात् व्यवहार दृष्टि से ही केवल कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न माने जाते हैं। यदि निश्चय से वस्तु स्वरूप का विचार किया जाता है तो दोनों सदा एक ही माने गये हैं।

६. जीव-आत्मा

छह द्रव्यों में एक जीव या आत्मा नामक भी द्रव्य है जो चेतन है, शेष सब द्रव्य अचेतन या जड़ हैं। चार्वाकदर्शन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु को चैतन्य की उत्पत्ति या अभिव्यक्ति मानता है। जैन दार्शनिकों ने उसका खण्डन करके आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व सिद्ध किया है।

अकलंकदेव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' (२, ८) मे आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि जो यह 'हमारी आत्मा है' ऐसा ज्ञान होता है यह संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय या सम्यग्ज्ञान में से जो भी हो, सब विकल्पों में आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है। यह ज्ञान निर्णयात्मक होने से संशय तो है नहीं। संशयरूप मान लेने पर भी इसका आलम्बन आत्मा सिद्ध होता है, क्योंकि अवस्तु को लेकर संशय नहीं होता। यह ज्ञान यदि विपर्यय है तो भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे पुरुष में स्थाणु का ज्ञान होने पर लोक में स्थाणु के अस्तित्व की सिद्धि होती है। यह ज्ञान जन्म से अन्धे आदमी को रूप के अनध्यवसाय की तरह अनध्यवसाय भी नहीं है, क्योंकि अनादिकाल से आत्मा का ज्ञान होता चला आता है। यदि यह सम्यग्ज्ञान है तो निर्विवाद रूप से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध है।

मनुष्य शराब पीकर बेहोश हो जाता है। यहाँ प्रश्न उठता है—शराब ने अपना प्रभाव यदि इन्द्रियों पर डाला तो वे इन्द्रियाँ चेतन हैं या अचेतन? यदि अचेतन हैं तो उनपर शराब का प्रभाव नहीं हो सकता। यदि अचेतन पर भी शराब का प्रभाव होता है तो सबसे प्रथम तो जिस बोतल में शराब है उसी पर उसका प्रभाव होना चाहिए। यदि इन्द्रियाँ चेतन हैं तो जिन पृथ्वी आदि तत्वों से इन्द्रियाँ बनी हैं उनमें चैतन्य द्रव्य के सम्बन्ध से चैतन्य व्यवहार होता है अतः शराब का प्रभाव चेतन पर ही सिद्ध होता है।

चार्वाक कहता है—जैसे पृथ्वी, जल आदि के मिलने पर उनमें मादक शक्ति प्रकट होती है वैसे ही पृथ्वी आदि का संयोग विशेष होने पर सुख-दुःख आदि प्रकट होते हैं।

जैन मत से चार्वाक का यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि रूपादि पृथ्वी आदि के गुण हैं। पृथ्वी आदि को तोड़ने पर उसके गुणों में भी क्रम से हानि देखी जाती है। किन्तु उस प्रकार शरीर के अवयवों को काट देने पर भी ज्ञानादि गुणों की हानि नहीं देखी जाती। अतः सुख, ज्ञान आदि पृथ्वी आदि के गुण नहीं हैं। यदि सुखादि पृथ्वी आदि के गुण हैं तो जैसे मुर्दा शरीर में पृथ्वी आदि के रूपादि गुण पाये जाते हैं वैसे ही सुखादि भी पाये जाने चाहिए। यदि कहोगे कि उनमें से सूक्ष्म भूत के चले जाने से सुखादि नहीं पाये जाते तो बहुत-से स्थूल भूतों के रहने से सुखादि पाये जाने चाहिए। जिस सूक्ष्म भूत के चले जाने से सुखादि नहीं पाये जाते उसी के वे गुण हैं अतः सुखादि अनेक भूतों के समुदाय के गुण नहीं हैं। तथा वह सूक्ष्मभूत का अस्तित्व आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करता है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के प्रारम्भ में पुरुष नाम से आत्मद्रव्य का स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुत्पादव्ययध्रौव्यैः ॥४६॥

—पुरुष अर्थात् आत्मा चेतन स्वरूप है। स्पर्श, गन्ध, रस और रूप से रहित है। गुण और पर्यायों से सहित तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक है। पीछे द्रव्य के निरूपण में उसके दो लक्षण कहे हैं वे दोनों द्रव्य के लक्षण आत्मा में पाये जाने से आत्म-द्रव्य की सिद्धि होती है तथा वह रूप, रस, गन्ध आदि से रहित होने से पुद्गलद्रव्य से भिन्न सिद्ध होता है। जिसमें रूप-रसादि होते हैं वह सब पुद्गल हैं। किन्तु रूपरसादि तो आकाशादि में भी नहीं होते। अतः उन सबसे भिन्न करनेवाला विशेष गुण चेतना है। चेतना गुण केवल आत्मद्रव्य में रहता है। इसीसे 'तत्त्वार्थसूत्र' में जीव का लक्षण उपयोग कहा है। चैतन्य के साथ होनेवाले परिणाम को उपयोग कहते हैं। उपयोग के दो भेद हैं—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। चेतना के भी दो भेद हैं—ज्ञानचेतना और दर्शनचेतना।

'प्रवचनसार' और 'समयसार' में आत्मा का स्वरूप इसप्रकार कहा है—

अरसमरूवमगंधमव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठ संठाणं ॥४६॥

अर्थात् हे भव्य! जीव को रसरहित, रूपरहित, गन्धरहित, अव्यक्त अर्थात् इन्द्रिय-अगोचर, चेतनागुणवाला और शब्दरहित जानो। उसका अपना कोई

निश्चित आकार न होने से वह अनिर्दिष्ट आकारवाला है तथा इसप्रकार रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द, आकाश और व्यक्तता का अभाव होने पर भी स्वसंवेदन के बल से नित्य आत्मा का प्रत्यक्ष होने पर आत्मा केवल अनुमेयमात्र नहीं है।

इसप्रकार आत्मा का स्वरूप बतलाकर आचार्य कुन्दकुन्द ने उसका विश्लेषण करते हुए कहा है[1]—

जीव के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शरीर, संस्थान, संहनन नहीं हैं। राग, द्वेष, मोह नहीं हैं। कर्म, नोकर्म नहीं हैं। वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक नहीं हैं। अध्यवस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बन्धस्थान, उदयस्थान नहीं हैं। मार्गणास्थान नहीं हैं। स्थितिबन्धस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, जीवस्थान, गुणस्थान नहीं हैं। क्योंकि ये सब पुद्गल के परिणाम हैं। ये सब रूप से लेकर गुणस्थान पर्यन्त मात्र व्यवहारनय से जीव के हैं, निश्चयनय से नहीं। इनके साथ संसारी जीव का सम्बन्ध दूध-पानी की तरह है किन्तु ये सब जीव के नहीं हैं; क्योंकि जीव में उपयोगगुण इनसे अधिक है अतः जीव के साथ इनका संयोगसम्बन्ध या तादात्म्य-सम्बन्ध नहीं है। संसारी जीव के ये सब होते हैं किन्तु जो जीव संसार से मुक्त हो

---

१. जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि फासो।
ण वि रूवं ण शरीरं ण वि संठाणं ण सहणणं ॥५०॥
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५१॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायट्ठाणा वा ॥५२॥
जीवस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा ण बंधट्ठाणा वा।
णेव य उदयट्ठाणा णो मग्गणट्ठाणया केई ॥५३॥
णो ट्ठिदि बंधठाणा जीवस्स ण संकिलेसट्ठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५४॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥५५॥
ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया।
गुणट्ठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥
एदेहिय संबंधो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

—समयसार

जाते हैं उनके रूपादि में से कोई भी नहीं होता। यदि इन सबको जीव माना जाता है तो जीव और अजीव में कोई भेद नहीं रह जाता।

इसीप्रकार जो जीव को एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा बादर-सूक्ष्म, पर्याप्त-अपर्याप्त कहा जाता है ये सब तो नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं, उन्हीं से जीवसमास बनते हैं। उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है? इसीप्रकार मोहनीयकर्म के उदय से जो गुणस्थान कहे जाते हैं वे तो अचेतन हैं वे जीव कैसे हो सकते हैं? आगम में उन्हें व्यवहार से ही कहा गया है।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने 'समयसार' में जीव के शुद्ध स्वरूप का कथन किया है। अत: संसारी जीव के अशुद्ध स्वरूप को समझने के लिए व्यवहार नय के कथन को भी जानना आवश्यक है। उसे जाने बिना संसारी जीव की अशुद्ध परिणति का बोध नहीं हो सकता। अत: सबसे प्रथम जड़ की और चेतन की पहचान होना आवश्यक है, जिससे जड़ से ममत्व छुटाकर चेतन अपने स्वरूप को पहचान सके।

'पंचास्तिकाय' में आचार्य कुन्दकुन्द ने संसारी जीव के उपाधिसहित और उपाधिरहित स्वरूप का कथन इसप्रकार किया है—

जीवोत्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥

अर्थात् यह जीव नाम का पदार्थ चेतयिता है, उपयोग से विशिष्ट है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, अपने शरीरमात्र परिमाणवाला है, मूर्त नही है किन्तु कर्म से संयुक्त है।

इनमें से जीवत्वगुण की व्याख्या करते हुए कहा है—जो इन्द्रिय, बल, आयु और उच्छ्वासरूप चार प्राणों से वर्तमान में जीता है, भविष्य में जियेगा और अतीतकाल में जिया था वह जीव है।

अकलंकदेव ने भी 'तत्त्वार्थवार्तिक' (१।४।७) में जीव की यही परिभाषा करके लिखा है। जीव की इस परिभाषा से सिद्धों में भी जीवत्व सिद्ध होता है, क्योंकि सिद्ध होने से पहले भी वे जिये थे। इसपर से यह प्रश्न उठाया गया कि सिद्ध वर्तमान में नहीं जीते हैं पहले जीते थे इससे उन्हें जीव कहने से तो सिद्धों में जीवत्व औपचारिक हो जायेगा जबकि सिद्धों को मुख्य रूप से जीव माना जाता है। इसके उत्तर में कहा गया है कि यह दोष ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान-दर्शन रूप भाव प्राणों का अनुभवन करने से वर्तमान में भी उनमें जीवत्व है। अथवा 'जीव' यह रूढ़ि शब्द है और रूढ़ि शब्दों में क्रिया केवल शब्द की व्युत्पत्ति के लिए होती है। अत: कदाचित् पाये जानेवाले जीवन की अपेक्षा करके जीव शब्द का व्यवहार होता है।

'षट्खण्डागम' पु. १४ की धवला-टीका में वीरसेन स्वामी ने सिद्धों में जीवत्व पर आगमिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है जो इसप्रकार है—

आयु आदि प्राणों के धारण करने का नाम जीवन है। वह जीवन अयोग-केवली गुणस्थान के अन्तिम समय तक ही रहता है, उसके पश्चात् नहीं रहता। क्योंकि सिद्धों में प्राणों के कारणभूत आठों कर्मों का अभाव है। इसलिए सिद्ध जीव नहीं हैं, पूर्व में जीव थे।

शंका—सिद्धों में भी जीवत्व क्यों नहीं माना जाता?

समाधान—क्योंकि सिद्धों में जीवत्व उपचार से है और उपचार सत्य नहीं होता।

सिद्धों में प्राणों का अभाव अन्यथा बन नहीं सकता। इससे जीवत्व भाव परिणामिक नहीं है किन्तु कर्म के उदय से उत्पन्न होनेवाला है। क्योंकि कार्य-कारणभाव के ज्ञाताओं का कहना है कि जो जिसके होने पर होता है और नहीं होने पर नहीं होता वह उसका कार्य है। इसलिए जीवभाव औदयिक है, यह सिद्ध होता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में जो जीवत्वभाव कों पारिणामिक कहा है वह प्राण-धारण को लेकर नहीं कहा है किन्तु चैतन्यगुण को लेकर कहा है। अतः वह कथन भी विरुद्ध नहीं है।

उक्त कथन से जीव और आत्मा शब्दों का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है। सिद्धान्त-ग्रन्थों में जीव शब्द का व्यवहार विशेष रूप से देखा जाता है किन्तु अध्यात्म में आत्मा शब्द का व्यवहार विशेष रूप से पाया जाता है। अस्तु।

जीव को स्वदेह प्रमाण बतलाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—जैसे दूध में पड़ा पद्मराग रत्न अपनी प्रभा से दूध को प्रभासित करता है वैसे ही जीव शरीर में रहकर शरीरमात्र में व्याप्त रहता है।

'तत्त्वार्थसूत्र' में जीव को लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशी कहा है और यह भी कहा है कि जीव लोक के असंख्यातवें आदि भाग में रहता है। इसपर से यह शंका हुई कि जब जीव लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशी है तो उसे तो समस्त लोक में व्याप्त होकर रहना चाहिए, वह लोक के असंख्यातवें भाग में कैसे रहता है? तो उसके उत्तर में कहा है—यद्यपि आत्मा स्वभाव से अमूर्तिक है तथापि अनादिकाल से पौद्गलिक कर्मों के साथ बद्ध होकर कथंचित् मूर्तता को धारण करता है। अतः लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेशी होते हुए भी कार्मण-शरीर के वश से प्राप्त सूक्ष्मशरीर में रहने पर सूखे चमड़े की तरह उसके प्रदेश सकुच जाते हैं। बड़े शरीर में रहने पर जल में तेल की तरह उसके प्रदेश फैल जाते हैं। इसप्रकार प्रदेशों के संकोच-विस्तार के कारण जीव लोक के असंख्यात

आदि भागों में रहता है। जैसे दीपक जिस स्थान में रहता है उसका प्रकाश उसी में व्याप्त होकर रहता है।

शंका—यदि आत्मा दीपक की तरह प्रदेशों के संकोच और विस्तारवाला है तो घट आदि के समान संसारी जीव का छेदन-भेदन करने से प्रदेशों के अलग-अलग होने का प्रसंग आता है और ऐसी स्थिति में आत्मा का अभाव प्राप्त होता है।

समाधान—ऐसा नहीं है; क्योंकि आत्मा अपने अमूर्त स्वभाव को नहीं छोड़ता। इसलिए घटादि की तरह उसके प्रदेश अलग-अलग नहीं हो जाते। फिर जो एकान्त से आत्मा को संकोच-विस्तार स्वभाववाला और सावयव मानते हैं उनको उक्त दोष आता है। हम तो आत्मा को अनादि पारिणामिक चैतन्य जीव-द्रव्य आदि द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा कथंचित् प्रदेशों का संकोच-विस्तार न करनेवाला तथा निरवयव मानते हैं, और प्रतिनियत सूक्ष्म या बादर शरीर को उत्पन्न करने-वाले निर्माण नामकर्म के उदयरूप पर्याय की अपेक्षा प्रदेशों का संकोच-विस्तार करनेवाला तथा अनादि कर्म-बन्धरूप पर्याय की अपेक्षा सावयव मानते हैं। अतः हम पर उक्त दोष लागू नहीं होते।

जिस पदार्थ के अवयव कारणपूर्वक होते हैं उसके अवयवों के अलग-अलग होने से नाश हो सकता है। जैसे धागों के अलग-अलग होने से कपड़े का विनाश हो जाता है। परन्तु आत्मा के प्रदेश परमाणु की तरह कारणपूर्व नहीं है, वह किन्हीं के मेल से नहीं बना है। इससे आत्मा सावयव होते हुए भी अवयवों के अलग-अलग होने से नष्ट नहीं होता।

शंका—जब आत्मा प्रदेशों के संकोच-विस्तार स्वभाववाला है तो परमाणु की तरह छोटा क्यों नहीं होता?

समाधान—संसारी जीव कार्मण शरीरवश प्राप्त हुए छोटे या बड़े शरीर में व्याप्त होकर रहता है, ऐसा आगम का कथन है। फिर इतना छोटा शरीर होता नहीं है। छोटे-से-छोटा शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है अतः आत्मा परमाणु जितना छोटा नहीं हो सकता।

शंका—यदि शरीर प्रमाण होने से आत्मा इतना छोटा नहीं हो सकता तो मुक्त जीवों के तो शरीर होता नहीं है अतः मुक्त जीव तो सकुच कर इतने छोटे हो सकते हैं?

समाधान—ऐसा नहीं है; क्योंकि जिस शरीर से जीव मुक्ति प्राप्त करता है कुछ कम उतने ही प्रमाण रहता है। न उससे घटता है, न बढ़ता है। क्योंकि प्रदेशों के संकोच और विस्तार का कारण वहाँ नहीं है।

आगम में जीवद्रव्य को असंख्यात प्रदेशी कहा है। जब जीव एक भव से दूसरे भव में जाता है या सुख-दुःख का अनुभवन करता है या क्रोधादि करता है तब

उसके प्रदेशों में हलन-चलन होता है। सदा सब जीवों के आठ मध्य प्रदेश स्थिर ही रहते हैं। केवलियों के, चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगियों के और सिद्धों के सब प्रदेश स्थिर ही रहते हैं। व्यायाम, दुखानुभवन आदि करनेवाले जीवों के उक्त आठ मध्य प्रदेशों को छोड़ शेष प्रदेश अस्थिर ही होते हैं। शेष प्राणियों के प्रदेश स्थिर और अस्थिर होते हैं।

जीव के भेद

जीव के मुख्य भेद दो हैं—संसारी और मुक्त। संसारी जीव के मुख्य भेद दो हैं—त्रस और स्थावर। त्रस के चार भेद हैं—दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेंद्रिय। स्थावर के पाँच भेद हैं—पृथ्वीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इनमें से पंचेन्द्रिय के दो भेद हैं—मनसहित संज्ञी और मनरहित असंज्ञी। पंचेन्द्रिय के सिवाय शेष सब जीव मनरहित होते हैं। एकेन्द्रिय जीव बादर और सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार के हैं। उक्त प्रकार के संज्ञी और असंज्ञीरूप से दो पंचेन्द्रिय; दो-इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रियरूप से तीन विकलेन्द्रिय तथा बादर और सूक्ष्मरूप से दो एकेन्द्रिय—ये सातों पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी होते हैं। इस प्रकार ये चौदह जीवसमास होते हैं। 'द्रव्यसंग्रह' में कहा है—

> मग्गण-गुणठाणेहिं य चउदसहिं हवंति तह असुद्धणया।
> विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

अर्थात् संसारी जीव अशुद्धनय से चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थानों से चौदह-चौदह प्रकार के होते हैं और शुद्धनय से सभी संसारी जीव शुद्ध हैं।

इस गाथा की संस्कृत टीका में ब्रह्मदेवजी ने कहा है—इस गाथा में जो चौदह मार्गणा और गुणस्थानों की अपेक्षा संसारी जीव के चौदह भेद कहे गये हैं इनसे ग्रन्थकार ने धवल, जयधवल, महाधवल नामक सिद्धान्त-ग्रन्थों के बीजपदों की सूचना दी है, क्योंकि सिद्धान्त-ग्रन्थों में गुणस्थान और मार्गणास्थानों को ही लेकर सब कथन पाया जाता है और गाथा के अन्त में जो शुद्धनय से सब जीवों को शुद्ध कहा गया है इससे शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रकाशक पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसार आदि प्राभृतों के बीजपद को सूचित किया गया है। इस प्रकार जहाँ सिद्धान्त-ग्रन्थों से संसारी जीव का स्वरूप जानने में आता है, अध्यात्म-ग्रन्थों से शुद्ध जीव का स्वरूप जानने में आता है। अतः दोनों में ही समभाव रखकर अपने सांसारिक स्वरूप को और शुद्ध स्वरूप को जानकर, शुद्ध स्वरूप को प्राप्त करना चाहिए।

७. गुणस्थान

सिद्धान्त ग्रन्थ 'षट्खण्डागम' में बीस प्ररूपणाओं के द्वारा जीव का कथन किया है। वे बीस प्ररूपणाएँ इसप्रकार हैं—

> **गुण जीवा पज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य ।**
> **उवओगो वि य कमसो बीसं तु परूवणा भणिदा ॥**

गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग—ये क्रम से बीस प्ररूपणाएँ कहीं हैं। यहाँ इनमें से गुणस्थानों का संक्षेप में परिचय कराया जाता है।

मोहनीय कर्म के भेद दर्शनमोह और चारित्रमोह तथा योग को लेकर गुणस्थानों की रचना की गयी है और उनमें एकेन्द्रिय से लेकर मोक्ष जाने को तत्पर तक सभी जीवों को विभाजित किया गया है। मुक्तजीव गुणस्थानों से बाहर होते हैं। इसीसे आचार्य कुन्दकुन्द ने गुणस्थानों को जीव का स्वरूप नहीं कहा। ये गुणस्थान चौदह हैं—

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

मिथ्या शब्द का अर्थ असत्य है और दृष्टि शब्द का अर्थ दर्शन या श्रद्धान है। मिथ्यादर्शन कर्म के उदय से जीव मिथ्यादृष्टि कहलाता है। उसे तत्त्वार्थों का श्रद्धान नहीं होता है।

'द्रव्य-संग्रह' की संस्कृत टीका के अनुसार, निज आत्मा आदि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थों में तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषरहित, वीतराग सर्वज्ञ कथित नय विभागपूर्वक श्रद्धान जिसके नहीं है वह जीव मिथ्यादृष्टि है। 'मोक्षपाहुड' के अनुसार, जो साधु परद्रव्य में आसक्त है वह मिथ्यादृष्टि है।

उस मिथ्यादृष्टि के मति, श्रुत और अवधिज्ञान मिथ्या कहे जाते हैं। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' (गाथा ३१८) में कहा गया है—जो दोषसहित देव को, जीवहिंसा सहित धर्म को और परिग्रह में आसक्त गुरु को मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

संक्षेप से वे मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के होते हैं—एक हित-अहित की परीक्षा न कर सकने वाले और दूसरे परीक्षा कर सकने वाले। संज्ञिपर्याप्तक जीवों को छोड़ शेष एकेन्द्रिय आदि सब जीव हित-अहित की परीक्षा करने में असमर्थ होते हैं। और, संज्ञिपर्याप्तक दोनों ही प्रकार के होते हैं।

इस हित-अहित का विश्लेषण अध्यात्मग्रन्थों में किया गया है—

'समयसार' टीका में, कहा है—कर्म के उदयवश प्राप्त सुख-दुःख को सम्यग्दृष्टि तो राग-द्वेष नहीं करते हुए हेयबुद्धि से भोगता है। 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इस प्रकार के प्रत्ययों द्वारा तन्मय होकर नहीं भोगता परन्तु मिथ्यादृष्टि उसी सुख-दुःख को उपादेय बुद्धि से 'मैं सुखी, मैं दुःखी' इत्यादि प्रत्यय के द्वारा तन्मय होकर भोगता है। इसीलिए सम्यग्दृष्टि तो विषयों का सेवन करते हुए भी उनका असेवक है और मिथ्यादृष्टि उनका सेवन न करते हुए भी सेवक है।

'पंचास्तिकाय' की टीका में कहा है—अज्ञानियों को माला, स्त्री, चन्दन आदि पदार्थ तथा उनकी प्राप्ति में कारण दान-पूजा आदि व्यवहारधर्म हित प्रतीत होते हैं और विष, कण्टक आदि बाह्य पदार्थ अहित प्रतीत होते हैं, परन्तु ज्ञानी को अक्षय अनन्त सुख और उसका कारण निश्चयरत्नत्रयपरिणत परमात्म द्रव्य हित प्रतीत होता है और आकुलता को उत्पन्न करनेवाला दुःख तथा उसका कारण मिथ्यात्व व रागादि परिणत आत्मद्रव्य अहित प्रतीत होता है।

'नयचक्र' में कहा है—अजीव, पुण्य, पाप, अशुद्ध जीव, आस्रव और बन्ध इन छह पदार्थों का स्वामी मिथ्यादृष्टि है और शुद्ध चेतनारूप जीवतत्त्व, संवर, निर्जरा मोक्ष—इन चार पदार्थों का स्वामी सम्यग्दृष्टि है।

'द्रव्यसंग्रह' टीका में, किस पदार्थ का कर्ता कौन है इसका कथन इस प्रकार किया गया है—बहिरात्मा आस्रव, बन्ध और पाप इन तीन पदार्थों का कर्ता होता है। किसी समय मन्द मिथ्यात्व और मन्द कषाय का उदय होने पर आगामी भोगों की इच्छा आदि रूप निदान बन्ध से पापानुबन्धी पुण्य पदार्थ का भी कर्ता होता है।

असल में आगम में मिथ्यात्व को ही सबसे बड़ा पाप कहा है। अदेव को देव, अगुरु को गुरु और अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व कर्म के उदय से तत्त्वार्थ का श्रद्धानरूप परिणाम न होना मिथ्यादर्शन है। नियमसार-टीका में कहा है—भगवान् अर्हन्त परमेश्वर के मार्ग से प्रतिकूल मार्ग का श्रद्धान करना मिथ्यादर्शन है तथा निज आत्मा के श्रद्धान से विमुखता मिथ्यादर्शन है। द्रव्यसंग्रह-टीका में कहा है—अन्तरंग में वीतराग निजात्मतत्त्व के अनुभवरूप रुचि में विपरीत

अभिप्राय उत्पन्न करनेवाला तथा बाह्य विषयों में परकीय शुद्ध आत्मतत्त्व आदि समस्त द्रव्यों में विपरीत अभिप्राय उत्पन्न करनेवाला मिथ्यात्व है। उसके उदय से जीव मिथ्यादृष्टि होता है।

२. सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

सासादन नाम सार्थक है। आसादन का अर्थ है विराधना। आसादन के साथ रहनेवाली समीचीन दृष्टि जिसके होती है वह सासादन सम्यग्दृष्टि है। प्राकृत 'पञ्चसंग्रह' में तथा 'गोम्मटसार' जीवकाण्ड में कहा है—जो सम्यक्त्व से तो च्युत हो गया किन्तु मिथ्यात्व में नहीं आया वह सासादन सम्यग्दृष्टि है। प्रथमोपशम अथवा द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के काल में कम से कम एक समय और अधिक से अधिक छह आवली काल शेष रहने पर अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ में से किसी एक कषाय का उदय होने पर जो सम्यक्त्व को नष्ट कर देता है वह सासादन सम्यग्दृष्टि है।

'धवला' (प्रथम) में इस गुणस्थान को लेकर जो शंका-समाधान किया है उसे यहाँ दिया जाता है—

शंका—सासादन गुणस्थानवाला मिथ्यात्वकर्म का उदय न होने से मिथ्यादृष्टि नहीं है। समीचीन रुचि के न होने से सम्यग्दृष्टि नहीं है। तथा उक्त दोनों को विषय करनेवाली सम्यक्-मिथ्यात्व रूप रुचि के न होने से सम्यग्मिथ्यदृष्टि भी नहीं है। इनके सिवाय कोई चौथी दृष्टि नहीं है अतः सासादन गुणस्थान नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं है; क्योंकि सासादन गुणस्थान में विपरीत अभिप्राय रहता है, अतः वह असद्-दृष्टि ही है।

शंका—यदि ऐसा है तो वह मिथ्यादृष्टि ही हुआ। उसे सासादन नहीं कहना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्यग्दर्शन और चारित्र को रोकनेवाली अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से उत्पन्न विपरीत अभिप्राय वहाँ रहता है इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है, किन्तु मिथ्यात्वकर्म के उदय से उत्पन्न हुआ मिथ्या अभिप्राय वहाँ नहीं है इसलिए उसे मिथ्यादृष्टि न कहकर सासादन कहते हैं।

शंका—उसे मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं कहते?

समाधान—क्योंकि सासादन गुणस्थान को स्वतन्त्र कहने से यह प्रतिफलित होता है कि अनन्तानुबन्धी कषायों में सम्यक्त्व और चारित्र को घातने का स्वभाव है। दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से तो सासादन परिणाम होता नहीं है और जिस अनन्तानुबन्धी के उदय से सासादन में विपरीत अभिनिवेश होता है वह दर्शनमोहनीय नहीं है, वह तो चारित्र का आवरण करनेवाला चरित्रमोहनीय है।

शंका—तब सम्यक्त्व और चारित्र दोनों का प्रतिबन्धक होने से अनन्तानुबन्धी को सम्यक्त्व चारित्रमोहनीय नाम देना उचित है ?

समाधान—आपका आरोप हमें मान्य है अर्थात् अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र दोनों की प्रतिबन्धक है, फिर भी आगम में विवक्षित नय की मुख्यता से उस प्रकार का उपदेश नहीं है। विवक्षित दर्शनमोह के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना उत्पन्न होने से सासादन गुणस्थान में पारिणामिक भाव कहा गया है।

शंका—सासादन गुणस्थान विपरीत अभिप्राय से दूषित है तब उसे सम्यग्दृष्टिपना कैसे सम्भव है ?

समाधान—क्योंकि पहले वह सम्यग्दृष्टि था, इसलिए भूतपूर्व न्याय से उसकी सम्यग्दृष्टि संज्ञा बन जाती है।

शंका—सासादन पारिणामिक भाव है यह घटित नहीं होता; क्योंकि जो भाव अन्य से उत्पन्न नहीं होता उसे पारिणामिक कहते हैं। यदि अन्य से उत्पत्ति मानी जाये तो वह पारिणामिक नहीं रहता। अर्थात् स्वतःसिद्ध अहेतुक त्रिकाली भाव को पारिणामिक कहते हैं। किन्तु सासादन अनन्तानुबन्धी के उदय से उत्पन्न होने के कारण सहेतुक है अतः वह पारिणामिक नहीं हो सकता ?

समाधान—जो कर्मों के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना अन्य कारणों से उत्पन्न हुआ परिणाम है वह पारिणामिक कहा जाता है, न कि निष्कारणभाव को पारिणामिक कहते हैं। क्योंकि कारण के बिना उत्पन्न परिणाम का अभाव है।

शंका—सत्त्व प्रमेयत्व आदि भाव कारण के बिना भी उत्पन्न हुए पाये जाते हैं ?

समाधान—नहीं, क्योंकि विशेष सत्त्व आदि रूप से नहीं परिणत होनेवाले सत्त्वादि सामान्य नहीं पाये जाते। अतः विवक्षित दर्शनमोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम से उत्पन्न न होने से सासादन सम्यक्त्व निष्कारण है और इसीलिए पारिणामिक है।

शंका—अनन्तानुबन्धी कषायों के उदय से सासादन गुणस्थान होता है अतः उसे औदयिक भाव क्यों नहीं कहते ?

समाधान—नहीं, क्योंकि दर्शनमोहनीय के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम के बिना उत्पन्न होने से सासादन गुणस्थान का कारण चारित्रमोहनीय है और उसके दर्शनमोहनीय होने का विरोध है।

शंका—अनन्तानुबन्धी तो उभयमोहनीय है—चारित्रमोहनीय के साथ दर्शनमोहनीय भी है ?

समाधान—भले ही वह उभयमोहनीय हो, किन्तु यहाँ वैसी विवक्षा नहीं है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ चरित्रमोहनीय ही है ऐसी विवक्षा होने से सासादन गुणस्थान को पारिणामिक कहा है।

आदि के चार गुणस्थानों में भावों की प्ररूपणा में दर्शनमोहनीय कर्म के सिवाय शेष कर्मों के उदय की विवक्षा नहीं है। सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरक में जन्म नहीं लेता। तथा सब लब्ध्यपर्याप्तकों में, साधारण काय में, सब सूक्ष्मकायों और तेजकाय वायुकाय में सासादन गुणस्थान नहीं होता। अर्थात् सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर इनमें जन्म नहीं लेता। सासादन गुणस्थान को उपशमसम्यग्दृष्टि ही प्राप्त करते हैं। किन्तु भूतबलि आचार्य के उपदेशानुसार, उपशमश्रेणी से उतरता हुआ द्वितीयोपशम सम्यग्दृष्टि सासादन गुणस्थान को प्राप्त नहीं होता। सासादन सम्यक्त्व का काल बीतने पर सासादन सम्यग्दृष्टि नियम से मिथ्यादृष्टि होता है। उपशमसम्यक्त्व में शेष बचा काल ही सासादन का काल होता है।

३. मिश्र या सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान

जिसकी दृष्टि-श्रद्धा-रुचि-प्रतीति सम्यक् और मिथ्या दोनों प्रकार की होती है उसको सम्यक्-मिथ्यादृष्टि कहते हैं।

शंका—एक जीव मे एक साथ सम्यक् और मिथ्यादृष्टि सम्भव नही है क्योंकि इन दोनो के एक साथ एक जीव में रहने में विरोध आता है। यदि कहोगे कि ये दोनों दृष्टियाँ एक जीव में क्रम से रहती हैं तो उनका अन्तर्भाव सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि गुणस्थानों में हो जाता है।

समाधान—हम एक साथ सम्यक् और मिथ्या रुचि वाले जीव को सम्यक्-मिथ्यादृष्टि मानते हैं और इसमें कोई विरोध नहीं; क्योंकि अनेकान्तस्वरूप आत्मा में अनेक धर्मों का सह अनवस्थान रूप विरोध असिद्ध है। आत्मा का अनेकान्तरूप होना असिद्ध नही है, अनेकान्त के बिना उसमें अर्थक्रिया नही बनती।

शंका—एक आत्मा में एक साथ रहने में अविरोधी बहुत से धर्म रह सकते हैं, किन्तु सब धर्म नहीं रह सकते?

समाधान—यह कौन कहता है कि सभी धर्म आत्मा में एक साथ रहते हैं। ऐसा मानने से चैतन्य-अचैतन्य, भव्यत्व-अभव्यत्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों के भी एक साथ रहने का प्रसंग प्राप्त होता है। किन्तु जिस आत्मा में जिन धर्मों का अत्यन्ताभाव नहीं है वहाँ उन धर्मों का अस्तित्व किसी काल में और किसी क्षेत्र में एक साथ स्वीकार करते हैं। ये दोनों समीचीन और असमीचीन श्रद्धाएँ क्रम से एक आत्मा में होती हैं, अतः कदाचित् इन दोनों का उस आत्मा में एक साथ रहना संभव है। यह कथन काल्पनिक नहीं है क्योंकि पूर्व में स्वीकार किये गये देवता को त्यागकर अर्हन्त भी देव हैं, ऐसा अभिप्रायवाला पुरुष पाया जाता है।

'गोम्मटसार' जीवकाण्ड में कहा गया है—जात्यन्तर रूप सर्वघाती सम्यक्-

मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से केवल सम्यक्त्व या केवल मिथ्यात्व रूप परिणाम न होकर जो मिश्ररूप परिणाम होता है उसको तीसरा मिश्र गुणस्थान कहते हैं। दही और गुड़ के मिले हुए स्वाद की तरह, जिसका पृथक् करना शक्य नहीं है, मिले हुए भाव को सम्यग्मिथ्यात्व गुणस्थान कहते हैं।

'तत्त्वार्थवार्तिक' में कहा है—जैसे जिसकी मादक शक्ति कुछ क्षीण हो गई है और कुछ क्षीण नहीं हुई है ऐसे कोदों के खाने से मिला-जुला मदपरिणाम होता है, वैसे ही सम्यक्-मिथ्यात्व नामक प्रकृति के उदय से श्रद्धान और अश्रद्धान परिणाम-वाला आत्मा सम्यग्मिथ्यादृष्टि कहलाता है।

इस गुणस्थान में न मरण होता है और न मारणान्तिक समुद्घात होता है। इस गुणस्थान से जीव पहले या चौथे में ही जाता है तथा वेदक सम्यग्दृष्टि, उपशम सम्यग्दृष्टि और मोहनीय कर्म की 28 प्रकृतियों की सत्तावाले मिथ्यादृष्टि जीव इस गुणस्थान में आते हैं। इसमें ज्ञान भी सम्यक् और मिथ्या दोनों रूप होता है। क्योंकि जात्यन्तर रूप सम्यग्मिथ्यात्व कर्म जात्यन्तर रूप परिणाम ही उत्पन्न करने में निमित्त होता है।

तीसरे गुणस्थान में क्षायोपशमिक भाव होता है। वह इस प्रकार है—वर्तमान में मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदयाभावी क्षय होने से तथा सत्ता में रहने वाले उसी मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धको का उदयाभाव लक्षण उपशम होने से और सम्यग्मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय होने से सम्यग्-मिथ्यात्व गुणस्थान होता है इसलिए वह क्षायोपशमिक है।

शंका—तीसरे गुणस्थान में सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति का उदय होने से औदयिक भाव क्यों नहीं है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से जिस प्रकार सम्यक्त्व का निरन्वय नाश होता है उस प्रकार सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से सम्यक्त्व का निरन्वय नाश नहीं होता। इसलिए तीसरे गुणस्थान में औदयिक भाव न कह कर क्षायोपशमिक भाव कहा है।

शंका—सम्यक्-मिथ्यात्व का उदय सम्यग्दर्शन का निरन्वय नाश तो करता नहीं, फिर उसे सर्वघाती क्यों कहा ?

समाधान—वह सम्यग्दर्शन की पूर्णता को रोकता है। इस अपेक्षा से सम्यग्-मिथ्यात्व को सर्वघाती कहा है।

शंका—जिस तरह मिथ्यात्व के क्षयोपशम से तीसरे गुणस्थान की उत्पत्ति कही है उसी प्रकार अनन्तानुबन्धी के सर्वघाती स्पर्द्धकों के क्षयोपशम से क्यों नहीं बतलाई ?

समाधान—नहीं, क्योंकि अनन्तानुबन्धी कषाय चारित्र की प्रतिबन्धक है।

जो अनन्तानुबन्धी के क्षयोपशम से तीसरे गुणस्थान की उत्पत्ति मानते हैं उनके मत से सासादन गुणस्थान को औदयिक मानना होगा। परन्तु ऐसा नहीं माना गया है।

अथवा सम्यक् प्रकृति के देशघाती स्पर्द्धकों का उदय-क्षय होने से और सत्ता में विद्यमान उन्हीं देशघाती स्पर्द्धकों का उदयाभाव लक्षण उपशम होने से और सम्यक्-मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय होने से सम्यक्-मिथ्यात्व गुण-स्थान होता है इसलिए वह क्षायोपशमिक है। यहाँ जो इस प्रकार सम्यक्-मिथ्यात्व गुणस्थान को क्षायोपशमिक कहा है वह सिद्धान्त में प्रवेश करने वालों के व्युत्पादन के लिए कहा है। वास्तव में तो सम्यक्-मिथ्यात्व कर्म निरन्वय रूप से आप्त आगम और पदार्थ विषयक रुचि का नाश करने में असमर्थ है। उसके उदय से सत् और असत् पदार्थ को विषय करने वाली श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसलिए सम्यक्-मिथ्यात्व गुण-स्थान क्षायोपशमिक है। यदि ऐसा न माना जावे तो उपशम सम्यग्दृष्टि के सम्यक्-मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त होने पर उस गुणस्थान में क्षयोपशमपना नहीं बन सकता। क्योंकि उपशम सम्यक्त्व से तीसरे गुणस्थान में आये जीव के सम्यक् प्रकृति, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी का उदयाभावी क्षय नहीं पाया जाता।

शंका—उपशम सम्यक्त्व से तीसरे गुणस्थान में आये हुए जीव के उक्त तीनों कर्मों का उदयाभाव रूप उपशम तो है?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर औपशमिक भाव का प्रसंग प्राप्त होता है।

शंका—तो तीसरे गुणस्थान में औपशमिक भाव ही रहा आवे?

समाधान—नहीं, क्योंकि उसका कथन करनेवाले आगम का अभाव है। दूसरे, यदि इस प्रकार तीसरे गुणस्थान में क्षयोपशम भाव माना जाता है तो मिथ्यात्व गुणस्थान को भी क्षायोपशमिक मानना होगा; क्योंकि सादि मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में भी सम्यक्त्व प्रकृति और सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति के उदय प्राप्त स्पर्द्धकों का क्षय होने से, सत्ता में स्थित उन्हीं स्पर्द्धकों का उदयाभाव लक्षण उपशम होने से तथा मिथ्यात्व कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों का उदय होने से मिथ्यात्व गुणस्थान की उत्पत्ति पायी जाती है।

उक्त कथन 'धवला' के प्रथम भाग में आया है। सप्तम पुस्तक में इस प्रकार से शंका-समाधान है—

शंका—सम्यक्-मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय से सम्यग्मिथ्यादृष्टि होता है इसलिए उसके क्षायोपशमिक भाव युक्त नहीं है।

समाधान—सम्यक्त्व की अपेक्षा भले ही सम्यक्-मिथ्यात्व के स्पर्द्धकों में सर्वघातीपना हो, किन्तु अशुद्धनय की विवक्षा में सम्यक्-मिथ्यात्व प्रकृति के स्पर्द्धकों में सर्वघातीपना नहीं होता; क्योंकि उनके उदय में भी मिथ्यात्व से मिश्रित

सम्यक्त्व का कण पाया जाता है। सर्वघाती स्पर्द्धक उन्हें कहते हैं जिनका उदय होने से गुण का पूर्णरूप से घात होता है। किन्तु तीसरे गुणस्थान में सम्यक्त्व गुण का निर्मूल विनाश नहीं देखा जाता; क्योंकि सद्भूत और असद्भूत पदार्थों में समान रूप से श्रद्धान देखा जाता है। अतः सम्यक्-मिथ्यात्व को क्षायोपशमिक भाव मानना युक्त है।

४. असंयत या अविरत-सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

जिसकी दृष्टि श्रद्धा समीचीन होती है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं और असंयत या अविरत सम्यग्दृष्टि को असंयत या अविरत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—क्षायिक सम्यग्दृष्टि, वेदक सम्यग्दृष्टि और उपशम सम्यग्दृष्टि। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र गुणों का घात करनेवाली अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ तथा मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति दर्शनमोह की ये तीन प्रकृतियाँ—इन सात प्रकृतियों के पूर्ण क्षय से क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। इन्हीं सात प्रकृतियों के उपशम से उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। तथा दर्शनमोहनीय के भेद सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से वेदक सम्यग्दृष्टि होता है। उनमें से क्षायिक सम्यग्दृष्टि कभी भी मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता, जिनोक्त तत्त्वों में सन्देह नहीं करता, मिथ्यात्व का चमत्कार देखकर या मिथ्यादृष्टियों की ऋद्धि-सिद्धि देखकर अचरज नहीं करता। उपशम सम्यग्दृष्टि भी ऐसा ही होता है किन्तु परिणामों के कारण मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त होता है। सासादन गुणस्थान को भी प्राप्त होता है, सम्यक्-मिथ्यात्व गुणस्थान को भी प्राप्त होता है और उपशम-सम्यक्त्व से वेदक-सम्यक्त्व को भी प्राप्त करता है। किन्तु वेदक-सम्यग्दृष्टि का श्रद्धान शिथिल होता है, जैसे वृद्ध पुरुष लाठी को शिथिलता से ग्रहण करता है। कुयुक्तियों और खोटे दृष्टान्तों से प्रभावित होकर वह झट से सम्यक्त्व की विराधना कर देता है।

पाँच प्रकार के भावों में से क्षायिक सम्यग्दृष्टि के क्षायिक भाव होता है। औपशमिक सम्यग्दृष्टि के औपशमिक भाव होता है और देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न वेदक-सम्यक्त्व क्षायोपशमिक होता है।

कुछ आचार्यों का मत है कि मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय के क्षय से और सत्ता में विद्यमान उन्हीं सर्वघाती स्पर्द्धकों के सदवस्थारूप उपशम से अथवा सम्यक्-मिथ्यात्व के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयक्षय से और सत्ता में स्थित उन्हीं सर्वघाती स्पर्द्धकों के सदवस्थारूप उपशम से तथा इन दोनों ही अवस्थाओं में देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के स्पर्द्धकों के उदय से यह उत्पन्न होता है, इसलिए वेदक-सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है। किन्तु धवलाकार ने इसे नहीं माना है। इस गुणस्थान के साथ प्रयुक्त असंयत पद नीचे के सब गुणस्थानों

में संयम के अभाव का सूचक है तथा सम्यग्दृष्टि पद ऊपर के सभी गुणस्थानों में अनुस्यूत होता है। कहा भी गया है—

सम्यग्दृष्टि जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन का श्रद्धान करता है किन्तु स्वयं किसी तत्त्व को नहीं जानता हुआ गुरु के कहने से विपरीत अर्थ का भी श्रद्धान करता है।

जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं है किन्तु जिनोक्त तत्त्वों का श्रद्धान करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

'तत्त्वार्थवार्तिक' में कहा है—औपशमिक, क्षायोपशमिक अथवा क्षायिक सम्यकत्व से युक्त होने के साथ चारित्रमोह के उदय से जिसके अत्यन्त अविरतिरूप परिणाम होते हैं वह अविरत सम्यग्दृष्टि होता है।

'बृहद् द्रव्य-संग्रह' टीका में कहा है—निज परमात्म द्रव्य उपादेय है तथा इन्द्रिय सुख आदि पर-द्रव्य त्याज्य है, इस प्रकार अर्हन्त सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत निश्चय और व्यवहार नयों को साध्य-साधक भावरूप से मानता है। किन्तु भूमि की रेखा के समान क्रोध आदि अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से, मारने के लिए कोतवाल द्वारा पकड़े गये चोर की तरह अपनी निन्दा आदि करता हुआ इन्द्रिय-सुख को भोगता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

५. संयतासंयत गुणस्थान

जो संयत होते हुए भी असंयत है वह संयतासंयत है।

शंका—जो संयत होता है वह असंयत नहीं हो सकता है, और जो असंयत होता है वह संयत नहीं होता, क्योंकि दोनों में विरोध है। अतः यह गुणस्थान नहीं बनता?

समाधान—विरोध दो प्रकार का है—परस्परपरिहार रूप और सहानवस्थान रूप। इनमें से एक द्रव्य के गुणों में परस्पर परिहारलक्षण विरोध इष्ट है क्योंकि यदि ऐसा न हो तो एक गुण अन्य गुणरूप होने से उनके स्वरूप की हानि का प्रसंग आता है। किन्तु गुणों में एक साथ नहीं रहने रूप सहानवस्थान लक्षण विरोध सम्भव नहीं है। यदि सम्भव हो अर्थात् यदि एक वस्तु में अनेक गुण एक साथ न रहें तो वस्तु का अस्तित्व ही नहीं बन सकता; क्योंकि वस्तु का सद्भाव अनेकान्त-मूलक है। जो अर्थक्रिया करने में समर्थ है वह वस्तु है। किन्तु एकान्त में वह अर्थक्रिया नहीं बनती। एक ही आत्मा में संयमभाव और असंयमभाव के कारण भिन्न-भिन्न हैं। त्रस जीवों की हिंसा से विरत होने से संयम भाव है और स्थावर जीवों की हिंसा से विरत न होने से असंयम भाव है।

संयमासंयम भाव क्षायोपशमिक है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्या-नावरण क्रोध-मान-माया-लोभ—इन आठ कषायों के उदयक्षय से और आगामी

काल में उदय में आने योग्य उनके सदवस्थारूप उपशम से तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय, संज्वलन का तथा यथासम्भव नोकषाय का उदय होने पर संयमासंयम भाव होता है।

संयतासंयत के तीनों में से कोई भी एक सम्यग्दर्शन होता है। यह गुणस्थान कर्मभूमिज आर्यखण्ड के मनुष्यों के तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के ही होता है। किन्तु तिर्यंचों में क्षायिक सम्यक्त्व के साथ नहीं होता। इस गुणस्थानवर्ती व्रती श्रावक होते हैं। उनके ग्यारह भेद आगम में कहे गये हैं।

शंका—सम्यक्त्व के विना भी देशसंयमी श्रावक देखे जाते हैं?

समाधान—नहीं, क्योंकि जिसको मोक्ष की इच्छा नहीं है और विषयों की प्यास सताती है उसके देशसंयम नहीं हो सकता। इससे आगे के सभी गुणस्थान संयमियों के ही होते हैं। और, पूर्ण संयम मनुष्यगति में ही सम्भव है।

६. प्रमत्त-संयत गुणस्थान

यह संयमियों का प्रथम गुणस्थान है। प्रकर्ष रूप से मत्त जीवों को प्रमत्त कहते हैं और सम्यक् रूप से विरतों को सयत कहते हैं। जो प्रमत्त होते हुए भी संयत हैं वे प्रमत्तसंयत हैं।

शंका—यदि छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्त हैं तो संयत नहीं हो सकते, क्योंकि प्रमत्त जीवों को स्वरूप का संवेदन नहीं हो सकता। यदि संयत हैं तो प्रमत्त नहीं हो सकते; क्योंकि संयम भाव प्रमाद के परिहार रूप होता है।

समाधान—ऐसा नहीं है; क्योंकि हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह से विरति का नाम संयम है, जो पाँच समिति और तीन गुप्तियों से भी सुरक्षित हो। प्रमाद से यह संयम नष्ट नहीं होता, केवल उससे संयम में मल पैदा होता है।

शंका—छठे गुणस्थान में संयम में मल उत्पन्न करनेवाला ही प्रमाद लिया गया है, संयम का विनाशक प्रमाद नहीं लिया गया यह कैसे जाना?

समाधान—उसके बिना संयम का सद्भाव नहीं बन सकता। क्षणस्थायी अत्यन्त मंद प्रमाद संयम का विनाशक नहीं है; क्योंकि सकल संयम को रोकने-वाले प्रत्याख्यानावरण के अभाव में संयम का विनाश नही पाया जाता।

यहाँ प्रमत्त शब्द अन्त दीपक होने से पहले के सभी गुणस्थानों में प्रमाद का अस्तित्व सूचित करता है।

संयम की अपेक्षा यह गुणस्थान क्षायोपशमिक है; क्योंकि प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयक्षय से तथा आगामीकाल में उदय में आने योग्य उन्हीं सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयाभाव रूप उपशम से और संज्वलन कषाय के उदय से संयम उत्पन्न होता है।

शंका—संज्वलन के उदय के होने से संयम औदायिक क्यों नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि संज्वलन के उदय से संयम उत्पन्न नहीं होता।

शंका—तो संज्वलन का व्यापार कहाँ होता है ?

समाधान—प्रत्याख्यानावरण के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयक्षय से उत्पन्न संयम में मल उत्पन्न करने में उसका व्यापार है।

इस गुणस्थान में तीनों में से कोई भी सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन के बिना संयम नहीं होता; क्योंकि देव, शास्त्र और पदार्थों में जिसकी श्रद्धा नहीं है और जिसका चित्त तीन मूढ़ताओं से लिप्त है उसके संयम नहीं हो सकता।

'द्रव्यसंग्रह' की टीका में कहा है—वही सम्यग्दृष्टि धूल की रेखा के समान क्रोध आदि प्रत्याख्यानावरण कषायों के उदय का अभाव होने पर अभ्यन्तर में निश्चयनय से रागादि उपाधि से रहित अपने शुद्ध आत्मा के संवेदन से उत्पन्न सुख रूपी अमृत का अनुभव रूप लक्षणवाले तथा बाह्य विषयों में सम्पूर्ण रूप से हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह से निवृत्तिरूप पाँच महाव्रतों में जब क्रियाशील होता है तब दुःस्वप्न आदि व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद से सहित होने पर भी छठा गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयत होता है।

स्त्रीकथा, भोजनकथा, राष्ट्रकथा और राजकथा—ये चार विकथाएँ; क्रोध-मान-माया-लोभ ये चार कषायें; स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत—ये पाँच इन्द्रियाँ; तथा निद्रा और स्नेह इस प्रकार ये पन्द्रह प्रमाद हैं। जो इन व्यक्त और अव्यक्त प्रमादों से सहित संयमी है वह प्रमत्तसंयत है। वह समस्त गुणों और शीलों से युक्त होता है, महाव्रती होता है किन्तु उसका आचरण चित्रल अर्थात् सदोष होता है।

७. अप्रमत्त-संयत गुणस्थान

प्रमत्तसंयतों का लक्षण पहले ही कहा है। जो प्रमत्तसंयत नहीं हैं अर्थात् पन्द्रह प्रमादों से रहित संयमी है वे अप्रमत्तसंयत हैं। यह भी क्षायोपशमिक है; क्योंकि प्रत्याख्यानावरण कर्म के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदयक्षय और सत्ता में स्थित उन्हीं का उपशम होने तथा संज्वलन कषाय के उदय से इसकी उत्पत्ति होती है। कहा भी है—जिसके व्यक्त और अव्यक्त सभी प्रकार के प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत गुण और शील से शोभित है, ध्यान में लीन रहता है, किन्तु अभी उपशम और क्षपक श्रेणी में नहीं है वह ज्ञानी अप्रमत्तसंयत है।

'गोम्मटसार जीवकाण्ड' में इसके दो भेद कहे गये हैं—स्वस्थानाप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। ऊपर जो स्वरूप कहा है वह स्वस्थानाप्रमत्त का है। इस गुणस्थान से ऊपर दो श्रेणी प्रारम्भ होती हैं—उपशम श्रेणी और क्षपक श्रेणी। प्रत्येक में चार-चार गुणस्थान होते हैं। जिसमें आत्मा मोहनीय कर्म का उपशम करते हुए आरोहण करता है वह उपशमश्रेणी है और जिसमें उसका क्षय करते

हुए चढ़ता है वह क्षपकश्रेणी है। मोहनीय कर्म की इक्कीस प्रकृतियों के क्षय और उपशम में निमित्त तीन प्रकार के परिणामों में से जो पहले अधःप्रवृत्तरूप परिणामों को करता है उसे सातिशय अप्रमत्त कहते हैं, उसी प्रकार जिस प्रकार प्रथमोपशम सम्यकत्व के अभिमुख जीव सातिशय मिथ्यादृष्टि होता है।

अप्रमत्तसंयत के संक्लेश की वृद्धि होने पर प्रमत्तसंयत गुणस्थान ही होता है और विशुद्धि की वृद्धि होने पर अपूर्वकरण गुणस्थान ही होता है। यदि मरण होता है तो चतुर्थ गुणस्थान होता है, उसका अन्य गुणस्थानों में गमन नहीं होता। मिथ्यादृष्टि एक साथ सम्यक्त्व के साथ सातवें गुणस्थान को प्राप्त कर सकता है। मिथ्यादृष्टि, सम्यक्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्तसंयत—ये सब सीधे अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। अवरोहण की अपेक्षा से अपूर्वकरण गुणस्थानवर्ती ही अप्रमत्त गुणस्थान को प्राप्त होता है अन्य नहीं। तथा अप्रमत्त ही प्रमत्तसंयत गुणस्थान को प्राप्त होता है अन्य नहीं। प्रमत्त और अप्रमत्त गुणस्थानों का उत्कृष्ट काल अन्तर्मुहूर्त है।

८. अपूर्वकरण

करण का अर्थ परिणाम है और जो पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। तात्पर्य यह है कि नाना जीवों की अपेक्षा आदि से लेकर प्रत्येक समय में क्रम से बढ़ते हुए असख्यात लोकप्रमाण परिणामवाले इस गुणस्थान के अन्तर्गत विवक्षित समयवर्ती जीवों को छोड़कर अन्य समयवर्ती जीवों के द्वारा अप्राप्य परिणाम अपूर्व कहलाते हैं।

इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है और प्रतिसमय क्रम से बढ़ते हुए असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम होते हैं। भिन्न समय में रहनेवाले जीवों के परिणाम जो पहले नहीं हुए ऐसे अपूर्व परिणाम होते हैं। इसी से इसका नाम अपूर्वकरण है। इसमें दिये गये अपूर्व विशेषण से अधःप्रवृत्त परिणामों का निराकरण किया गया है। क्योंकि अधःप्रवृत्त में ऊपर के समयवर्ती जीवों के परिणाम नीचे के समयों में रहने वाले जीवों के परिणामों के समान भी होते हैं और असमान भी होते हैं। किन्तु अपूर्वकरण में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम कभी भी समान नहीं होते। अपूर्व अपूर्व ही होते हैं। यह गुणस्थान उपशम और क्षपक दोनों श्रेणियों में आता है। यद्यपि यहाँ मोह का न तो उपशम होता है, न क्षय होता है। किन्तु आगे किये जाने वाले उपशम और क्षय की अपेक्षा उपचार से इसे उपशमक और क्षपक कहते हैं। उपशमक के औपशमिक भाव और क्षपक के क्षायिक भाव होता है।

सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षपक के क्षायिक भाव होता है, क्योंकि जिसने दर्शन-

मोह का क्षय नहीं किया वह क्षपकश्रेणी पर नहीं चढ़ सकता। किन्तु उपशमक के औपशमिक या क्षायिकभाव होता है, क्योंकि जिसने दर्शनमोह का उपशम या क्षय किया है वही उपशमश्रेणी पर चढ़ सकता है।

९. अनिवृत्ति-बादर-साम्पराय

समान समयवर्ती जीवों के परिणामों की भेदरहित वृत्ति को निवृत्ति कहते हैं। जिन परिणामों की निवृत्ति अर्थात् व्यावृत्ति नहीं है उन्हें अनिवृत्ति कहते हैं। इस गुणस्थान में प्रथमादि समयवर्ती जीवों का द्वितीयादि समयवर्ती जीवों के साथ परिणामों की अपेक्षा भेद है। साम्पराय का अर्थ है कषाय और बादर स्थूल को कहते हैं। इस तरह स्थूल कषाय को बादर-साम्पराय कहा जाता है।

आगम में कथन है—अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त मात्र काल में किसी एक समय में रहनेवाले अनेक जीव जैसे आकार, रूप-रंग आदि से परस्पर भिन्न होते हैं उसी प्रकार जिन परिणामों को लेकर उनमें भेद नहीं होता उन परिणामवाले जीवों को अनिवृत्तिकरण वाले जीव कहा जाता है। उनके प्रत्येक समय में एक ही परिणाम होता है तथा वे अपूर्वकरण की अपेक्षा निर्मल ध्यानरूपी अग्नि की शिखाओं से कर्मवन को जलाते हैं।

इस गुणस्थान में जीव मोह की कितनी ही प्रकृतियों का उपशमन करता है और कितनी ही प्रकृतियों का आगे उपशमन करेगा इस अपेक्षा से यह गुणस्थान औपशमिक है। कितनी ही प्रकृतियों का क्षय करता है और कितनी ही प्रकृतयों का आगे क्षय करेगा, इस अपेक्षा से क्षायिक है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से चारित्र-मोह का क्षय करनेवाले के यह गुणस्थान क्षायिक भाव रूप है। क्योंकि क्षपकश्रेणी में दूसरा भाव सभव नहीं है। तथा चारित्रमोह का उपशम करनेवाले के यह गुण-स्थान औपशमिक और क्षायिक दोनों भावरूप है क्योंकि उपशम श्रेणी में औपशमिक और क्षायिक दोनों सम्यक्त्व सम्भव हैं।

शंका—जितने परिणाम हैं उतने ही गुणस्थान क्यों नहीं कहे ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जितने परिणाम होते हैं उतने ही गुणस्थान मानने से व्यवहार नहीं चल सकता। इसलिए द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा नियत संख्यावाले ही गुणस्थान कहे हैं।

अनिवृत्तिकरण के साथ बादर-साम्पराय पद अन्त दीपक होने से यह सूचित करता है कि पहले के सब गुणस्थान बादर कषायवाले हैं। 'द्रव्यसंग्रह' की टीका में कहा है—देखे, सुने और अनुभूत भोगों की इच्छा आदि रूप समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित अपने निश्चल परमात्मस्वरूप के एकाग्र ध्यानरूप परिणाम से जिन जीवों के एक समय में अन्तर नहीं होता वे नवम गुणस्थानवर्ती उपशमक या

क्षपक होते हैं। वे अप्रत्याख्यानावरण आदि चारित्रमोहनीय की इक्कीस प्रकृतियों के उपशमन और क्षपण में समर्थ होते हैं।

१०. सूक्ष्मसाम्पराय

जिस गुणस्थान में कषाय को सूक्ष्म कर दिया जाता, केवल सूक्ष्म लोभ कषाय का वेदन रहता है उसे सूक्ष्मसाम्पराय कहते हैं। कितनी ही प्रकृतियों का क्षय करता है, क्षय करेगा और पहले क्षय कर चुका है अतः क्षायिकभाव है। तथा कितनी ही प्रकृतियों का उपशम करता है, आगे उपशम करेगा तथा पहले भी उपशम कर चुका है अतः औपशमिक भाव है।

११. उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ

जिनकी कषाय उपशान्त हो गयी है वे उपशान्तकषाय हैं और जिनका राग नष्ट हो गया है वे वीतराग हैं। ज्ञानावरण एवं दर्शनावरण को छद्म कहते हैं जो उनमें रहते है वे छद्मस्थ हैं। इस वीतराग विशेषण से दसवें गुणस्थान में समस्त कषायें उपशान्त हो जाती हैं अतः इसमें औपशमिक भाव ही है। सम्यग्दर्शन की अपेक्षा क्षायिक और औपशमिक भाव है। इस गुणस्थान का काल जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तर्मुहूर्त है। उसके पश्चात् नियम से उसका पतन होता है पतन के दो कारण हैं—मृत्यु का आना या गुणस्थान का काल समाप्त होना। यदि गुणस्थान का काल समाप्त होने से गिरता है तो जिस प्रकार चढ़ता है उसी प्रकार गिरता है।

१२. क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ

जिनकी कषाय पूर्णरूप से नष्ट हो गयी हैं वे क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ होते हैं। इस गुणस्थान में दोनों प्रकार के मोहनीय कर्म का नाश हो जाता है। अतः यहाँ केवल क्षायिक भाव है।

१३. सयोग केवली

केवल पद से यहाँ केवलज्ञान का ग्रहण किया है। जिसमें इन्द्रिय, प्रकाश और मन की अपेक्षा नहीं होती उसे केवल कहते हैं। ऐसा निरपेक्ष ज्ञान जिनके होता है उन्हें केवली कहते हैं। मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को योग कहते हैं। जो योग के साथ रहते हैं वे सयोग हैं। इस तरह जो सयोग होते हुए केवली हैं वे सयोगकेवली हैं। सयोग पद अन्तदीपक होने से नीचे के सब गुणस्थानों को सयोग बतलाता है। इस गुणस्थान में चारों घातिया कर्मों का क्षय हो जाने से तथा वेद-

नीय कर्म को शक्तिहीन कर देने से अथवा आठों ही कर्मों की भेदरूप साठ प्रकृतियों के नष्ट हो जाने से क्षायिक भाव होता है।

१४. अयोग केवली

जिनके योग नहीं है उन्हें अयोग कहते हैं। जो योगरहित होते हुए भी केवली होते है उन्हें अयोगकेवली कहते हैं। इस गुणस्थान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है।

मुक्त जीवों के कोई गुणस्थान नहीं होता। वे गुणस्थानातीत होते हैं।

८. मार्गणा

परमागम में जीव जिस प्रकार देखे गये हैं उसी प्रकार से वे जिन गति आदि पर्यायों के द्वारा अथवा जिन गति आदि पर्यायों में खोजे जाते हैं उन्हें मार्गणा कहते हैं। मार्गणा का अर्थ है खोजना। जीव तो अमूर्तिक है, वह इन्द्रियों का विषय नहीं है अतः जिन चौदह उपायों से जीवों को खोजा जाता है उन्हें मार्गणा कहते हैं।

'षट्खण्डागम' पु० १ में चौथे सूत्र की धवला टीका में यह शंका की गयी है कि जगत् में चार बातों के द्वारा मार्गणा होती हुई देखी जाती है—

मृगयिता—खोजनेवाला, मृग्य—जिसे खोजना है, मार्गण—खोजना और मार्गण के उपाय। यहाँ वे नहीं है अतः मार्गण नहीं बनता। उत्तर में कहा गया है—ऐसा नहीं है, यहाँ भी वे चारों हैं। वे इस प्रकार हैं—मृगयिता या खोज करनेवाला तो तत्त्वार्थ का श्रद्धालु भव्य जीव है। चौदह गुणस्थानों से युक्त जीव मृग्य हैं, उनकी खोज करना है। चौदह गुणस्थान युक्त जीवों के आधारभूत एवं खोजनेवाले भव्यजीव के खोज करने में साधकतम गति आदि मार्गणा हैं तथा गुरु-शिष्य आदि मार्गणा के उपाय हैं।

अकलंकदेव ने अपने 'तत्त्वार्थवार्तिक' (९।७।१०) में धर्मानुप्रेक्षा का उल्लेख करते हुए कहा है—धर्म का लक्षण है स्वतत्त्व की विचारणा। अर्थात् मार्गणा-स्थानों में गुणस्थान विशिष्ट जीवों का विचार और इसका जिनशासन में भली-भाँति विस्तार से कथन किया गया है। षट्खण्डागम और कसायपाहुड सिद्धान्त-ग्रन्थों में तथा उनकी धवला जयधवला टीका में सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव और अल्पबहुत्व इन अनुयोगों के द्वारा चौदह गुणस्थान विशिष्ट जीवों का ही विचार किया गया है। यद्यपि ये गुणस्थान आदि जीव के स्वरूप नहीं हैं तथापि इनके बिना संसारी जीवों को नहीं समझा जा सकता। अतः स्वतत्त्व के विचार में कर्म-जन्य भावों की भी उपयोगिता है।

गुणस्थान मार्गणास्थान आदि इसी तरह के भाव हैं। अतः जैसे सिद्धान्त के प्रेमियों को अध्यात्म की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए वैसे ही अध्यात्म के प्रेमियों को सिद्धान्त की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। शुद्ध जीव का वर्णन सीमित है किन्तु संसारी जीव के वर्णन से तो आगम भरा हुआ है। अतः हेय को छोड़ने के लिए हेय को जानना भी आवश्यक है। हेय और उपादेय के ज्ञान के लिए ही तो शास्त्र स्वाध्याय किया जाता है।

१. गति मार्गणा

गति नाम कर्म के उदय से उत्पन्न जीव की पर्याय को गति कहते है। अथवा एक भव से दूसरे भव में गमन करना गति है। ये चार हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति। सिद्धगति या मोक्षगति इनसे विपरीत स्वभाववाली है। वह क्षायिकी है, कर्मों के क्षय होने पर प्रकट होती है।

२. इन्द्रिय मार्गणा

इन्द्र अर्थात् आत्मा के चिह्न विशेष को इन्द्रिय कहते हैं। अथवा इन्द्र अर्थात् नाम कर्म के द्वारा जो रची गई है वह इन्द्रिय है। इन्द्रियाँ पाँच हैं। द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय के भेद से भी इनका वर्गीकरण किया जाता है। क्षयोपशम रूप भावेन्द्रियों के होने पर ही द्रव्येन्द्रियों की उत्पत्ति होती है। अतः भावेन्द्रियाँ कारण हैं और द्रव्येन्द्रियाँ कार्य हैं। इसी से द्रव्येन्द्रियों को भी इन्द्रिय कहते हैं। इन पाँच इन्द्रियों के ही कारण जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय होते है। वे सब कर्मकृत हैं। वस्तुतः आत्मा तो अतीन्द्रिय है और उसका यह अतीन्द्रियपना क्षायिक है।

३. काय मार्गणा

योगरूप आत्मा की प्रवृत्ति से संचित औदारिक आदि रूप पुद्गलपिण्ड को काय कहते है। उस काय से सम्बन्ध रखनेवाले जीव छह प्रकार के हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक। इनमें से प्रथम पाँच स्थावर नामकर्म का उदय होने से स्थावर कहलाते हैं। उनके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। शेष दोइन्द्रिय आदि त्रस नामकर्म का उदय होने से त्रस कहे जाते हैं। नामकर्म का अत्यन्त उच्छेद होने से सिद्ध जीव अकाय हैं।

४. योग मार्गणा

मन-वचन-काय के निमित्त से होनेवाली क्रिया से युक्त आत्मा के वीर्यान्तराय

के क्षयोपशम से जो वीर्यविशेष उत्पन्न होता है वह योग है। यह कर्मों के ग्रहण में कारण होता है। इसके पन्द्रह भेद हैं—चार मनोयोग, चार वचनयोग और सात काययोग। सत्य मनोयोग, असत्य मनोयोग, सत्यासत्य मनोयोग, अनुभय मनोयोग यह चार प्रकार का मनोयोग है। सत्य वचनयोग, असत्य वचनयोग, उभय वचनयोग, अनुभय वचनयोग यह चार प्रकार का वचनयोग है। औदारिक काययोग, औदारिक मिश्र काययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिक मिश्र काययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्र काययोग और कार्मण काययोग यह सात प्रकार का काययोग है। सिद्धों में योग का अभाव क्षायिक है।

५. वेद मार्गणा

आत्मप्रवृत्ति में मैथुनरूप सम्मोह के उत्पन्न होने को वेद कहते हैं। वह नोकषाय विशेष के उदय के निमित्त से होता है। उसके तीन भेद हैं—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद। आत्मा का अपगतवेद होना औपशमिक अथवा क्षायिक है।

६. कषाय मार्गणा

चारित्ररूप परिणामों को घातनेवाली कषाय है। उसके चार भेद हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। आत्मा का अकषायपना औपशमिक अथवा क्षायिक है।

७. ज्ञान मार्गणा

तत्त्वार्थ के बोध को ज्ञान कहते हैं। अतः मिथ्यादृष्टि ज्ञानी नहीं है। जिसके द्वारा द्रव्य-गुण-पर्यायों को जाना जाता है वह ज्ञान है। उसके पाँच भेद हैं। और, मिथ्यादर्शन के उदय से होने वाली कलुषता को अज्ञान कहते हैं। उसके भी तीन भेद हैं।

८. संयम मार्गणा

पाँच व्रतों का धारण, पाँच समितियों का पालन, क्रोधादि कषायों का निग्रह, मान-वचन-कायरूप तीन दण्डों का त्याग और पाँच इन्द्रियों को जीतना संयम है। इसके पाँच भेद हैं। संयम मार्गणा में संयम के साथ संयमासंयम और असंयम भी सम्मिलित हैं। असंयम चारित्रमोह के उदय से होता है और संयम चारित्रमोह के क्षयोपशम, उपशम और क्षय से होता है। सिद्धों में संयम मार्गणा के भेद नहीं होते। वे संयम, संयमासंयम और असंयम रूप परिणामों से रहित होते हैं। उनका यह भाव क्षायिक है।

९. दर्शन मार्गणा

जिसके द्वारा देखा जाये उसे दर्शन कहते हैं। ऐसा लक्षण करने पर चक्षु इन्द्रिय और प्रकाश से अतिप्रसंग दोष नहीं आता; क्योंकि वे दोनों आत्मा के धर्म नहीं है।

शंका—दर्शन का ऐसा लक्षण करने पर ज्ञान और दर्शन में कोई भेद नहीं रहेगा।

समाधान—नहीं, क्योंकि अन्तर्मुख चित्प्रकाश को दर्शन और बहिर्मुख चित्-प्रकाश को ज्ञान माना है। इसलिए दोनों एक नहीं हैं।

शंका—यह चित्प्रकाश या चैतन्य क्या है?

समाधान—त्रिकालवर्ती अनन्त पर्याय रूप जीव के स्वरूप का अपने क्षयोपशम के अनुसार जो संवेदन होता है उसे चैतन्य कहते हैं।

शंका—अपने से भिन्न बाह्य पदार्थों के जानने को प्रकाश कहते हैं इसलिए अन्तर्मुख चैतन्य और बहिर्मुख प्रकाश के होने पर जिसके द्वारा यह जीव स्वरूप को और बाह्य पदार्थों को जानता है वह ज्ञान है ऐसा सिद्ध होने से ज्ञान और दर्शन एक हो जाते हैं। अत: ज्ञान और दर्शन में भेद नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जैसे ज्ञान के द्वारा यह घट है, यह पट है इत्यादि रूप से व्यवस्था होती है उस प्रकार दर्शन के द्वारा नहीं होती अत: दोनों में भेद है।

शंका—यदि ऐसा है तो अन्तरंग सामान्य और बहिरंग सामान्य को ग्रहण करनेवाला दर्शन है और विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान है ऐसा मान लेना चाहिए?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सामान्य-विशेषात्मक वस्तु का एक साथ ग्रहण होता है।

शंका—वह भी रहे, उसमें कोई विरोध नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि आगम में कहा है कि छद्मस्थों के दोनों उपयोग एक साथ नहीं होते, उसके साथ विरोध आता है तथा सामान्य के बिना अकेला विशेष अर्थक्रिया करने में असमर्थ है और जो अर्थक्रिया करने में असमर्थ होता है वह अवस्तु होता है। अत: केवल विशेष को ग्रहण करनेवाला ज्ञान प्रमाण नहीं रहेगा, क्योंकि वह अवस्तु को ग्रहण करता है। इसी तरह दर्शन भी प्रमाण नहीं ठहरेगा। अत: सामान्य विशेषात्मक बाह्य अर्थ का ग्रहण ज्ञान है और सामान्य विशेषात्मक स्वरूप का ग्रहण दर्शन है।

शंका—ऐसा मानने से तो आगम में जो सामान्य के ग्रहण को दर्शन कहा है उसका विरोध होता है?

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि वहाँ सामान्य पद से आत्मा का ग्रहण किया है; क्योंकि आत्मा सकल बाह्य पदार्थों में साधारण रूप से पाया जाने से सामान्य शब्द से कहा गया है और यह बात 'पदार्थों के आकार को न लेकर' इस वचन से जानी जाती है। वह गाथा इस प्रकार है—

जं सामण्णं गहणं भावाणं णेव कट्टुमायारं।
अविसेसदूणमट्ठे दंसणमिदि भण्णदे समए॥

अर्थात्—पदार्थों के आकार को न लेकर, 'यह अमुक पदार्थ है' ऐसा भेद न करके जो सामान्य (आत्मस्वरूप) का ग्रहण है उसे आगम में दर्शन कहा है। सारांश यह है कि ज्ञान के लिए आत्मा का जो व्यापार है अर्थात् विषय और विषयी के संपात से पूर्व अवस्था को दर्शन कहते हैं। उसके चार भेद हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। इनमें से प्रथम तीन दर्शनावरण के क्षयोपशम से और अन्तिम क्षय से होता है।

१०. लेश्या मार्गणा

कषाय से अनुरंजित मनोयोग, वचनयोग, काययोग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। अतः केवल कषाय या केवल योग का नाम लेश्या नहीं है। किन्तु इससे ग्यारहवें आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागियों के जो आगम में लेश्या कही है उसका निषेध न समझना; क्योंकि लेश्या में योग की प्रधानता है, कषाय की प्रधानता नहीं है। कषाय से अनुरंजित यह योगप्रवृत्ति का विशेषण है अतः उसकी प्रधानता नहीं है। इसके छह भेद हैं—कृष्ण, नील, कपोत, पीत, पद्म और शुक्ल। यह भावलेश्या का लक्षण है। शरीर नामकर्म के उदय से द्रव्यलेश्या होती है। अलेश्यापना क्षायिक है।

११. भव्यत्व मार्गणा

जो मोक्ष जाने की योग्यता रखता है वह भव्य है, उससे विपरीत अभव्य है। ये दोनों पारिणामिक भाव हैं। मुक्तजीव न भव्य होते हैं और न अभव्य होते हैं।

१२. सम्यक्त्व मार्गणा

प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य की अभिव्यक्ति जिसका लक्षण है वह सम्यक्त्व है।

शंका—ऐसा लक्षण करने पर तो असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अभाव हो जायेगा ?

समाधान—शुद्धनय का आश्रय करने पर यह कथन सत्य है। अथवा तत्त्वार्थ

के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि आप्त, आगम और पदार्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं और उनके श्रद्धान को, उनमें अनुरक्त होने को, सम्यग्दर्शन कहते हैं।

शंका—पहले कहे लक्षण के साथ इसका विरोध क्यों नहीं है ?

समाधान—ये दोनों लक्षण शुद्धनय और अशुद्धनय का आश्रय लेकर कहे हैं अतः विरोध नहीं है। अथवा तत्त्वरुचि को सम्यक्त्व कहते हैं यह लक्षण अशुद्धतर-नय की अपेक्षा से है।

सम्यक्त्व मार्गणा के छह भेद हैं। उनमें से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन दर्शनमोह के उपशम, क्षयोपशम और क्षय से होते हैं। सासादन सम्यक्त्व अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से होता है अतः औदयिक है। सम्यक्त्व-मिथ्यात्व क्षायोपशमिक है। मिथ्यात्व औदयिक है।

१३. संज्ञी मार्गणा

जो जीव मन के अवलम्बन से शिक्षा, क्रिया, उपदेश और वार्तालाप को ग्रहण करता है उसे संज्ञी कहते है। जो उन शिक्षा आदि को ग्रहण नही कर सकता उसको असंज्ञी कहते है। उनमे से संज्ञिपना क्षायोपशमिक है। असज्ञिपना औदयिक है। उन दोनों का अभाव क्षायिक है।

१४. आहार मार्गणा

औदारिक आदि शरीर के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करना आहार है। उससे विपरीत अनाहार है। उनमें से आहार शरीर नामकर्म के उदय से तथा विग्रहगति नामकर्म के उदय के अभाव से होता है। औदारिकशरीर नाम, वैक्रियिकशरीर-नाम तथा आहारकशरीर नामकर्म के उदय के अभाव से और विग्रहगति नामकर्म के उदय से अनाहार होता है।

चौदह मार्गणाओं में जीवसमास

१. तिर्यंचगति में चौदहों जीवसमास होते हैं। शेष तीन गतियों में संज्ञि-पर्याप्तक और संज्ञि-अपर्याप्तक के भेद से दो-दो होते हैं।

२. एकेन्द्रियों में चार जीवसमास होते हैं। विकलेन्द्रियों में दो-दो और पंचेन्द्रियों में चार होते हैं।

३. पृथ्वी, जल, तेज और वायुकायिकों में चार-चार जीवसमास होते हैं, वनस्पतिकायिकों में छह और त्रसकायिकों में दस होते हैं।

४. मनोयोग में एक जीवसमास संज्ञिपर्याप्तक होता है। वचनयोग में दो-

इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय पर्याप्तक असंज्ञि, संज्ञी पर्याप्तक ये पाँच जीवसमास होते हैं। काययोग में चौदह होते हैं।

५. स्त्रीवेद पुरुषवेद में से प्रत्येक में संज्ञि, असंज्ञि, पर्याप्तक, अपर्याप्तक ये चार होते हैं। नपुंसक वेद में चौदह होते हैं। अवेद में संज्ञिपर्याप्तक नामक एक जीवसमास होता है।

६. चारों कषायों में चौदह भी जीवसमास होते हैं। अकषाय में एक संज्ञि-पर्याप्तक होता है।

७. मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान में चौदह भी होते हैं। विभंगज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में एक संज्ञिपर्याप्तक ही होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधि-ज्ञान में संज्ञिपर्याप्तक और अपर्याप्तक दो होते हैं। केवलज्ञान में एक संज्ञिपर्याप्तक ही होता है।

८. सामायिक छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्म साम्पराय और यथा-ख्यात संयमों में तथा संयमासंयम में एक संज्ञिपर्याप्तक जीवसमास होता है। असंयम में चौदह भी होते हैं।

९. अचक्षुदर्शन में चौदह भी जीवसमास होते हैं। चक्षुदर्शन में चौइन्द्रिय, असंज्ञि, संज्ञि पर्याप्तक ये तीन होते हैं। अवधिदर्शन में संज्ञि पर्याप्तक और अपर्याप्तक दो होते है। केवलदर्शन में संज्ञिपर्याप्तक ही होता है।

१०. आदि की तीन लेश्याओं अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत में चौदह भी जीव-समास होते हैं। पीत, पद्म तथा शुक्ल लेश्याओं में संज्ञिपर्याप्तक एवं अपर्याप्तक दो होते हैं। जिनके लेश्या नहीं है ऐसे अयोगकेवली के एक संज्ञिपर्याप्तक जीवसमास होता है।

११. भव्य और अभव्यों में चौदह भी जीवसमास होते है।

१२. औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन में तथा सासादन सम्यक्त्व में संज्ञिपर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दो जीवसमास होते हैं। मिथ्यात्व में चौदह भी जीवसमास होते हैं।

१३. संज्ञियों में संज्ञिपर्याप्तक तथा अपर्याप्तक दो जीवसमास होते हैं। असंज्ञियों में शेष बारह होते हैं। जो न संज्ञी हैं, न असंज्ञी हैं उनके एक पर्याप्तक ही जीवसमास होता है।

१४. कर्मोदय की अपेक्षा से आहार में चौदह भी होते हैं। अनाहार में सात अपर्याप्तक जीवसमास ही होते हैं। केवलि समुद्घात में और अयोगकेवली में कर्मोदय की अपेक्षा पर्याप्तक जीवसमास होता है।

सिद्ध जीवसमासों से रहित होते हैं।

मार्गणाओं में गुणस्थान विचार

१. नरक गति में नारकियों में पर्याप्त अवस्था में सातों नरकों में आदि के चार गुणस्थान होते हैं। पहले नरक में अपर्याप्त नारकियों में पहला मिथ्यादृष्टि और चौथा असंयत सम्यग्दृष्टि ये दो गुणस्थान होते हैं। शेष नरकों में अपर्याप्तक अवस्था में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है। तिर्यंचगति में तिर्यंचपर्याप्तकों में आदि के पाँच गुणस्थान होते हैं। उनके अपर्याप्तक अवस्था में मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं। तिर्यंची-पर्याप्तकों में आदि के पाँच गुणस्थान होते हैं। अपर्याप्तक तिर्यंचियों में आदि के दो गुणस्थान होते हैं। असंयत सम्यग्दृष्टि मरकर स्त्रियों में जन्म नहीं लेता इससे यहाँ चौथा गुणस्थान नहीं होता। मनुष्यगति में—मनुष्यों में पर्याप्त अवस्था में चौदह भी गुणस्थान होते हैं। अपर्याप्तकों में मिथ्यादृष्टि, सासादन और असंयत सम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं। भावलिंग की अपेक्षा पर्याप्त मानुषियों में चौदह भी गुणस्थान होते हैं किन्तु द्रव्यलिंग की अपेक्षा आदि के पाँच गुणस्थान होते हैं। अपर्याप्त मानुषियों के आदि के दो गुणस्थान होते हैं क्योंकि सम्यग्दृष्टि स्त्रियों में जन्म नहीं लेता। लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य और तिर्यंचों में एक मिथ्या-दृष्टि गुणस्थान ही होता है। देवगति में—भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में पर्याप्त अवस्था में आदि के चार ही गुणस्थान होते हैं। अपर्याप्तकों में आदि के दो होते हैं, उनकी देवियों में और सौधर्म-ऐशानकल्प की देवियों में भी यही क्रम है। सौधर्म-ऐशान से लेकर उपरिम ग्रैवेयक पर्यन्त आदि के चार गुण-स्थान होते हैं। अपर्याप्तकों में मिथ्यादृष्टि, सासादन, असंयत सम्यग्दृष्टि ये तीन गुणस्थान होते हैं। अनुदिश-अनुत्तर विमानवासी देवों में पर्याप्त और अपर्याप्त अवस्था में एक असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान ही होता है।

२. एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय और असंज्ञिपंचेन्द्रियों में एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है। संज्ञि पंचेन्द्रियों में चौदह भी होते हैं।

३. पृथ्वीकायिक से वनस्पति पर्यन्त में एक पहला ही गुणस्थान होता है। त्रसकायिकों में चौदह भी होते हैं।

४. सत्य मनोयोग और अनुभय मनोयोग में संज्ञि मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। असत्य मनोयोग और उभय मनोयोग में संज्ञि मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त बारह गुणस्थान होते हैं। अनुभय वचनयोग में दोइन्द्रिय से लेकर सयोगकेवलिपर्यन्त गुणस्थान होते हैं। सत्य वचन-योग में संज्ञि मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगकेवलिपर्यन्त होते हैं। असत्य वचनयोग में और उभय वचनयोग में संज्ञि मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषायपर्यन्त होते हैं। औदारिक काययोग में सयोगकेवलिपर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। औदारिक

मिश्र काययोग में मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, सयोग-केवली ये चार गुणस्थान होते हैं।

वैक्रियिक काययोग में आदि के चार गुणस्थान होते हैं। वैक्रियिक मिश्र काययोग में सम्यक्-मिथ्यात्व को छोड़कर उनमें से ही तीन गुणस्थान होते हैं। आहारक काययोग एवं आहारक मिश्र काययोग में एक प्रमत्तसंयत गुणस्थान ही होता है। कार्मण काययोग में मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयत सम्यग्-दृष्टि, सयोगकेवली ये चार गुणस्थान होते हैं। अयोग में एक गुणस्थान होता है।

५. स्त्रीवेद तथा पुरुषवेद में असंज्ञि पंचेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिबादर-साम्प-राय पर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। नपुंसक वेद में एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्ति-बादरसाम्पराय पर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं।

६. क्रोध, मान, माया में एकेन्द्रिय से लेकर अनिवृत्तिबादरसाम्पराय पर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। लोभ में सूक्ष्मसाम्पराय पर्यन्त दस गुणस्थान होते हैं।

७. मति अज्ञान तथा श्रुत अज्ञान में एकेन्द्रिय से लेकर सासादन सम्यग्दृष्टि पर्यन्त दो गुणस्थान होते हैं। विभंगज्ञान में संज्ञि मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान होते हैं। सम्यक्-मिथ्यादृष्टि के तीन ज्ञान अज्ञान से मिले हुए होते हैं क्योंकि कारण के अनुसार कार्य होता है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि-ज्ञान में असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। मनःपर्ययज्ञान में प्रमत्तसंयत से क्षीणकषायपर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं। केवलज्ञान में सयोग और अयोग दो होते हैं।

८. सामायिक और छेदोपस्थापना संयम में प्रमत्तसंयत से अनिवृत्तिबादर पर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं। परिहारविशुद्धि संयम में प्रमत्त तथा अप्रमत्त दो गुणस्थान होते हैं। सूक्ष्म-साम्पराय संयम में सूक्ष्म-साम्पराय नामक एक ही गुण-स्थान होता है। यथाख्यात संयम में अन्त के चार गुणस्थान होते हैं। संयमासंयम में संयतासंयत नामक एक ही गुणस्थान होता है। असंयम में आदि के चार गुणस्थान होते हैं।

९. चक्षुदर्शन में चौइन्द्रिय से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त बारह गुणस्थान होते हैं। अचक्षुदर्शन में एकेन्द्रिय से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त होते हैं। अवधिदर्शन में असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त होते हैं। केवलदर्शन में अन्त के दो गुणस्थान होते हैं।

१०. आदि की तीन लेश्याओं में एकेन्द्रिय से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि पर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं। पीत और पद्मलेश्या में संज्ञिमिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त-पर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं। शुक्ललेश्या में संज्ञिमिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। अयोगकेवली लेश्यारहित होते हैं।

११. भव्य के चौदह और अभव्य के एक मिथ्यादृष्टि गुणस्थान ही होता है।

१२. क्षायिक सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि से अयोगकेवली पर्यन्त ग्यारह गुणस्थान होते हैं। वेदक सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि से अप्रमत्त पर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं। औपशमिक सम्यक्त्व में असंयत सम्यग्दृष्टि से लेकर उपशान्त-कषाय पर्यन्त आठ गुणस्थान होते हैं। सासादन सम्यक्त्व, सम्यक् मिथ्यात्व और मिथ्यात्व में उसी नाम का एक-एक गुणस्थान होता है।

नरकों में, प्रथम नरक में तीनों सम्यक्त्व होते हैं। शेष नरकों में वेदक और औपशमिक सम्यक्त्व होते हैं। तिर्यंचों में चौथे गुणस्थान में तीनों सम्यक्त्व होते हैं। किन्तु पंचम गुणस्थान में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, शेष दो होते हैं। तिर्यंचियों में दोनों गुणस्थानों में क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता। शेष दो होते हैं। क्योंकि दर्शनमोह की क्षपणा का प्रारम्भ कर्मभूमि का मनुष्य ही करता है। उसने यदि पहले तिर्यंच की आयु का बन्ध कर लिया है तो वह भोगभूमि में पुरुषतिर्यंच के रूप में जन्म लेता है। और, भोगभूमि में चार ही गुणस्थान होते है। मनुष्यों में तीनों सम्यक्त्व होते है। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क देवों और देवियों में तथा सौधर्मऐशान कल्प की देवियों में क्षायिक सम्यक्त्व नही होता, शेष दो होते हैं। वैमानिक देवों में तीनों सम्यक्त्व होते हैं।

१३. संज्ञी के संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त गुणस्थान होते हैं। असंज्ञी के एक प्रथम गुणस्थान ही होता है। जो न संज्ञी हैं न असंज्ञी हैं उनके अन्त के दो गुणस्थान होते हैं।

१४. आहारक में एकेन्द्रिय से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त गुणस्थान होते हैं। अनाहारक में पाँच गुणस्थान होते है—विग्रहगति में मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्-दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि तथा प्रतर और लोकपूरण समुद्घात में सयोग-केवली और अयोगकेवली।

सिद्धों के कोई गुणस्थान नहीं होता।

९. कर्म-सिद्धान्त

संसारी जीव का स्वरूप बतलाते हुए कहा है कि जीव स्वभाव से मूर्तिक नहीं है किन्तु कर्म से संयुक्त है। यों तो सभी दर्शनों में कर्म की मान्यता है किन्तु जैन मत में भाव कर्म और द्रव्य कर्म के रूप में कर्म के दो भेद किये गये हैं और द्रव्य-कर्म को पुद्गल का पिण्ड कहा है। 'पंचास्तिकाय' में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—यह लोक सभी ओर बादर सूक्ष्म आदि विविध प्रकार के अनन्तानन्त पुद्गलों से ठसाठस भरा है। इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है कि कर्मयोग्य पुद्गल सर्वलोकव्यापी होने से जहाँ आत्मा है वहाँ पहले से ही वर्तमान रहते हैं। संसारी आत्मा अपने स्वाभाविक चैतन्य स्वभाव को नहीं छोड़ते हुए ही अनादि-बन्धन से बद्ध होने से मोह, राग-द्वेष भाव रूप परिणमन करता है। उन भावों को निमित्त करके पुद्गल स्वभाव से ही कर्मपने को प्राप्त होकर जीव के प्रदेशों में बद्ध हो जाते हैं। जैसे बिना किसी के किये ही पुद्गलों के इन्द्रधनुष मेघादि रूप स्कन्ध बन जाते हैं वैसे ही अपने योग्य जीव के परिणामों का निमित्त मिलते ही ज्ञाना-वरण आदि कर्म भी उत्पन्न हो जाते हैं।

संसार में जो विषमता देखी जाती है—कोई गरीब है, कोई अमीर है, कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई ज्ञानी है, कोई अज्ञानी है, यह विषमता न तो अहेतुक है और न इसका कारण केवल लोकव्यवस्था आदि है। इसमें कारण प्रत्येक जीव का अपना शुभाशुभ कर्म भी है। जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि है। यदि उनके सम्बन्ध को अनादि न माना जाये तो वर्तमान में जो जीव और कर्म का सम्बन्ध पाया जाता है वह बन नहीं सकता; क्योंकि शुद्ध जीव तो नवीन कर्मों से बँध नहीं सकता। बन्ध का कारण तो जीव की अशुद्धता ही है। इसीसे 'तत्त्वार्थ-सूत्र' में कहा गया है—

'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते स बन्धः।'

अर्थात् कषाय सहित होने से जीव कर्म के योग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है वह बन्ध है।

इसकी टीका 'सर्वार्थसिद्धि' में सूत्र के प्रत्येक पद का व्याख्यान करते हुए कहा है—

जिस प्रकार जठराग्नि के अनुरूप आहार का ग्रहण होता है उसी प्रकार तीव्र, मन्द और मध्यम कषायाशय के अनुरूप स्थिति और अनुभाग कर्मों में होता है—इस विशेषता का ज्ञान कराने के लिए सूत्र में 'सकषायत्वात्' कहा है। अमूर्ति और बिना हाथ वाला आत्मा कर्मों को कैसे ग्रहण करता है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए जीव पद ग्रहण किया है। जो जीता है, प्राणों को धारण करता है अर्थात् जिसके आयुकर्म का सद्भाव है वह जीव है। 'कर्मयोग्यान्' इस लघु पद से भी काम चल सकता था फिर भी 'कर्मणो योग्यान्' इस प्रकार पृथक् विभक्ति का उच्चारण वाक्यान्तर का ज्ञान कराने के लिए किया है। वह वाक्यान्तर है—'कर्मणो जीवः सकषायो भवति' कर्म के कारण जीव कषाय सहित होता है। इससे जीव और कर्म का अनादि सम्बन्ध कहा गया है और उससे अमूर्त जीव मूर्त कर्म से कैसे बँधता है इस कुतर्क का निराकरण हो जाता है। अन्यथा बन्ध को आदि मानने पर अत्यन्त शुद्ध सिद्ध जीव की तरह बन्ध के अभाव का प्रसंग आता है। दूसरा वाक्य है—'कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते'। पहले वाक्य में 'कर्मणः' पद हेतुपरक था, इस वाक्य में षष्ठिविभक्तिपरक है। अर्थ के वश विभक्ति बदल जाती है अतः सकषाय होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है। पुद्गल पद कर्मों का पुद्गल के साथ तादात्म्य बतलाता है। अर्थात् कर्म पौद्गलिक है। अतः जो लोग अदृष्ट को आत्मा का गुण मानते हैं उनके मत का निराकरण हो जाता है, क्योंकि यदि अदृष्ट आत्मा का गुण होता तो वह उसके संसार-भ्रमण में कारण नहीं हो सकता था। अतः पूरे सूत्र का अर्थ होता है—मिथ्यादर्शन आदि के अभिनिवेश से भीगे हुए आत्मा की सब अवस्थाओं में, योग विशेष के द्वारा उन सूक्ष्म और आत्मा के साथ एक ही क्षेत्र में रहनेवाले अनन्तानन्त प्रदेशी पुद्गलों का, जो कर्मरूप होने के योग्य हैं, एकमेक रूप में उपश्लेष होना बन्ध है। जैसे एक विशेष प्रकार के पात्र में डाले गये नाना प्रकार के रस, बीज, पुष्प और फलों का मदिरा के रूप में परिणमन होता है वैसे ही आत्मा में स्थित पुद्गलों का योग और कषाय के वश से कर्मरूप से परिणमन होता है। इसी का नाम बन्ध है।

असल में जीव के भावों में और कर्मपुद्गलों में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। 'पंचास्तिकाय' में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

> **जोगनिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।**
> **भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥१४८॥**

टीका—ग्रहण का मतलब है कर्मपुद्गलों का जीव के प्रदेशों में रहनेवाले कर्म-स्कन्धों में प्रवेश और उसमें निमित्त है योग। मनोवर्गणा, वचनवर्गणा और काय-वर्गणा के आलम्बन से होनेवाले आत्मप्रदेशों के कम्पन को योग कहते हैं। कर्म-पुद्गलों का विशिष्ट शक्ति परिणाम रूप से ठहरना बन्ध है। राग-द्वेष-मोह से युक्त जीव के भाव उसमें निमित्त हैं और वे भाव मोहनीय कर्म के उदय से होनेवाले विकार है। इस प्रकार कर्मपुद्गलों के ग्रहण में हेतु होने से बाह्य कारण योग है किन्तु उनकी विशिष्ट शक्ति में हेतु होने से अन्तरंग करण जीव के ही भाव हैं।

यही बात 'समयसार' के बन्धाधिकार में एक दृष्टान्त के द्वारा कही गयी है। जैसे कोई पुरुष शरीर में तेल लगाकर धूल से भरी जमीन में खड़े होकर शस्त्रों से व्यायाम करता है; सचित्त अचित्त ताड़, केले, बाँस आदि को छेदता-भेदता है तथा धूल से लिप्त हो जाता है। अब विचार करो कि वह धूल से लिप्त क्यों हुआ। उसके शरीर में जो तेल लगा है वही उसका कारण है, काटना-फाटना आदि क्रियाएँ नहीं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि नाना प्रकार की चेष्टाएँ करते हुए जो अपने में रागादिभाव करता है, निश्चय से उसी के कारण कर्मों से लिप्त होता है।

इस बन्ध के चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश-बन्ध। इनमें से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध योग से होते हैं तथा स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषाय से होते हैं। प्रकृति शब्द का अर्थ स्वभाव है। जैसे, नीम की कैसी प्रकृति है? कडुआ होता है। गुड़ की कैसी प्रकृति है? मीठा होता है। इसी प्रकार ज्ञानावरण की प्रकृति पदार्थों का ज्ञान न होना है। दर्शनावरण का स्वभाव है पदार्थों का दर्शन न होना। साता-असाता वेदनीय का स्वभाव है सुख-दुःख का संवेदन। दर्शनमोह का स्वभाव है तत्त्वार्थ का श्रद्धान न होना। चारित्रमोह का स्वभाव है असंयमरूप परिणाम। आयुकर्म का स्वभाव है भवधारणा। नामकर्म का स्वभाव है जीव को नारक, मनुष्य आदि बनाना। गोत्र का स्वभाव है उच्च-नीच व्यवहार। अन्तराय का स्वभाव है दान आदि में विघ्न होना। इस प्रकार का कार्य जिससे हो वह प्रकृति है।

'कर्मकाण्ड' में ज्ञानावरण कर्म की उपमा पर्दे से दी है। जैसे पर्दे से ढकी चीज का ज्ञान नहीं होता वैसे ही ज्ञानावरण के उदय में पदार्थों का ज्ञान नही होता। दर्शनावरण की उपमा दी है द्वारपाल से। आप राजमहल आदि देखना चाहते हैं किन्तु द्वारपाल रोक देता है। वेदनीय की उपमा दी है शहद लगी तलवार से। चाटने पर मीठा लगता है किन्तु जीभ कट जाती है। ऐसा ही सुख-दुःख देना वेदनीय का स्वभाव है। मोहनीय कर्म की उपमा दी है मद्य से। जैसे मद्य पीकर मनुष्य अपने होश में नहीं रहता उसी प्रकार की स्थिति मोह के उदय में संसारी जीवों की होती है। आयु की उपमा दी है पैरों में पड़ी बेड़ी से। जैसे पैर बंध जाने पर मनुष्य एक

ही स्थान पर पड़ा रहता है वैसे ही आयु कर्म जीव को अमुक भव में रोके रहता है, उसके उदय रहते मृत्यु नहीं होती। नामकर्म की उपमा दी है चित्रकार से। जैसे चित्रकार नाना प्रकार के चित्र बनाता है वैसे ही नामकर्म जीव के शरीर आदि की रचना करता है। गोत्रकर्म की उपमा दी है कुम्हार से। जैसे कुम्हार छोटे-बड़े बरतन बनाता है वैसे ही गोत्रकर्म ऊँचा-नीचा या छोटा-बड़ा व्यवहार कराता है। अन्तराय की उपमा दी है भण्डारी से। जैसे राजा किसी को कुछ देता है तो भण्डारी मना कर देता है वैसे ही अन्तरायकर्म के उदय में इच्छित वस्तु का लाभ नहीं होता। देनेवाला देने की इच्छा होने पर भी दे नहीं पाता और लेनेवाला ले नहीं पाता। प्रकृतिबन्ध के ये ही आठ मूल भेद हैं। जिस कर्म में जो स्वभाव पड़ा है उस स्वभाव का अमुक समय तक बना रहना स्थितिबन्ध है तथा उन कर्मों में फल देने की अपनी-अपनी शक्ति का होना अनुभागबन्ध है। जो पुद्‌गलस्कन्ध कर्म-रूप परिणत हुए है, परमाणु के द्वारा उनकी संख्या का निर्धारण प्रदेशबन्ध है। जीव की योग शक्ति तीव्र होने पर बहुत पुद्‌गलस्कन्ध कर्मरूप परिणमन करते हैं। इसी प्रकार कषाय तीव्र होने पर बँधनेवाले कर्मों में स्थिति अधिक पड़ती है और फल देने की शक्ति भी तीव्र होती है। मन्द कषाय मे मन्द होती है। 'षट्‌खण्डागम' के वेदन-वेदन विधान अनुयोगद्वार (पु० १२, ३०३) में प्रकृति शब्द की व्युत्पत्ति 'प्रक्रियते अज्ञानादिकं फलमनया आत्मन:' की है। अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा को अज्ञानादि रूप फल किया जाता है वह प्रकृति है। यह भी कहा है कि बद्ध, उदीर्ण और उपशान्त के भेद से स्थित सभी कर्म प्रकृतिरूप हैं।

शंका—जो कर्म पुद्‌गलस्कन्ध फल दे रहा है उसे उदीर्ण कहते हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय योग के द्वारा जो कार्मण पुद्‌गलस्कन्ध कर्मरूप हो रहा है उसे बध्यमान कहते है। इन दोनों से भिन्न पुद्‌गलस्कन्ध उपशान्त कहलाता है। इन तीनों में से उदीर्ण कर्म पुद्‌गलस्कन्ध को प्रकृति शब्द से भले ही कहो, क्योंकि वह फल दे रहा है किन्तु बध्यमान और उपशान्त कर्म पुद्‌गलस्कन्धों को प्रकृति शब्द से नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वे फलदान रूप नहीं हैं।

समाधान—नहीं, क्योंकि तीनों ही कालों में प्रकृति शब्द की सिद्धि की गई है। अत: जो कर्मस्कन्ध जीव को वर्तमान काल में फल देता है, जो भविष्य में फल देगा, इन दोनों ही कर्मस्कन्धों को प्रकृतिपना सिद्ध है। अथवा जैसे उदीर्ण कर्म वर्तमान में फल देता है इसी प्रकार बध्यमान और उपशान्त वर्तमान काल में भी फल देते हैं; क्योंकि उनके बिना कर्मोदय का अभाव है। कर्मों में उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग की सत्ता होने पर तथा उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग का बन्ध होने पर जीव सम्यक्त्व, संयम और संयमासंयम को ग्रहण नहीं कर सकता।

इस प्रकृतिबन्ध के दो भेद है—मूल प्रकृतिबन्ध और उत्तर प्रकृतिबन्ध। मूल प्रकृतिबन्ध के आठ भेद हैं—ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु,

नाम, गोत्र और अन्तराय। यहाँ प्रत्येक कर्म का वर्णन 'षट्खण्डागम' के जीवस्थान चूलिका के आधार पर किया जाता है—

१. ज्ञानावरणीय कर्म

जो ज्ञान का आवरण करता है वह ज्ञानावरणीय कर्म है।

शंका—ज्ञानावरण नाम के स्थान पर ज्ञानविनाशक नाम क्यों नहीं कहा?

समाधान—नहीं, क्योंकि जीव के लक्षण ज्ञान और दर्शन का विनाश नहीं होता। उनका विनाश माना जाये तो जीव का भी विनाश हो जाय।

शंका—ज्ञान का विनाश नहीं मानने पर सभी जीवों के ज्ञान का अस्तित्व प्राप्त होता है?

समाधान—ऐसा होने में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि आगम में कहा है कि अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान नित्य उद्घाटित रहता है। इससे सब जीवों के ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध है।

शंका—यदि सब जीवों के ज्ञान का अस्तित्व सिद्ध है तो सब अवयवों के साथ ज्ञान का उपलभ्भ होना चाहिए?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि ज्ञान के जो भाग आवरण से ढक गये है उनका उपलभ्भ मानने में विरोध है।

शंका—आवरण सहित जीव में आवरण किये गये ज्ञान के भाग हैं या नहीं? यदि हैं तो उनका आवरण नही हुआ। क्योंकि सम्पूर्ण रूप से विद्यमान भागों का आवरण मानने में विरोध है। यदि नहीं है तो भी आवरण संभव नहीं है; क्योंकि आवरण किये जाने के योग्य पदार्थों के अभाव में आवरण का अस्तित्व मानने में विरोध है।

समाधान—द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन करने पर आवरण सहित जीव में आवरण किये गये ज्ञान के भाग वर्तमान हैं; क्योंकि जीवद्रव्य से भिन्न ज्ञान नहीं है। अथवा विद्यमान ज्ञान के भागों से आवरण किये गये ज्ञान के भागों का अभेद है।

शंका—आवरण किये गये भाग और जो आवरण नहीं किये गये वे भाग एक कैसे हो सकते है?

समाधान—राहु और मेघों के द्वारा ढके गये और नहीं ढके गये सूर्य और चन्द्रमण्डल के भागों में एकपना देखा जाता है।

अपने विरोधी द्रव्य की समीपता होने पर भी जो निर्मूल से नष्ट नहीं होता उसे अव्रियमाण—ढके जाने के योग्य कहते हैं और उसे आवरण करनेवाले विरोधी द्रव्य को आवरक कहते हैं। विरोधी कर्मद्रव्य का सामीप्य होने पर भी ज्ञान का निर्मूल नाश नहीं होता, वैसा होने पर जीव के विनाश का प्रसंग आता है।

शंका—जीवद्रव्य से भिन्न पुद्‌गलद्रव्य के द्वारा जीव का लक्षणस्वरूप ज्ञान कैसे विनष्ट किया जाता है ?

समाधान—जीवद्रव्य से भिन्न अन्धकार, परदा आदि जीव के ज्ञान में रुकावट डालते देखे जाते हैं ।

ज्ञानावरणीय कर्म की पाँच उत्तर प्रकृतियाँ हैं—मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय, मनःपर्ययज्ञानावरणीय और केवलज्ञानावरणीय। यतः ज्ञान के मुख्य पाँच भेद हैं अतः ज्ञानावरणीय के भी पाँच भेद हैं। वास्तव में ज्ञान के जितने भेद हैं उतने ही उसको आवरण करनेवाले ज्ञानावरणीय के भेद हैं ।

२. दर्शनावरणीय कर्म

दर्शनगुण को जो आवरण करता है वह दर्शनावरणीय है—अर्थात् जो पुद्‌गल स्कन्ध मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और योगों के द्वारा कर्मरूप से परिणत होकर जीव के साथ सम्बद्ध होता है और दर्शनगुण को ढाँकता है वह दर्शनावरणनीय है ।

दर्शनावरण कर्म की नौ उत्तर प्रकृतियाँ हैं—निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, निद्रा, प्रचला, चक्षुदर्शनावरणीय, अचक्षुदर्शनावरणीय, अवधिदर्शनावरणीय और केवलदर्शनावरणीय ।

३. वेदनीय कर्म

जो जीव को सुख-दुःख का वेदन कराता है वह वेदनीय कर्म है। अर्थात् मिथ्यात्व आदि प्रत्ययों के वश कर्मरूप पर्याय से परिणत और जीव के साथ सम्बद्ध जो पुद्‌गल-स्कन्ध जीव के सुख और दुःख के अनुभवन में निमित्त होता है वह वेदनीय कहा जाता है ।

वेदनीय कर्म की दो उत्तर प्रकृतियाँ हैं—सातावेदनीय और असातावेदनीय। साता सुख को कहते हैं । उसका जो वेदन कराता है वह सातावेदनीय है। असाता दुःख को कहते हैं उसका जो वेदन कराता है वह असातावेदीय है ।

शंका—यदि सुख और दुःख कर्मों से होते हैं तो कर्मों के नष्ट होने पर जीव को सुख-दुःख से रहित हो जाना चाहिए । और ऐसा होने पर जीव द्रव्य के अभाव का प्रसग आता है । यदि केवल दुःख को ही कर्मजनित माना जाता है तो सातावेदनीय का अभाव प्राप्त होता है ?

समाधान—दुःख असातावेदनीय कर्म के उदय से होता है क्योंकि वह जीव का स्वरूप नहीं है । किन्तु सुख कर्म से उत्पन्न नहीं होता क्योंकि सुख जीव का स्वभाव है । किन्तु ऐसा होने से सातावेदनीय का अभाव नहीं होता, क्योंकि दुःख को शान्त करने के हेतु अच्छी सामग्री को प्राप्त कराने में उसका व्यापार होता।

है। सुख और दुःख की कारण सामग्री को प्राप्त करानेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है।

४. मोहनीय कर्म

जो मोहित किया जाता है वह मोहनीय कर्म है।

शंका—इस व्युत्पत्ति के अनुसार तो जीव मोहनीय ठहरता है?

समाधान— ऐसी आशंका नहीं करना चाहिए; क्योंकि जीव से अभिन्न और 'कर्म' संज्ञा वाले पुद्गल द्रव्य में उपचार से कर्तृत्व का आरोप करके उस प्रकार की व्युत्पत्ति की गई है।

अथवा जो मोहित करता है वह मोहनीय कर्म है।

शंका—ऐसी व्युत्पत्ति में धतूरा मदिरा आदि को भी मोहनीय संज्ञा प्राप्त होती है?

समाधान—नही, क्योंकि यहाँ मोहनीय नामक द्रव्य कर्म का अधिकार है।

शंका—कर्म पुद्गल द्रव्य है और ऐसा होने पर सभी पुद्गलों को कर्मपना प्राप्त होता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि मिथ्यात्व आदि बन्ध कारणों के द्वारा जीव से सम्बद्ध पुद्गलों को कर्मपना माना गया है।

मोहनीय कर्म की अट्ठाईस उत्तर प्रकृतियाँ हैं।

मोहनीय कर्म के मुख्य भेद दो है—दर्शन-मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन-मोहनीय में दर्शन शब्द का अर्थ है—श्रद्धा, रुचि, प्रतीति। उसको जो मोहित करता है अर्थात् विपरीत कर देता है वह दर्शन मोहनीय कर्म है। वह बन्ध की अपेक्षा एक भेद रूप है किन्तु सत्ता की अपेक्षा उसके तीन रूप हैं—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व।

शंका—वन्ध से एक प्रकार का दर्शन-मोहनीय कर्म तीन प्रकार का कैसे हो जाता है?

समाधान—जैसे चक्की से दले गये कोदों तीन रूप हो जाते हैं वैसे ही प्रथमो-पशम सम्यक्त्व रूपी भावों के द्वारा सत्ता में स्थित एक मिथ्यात्व कर्म तीन रूप हो जाता है।

जिसके उदय से देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा में शिथिलता आती है वह सम्यक्त्व प्रकृति है। सम्यग्दर्शन के साथ रहने से इस प्रकृति को उपचार से सम्यक्त्व नाम दिया है।

चारित्र को मोहित करनेवाला कर्म चारित्र-मोहनीय है। उसके दो भेद हैं—कषायवेदनीय और अकषायवेदनीय। कषायवेदनीय के सोलह भेद हैं—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ; अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया,

लोभ; प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ; क्रोध संज्वलन, मान संज्वलन, माया संज्वलन, और लोभ संज्वलन,

जिन क्रोध, मान, माया, लोभ के साथ जीव अनन्तभवों में भ्रमण करता है उन्हें अनन्तानुबन्धी कहते हैं।

शंका—अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषायों का उदय काल अन्तमुर्हूर्त कहा है और स्थिति चालीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण है। तब ये अनन्तभवानुबन्धी कैसे हुए ?

समाधान—इन कषायों के संस्कार जीव में अनन्त भव तक बने रहते हैं। ये चारों अनन्तानुबन्धी सम्यक्त्व और चारित्र के विरोधी है क्योंकि इनमें दोनों को ही घातनेवाली दो प्रकार की शक्ति पाई जाती है। और यह बात गुरु के उपदेश से और युक्ति से जानी जाती है।

युक्ति इस प्रकार है—

सम्यक्त्व और चारित्र को घातनेवाले अनन्तानुबन्धी क्रोधादि दर्शनमोहनीय स्वरूप नहीं माने जा सकते हैं; क्योंकि सम्यक्त्व प्रकृति, मिथ्यात्व और सम्यक्-मिथ्यात्व के द्वारा आवरण किये जानेवाले सम्यग्दर्शन का आवरण करने में कोई फल नहीं है। उन्हें चारित्रमोहनीय स्वरूप भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि अप्रत्याख्यानावरण आदि के द्वारा आवरण किये गये चारित्र का आवरण करने से कोई फल नही है। अत: इनका अभाव ही प्राप्त होता है, किन्तु अभाव तो है नहीं; क्योंकि सूत्र में इनका अस्तित्व पाया जाता है। इसलिए इनके उदय से सासादन गुणस्थान की उत्पत्ति अन्यथा हो नही सकती। इस अन्यथानुपपत्ति से सिद्ध होता है कि अनन्तानुबन्धी दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय दोनों है। अनन्तानुबन्धी चतुष्क का व्यापार चारित्र में निष्फल नही है; क्योंकि अनन्तानुबन्धी चतुष्क का उदय ही अप्रत्याख्यान आदि के उदय के प्रवाह को अनन्त बनाता है अत: वह निष्फल नहीं है।

प्रत्याख्यान का अर्थ है संयम। प्रत्याख्यान का न होना अप्रत्याख्यान अर्थात् देश सयम है। यहाँ नञ् पद ईषत् अर्थ में है। इस प्रकार अप्रत्याख्यान का अर्थ है संयमासंयम। उसको जो आवरण करता है वह अप्रत्याख्यानावरणीय है। प्रत्याख्यान संयम महाव्रत तीनों का एक ही अर्थ है। उसको जो आवरण करता है वह प्रत्याख्यानावरणीय है। संयम के साथ जलनेवाली कषाय संज्वलन है। ये संज्वलन कषाय सयम में मल को उत्पन्न करके यथाख्यात चारित्र को रोकती है।

नोकषायवेदनीय कर्म नौ प्रकार का है—स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा। यहाँ नो शब्द एकदेश का प्रतिषेधक है अत: ईषत् कषाय को नोकषाय कहते हैं। स्थिति, अनुभाग और उदय की अपेक्षा कषायों से नोकषाय ईषत् हैं।

५. आयु कर्म

जिसके सद्भाव से आत्मा का जीवन और अभाव से मरण कहा जाता है उस भवधारण में निमित्त को आयुकर्म कहते हैं। उसके चार भेद हैं—नरकायु, तिर्यंचायु, मनुष्यायु और देवायु।

६. नाम कर्म

जो शरीर-संस्थान आदि नाना प्रकार की रचना में निमित्त है वह नामकर्म है। नाम कर्म की बयालीस पिण्ड प्रकृतियाँ हैं—गतिनाम, जातिनाम, शरीरनाम, शरीरबन्धननाम, शरीरसंघातनाम, शरीरसंस्थाननाम, शरीर-अंगोपांगनाम, शरीर संहनननाम, वर्णनाम, गंधनाम, रसनाम, स्पर्शनाम, आनुपूर्वीनाम, अगुरुलघुनाम, उपघातनाम, परघातनाम, उच्छ्वासनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, विहायोगति-नाम, त्रसनाम, स्थावरनाम, बादरनाम, सूक्ष्मनाम, अस्थिरनाम, शुभनाम, अशुभनाम, सुभगनाम, दुर्भगनाम, सुस्वरनाम, दुस्वरनाम, आदेयनाम, अनादेयनाम, यशःकीर्तिनाम, अयशःकीर्तिनाम, निर्माणनाम और तीर्थंकरनाम।

गति का अर्थ है भव या संसार। यदि गतिनाम कर्म न हो तो जीव गतिरहित हो जाये। जिस जीव भाव के आयुकर्म से अवस्थान को प्राप्त होने पर शरीर आदि कर्म उदय को प्राप्त होते हैं वह भाव मिथ्यात्व आदि कारणों से कर्म भाव को प्राप्त जिस पुद्गलस्कन्ध के उदय से होता है उस कर्मस्कन्ध का नाम गति है। उसके चार भेद हैं—नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

जीवों के सदृश परिणाम को जाति कहते हैं। जिस कर्मस्कन्ध से जीवों में अत्यन्त सादृश्य उत्पन्न होता है वह कर्मस्कन्ध कारण में कार्य के उपचार से जाति-नामवाला कहलाता है। उसके पाँच भेद हैं—एकेन्द्रिय जाति आदि।

जिस कर्म के उदय से आहारवर्गणा के पुद्गलस्कन्ध तथा तैजस और कार्मण वर्गणा के पुद्गल-स्कन्ध शरीर योग्य परिणामों के द्वारा परिणत होते हुए जीव के साथ सम्बद्ध होते हैं उस कर्मस्कन्ध की शरीर संज्ञा है। शरीरनाम कर्म के औदारिक, वैक्रियिक आदि पाँच भेद है। शरीर के लिए आये हुए और जीव से सम्बद्ध पुद्गल स्कन्धों का जिन जीव सम्बद्ध और उदय प्राप्त पुद्गलों के साथ बन्ध किया जाता है उन पुद्गल-स्कन्धों की शरीरबन्धन संज्ञा है। यदि शरीरबन्धन नामकर्म न हो तो जीव का शरीर रेत के पुतले की तरह हो। उसके भी शरीर के समान ही पाँच भेद हैं।

उदय को प्राप्त जिन कर्मस्कन्धों के द्वारा बन्धन नामकर्म के उदय से बन्ध के लिए आये शरीर सम्बन्धी पुद्गलों का छिद्ररहित संश्लेष किया जाता है उनकी शरीरसंघात संज्ञा है। यदि शरीरसंघात नामकर्म न हो तो तिल के लड्डुओं की

तरह जीव का शरीर हो। इसके भी औदारिक आदि पाँच भेद हैं।

जाति नामकर्म के उदय से परतन्त्र, जिन कर्मस्कन्धों के उदय से शरीर का आकार बनता है वह शरीरसंस्थान नामकर्म है। उसके छः भेद हैं—समचतुरस्र-शरीरसंस्थाननाम, न्यग्रोधपरिमण्डलशरीरसंस्थाननाम, स्वातिशरीरसंस्थाननाम, कुब्जशरीरसस्थाननाम, वामनशरीरसंस्थाननाम, हुण्डकशरीरसंस्थान नाम। समचतुरस्र का अर्थ है—समान रूप से विभक्त सुडौल आकार। न्यग्रोध वट के पेड़ को कहते हैं उसके समान आकार। स्वाति वामी को कहते हैं उसके समान आकार। कुब्ज कुवड़े को और वामन बौने को कहते हैं। छोटे-बड़े पत्थरों से भरी मशक के विषम आकार को हुण्डक कहते है। जिस कर्म के उदय से पूर्वोक्त आकार-वाले शरीर उत्पन्न होते है या शरीरों का पूर्वोक्त आकार उत्पन्न होता है वह शरीरसंस्थाननाम कर्म है।

जिस कर्मस्कन्ध के उदय मे शरीर के अंग-उपांगों की रचना होती है उसका नाम शरीरांगोपांग है। उसके तीन भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक और आहारक अंगोपांग नाम। तैजस और कार्मण शरीर में हाथ, पैर, पेट आदि अंग-उपांग नहीं होते।

जिस कर्म के उदय से शरीर मे हड्डी और उसकी संधियों की रचना होती है उसे संहनन कहते हैं। उसके छः भेद हैं—वज्रऋषभ-वज्रनाराच-शरीर-सहनन-नाम—वेष्टन को ऋषभ कहते हैं। वज्र के समान अभेद्य होने से वज्रऋषभ कहलाता है। वज्र के समान नाराच को वज्रनाराच कहते हैं। ये दोनों ही जिस वज्र-शरीरसंहनन में होते हैं वह वज्र ऋषभ-वज्रनाराच-शरीरसंहनन है। जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन हो उसका वही नाम है। यह उक्त अस्थिबन्ध जिस कर्म के उदय से वज्रऋषभ से रहित होता है वह वज्रनाराचशरीरसंहनननाम कहा जाता है। यह दूसरा भेद है। जिस कर्म के उदय से वज्रविशेषण से रहित नाराच—कीलें और हड्डियों की संधियाँ होती हैं वह नाराच-शरीरसंहनननामकर्म है। जिस कर्म के उदय से हड्डी की सन्धियाँ नाराच से आधी बिंधी हुई होती हैं वह अर्ध-नाराच-शरीरसंहनननामकर्म है। जिस कर्म के उदय से वज्र रहित हड्डियाँ परस्पर में कीलित होती हैं वह कीलकशरीर-संहनन-नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से परस्पर में असंप्राप्त तथा सिरा मे बद्ध हड्डियाँ होती हैं वह असंप्राप्तासृ-पाटिका-शरीरसंहनननाम कर्म है।

जिन कर्मस्कन्धों के उदय से शरीर में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श की उत्पत्ति होती है उनका वर्ण गन्ध रस स्पर्शनाम है।

पूर्व और उत्तर शरीरों के अन्तरालवर्ती एक दो तीन समय में अर्थात् विग्रह-गति में वर्तमान जीव के जिस कर्म के उदय से जीव-प्रदेशों का आकारविशेष होता है उस कर्म की आनुपूर्वी संज्ञा है।

शंका—संस्थान नाम कर्म से आकार विशेष होता है इसलिए आनुपूर्वी की कल्पना निरर्थक है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि संस्थान नाम कर्म का उदय विग्रहगति में नहीं होता, शरीर ग्रहण करने के प्रथम समय से ऊपर उसका उदय होता है। यदि आनुपूर्वी नामकर्म न हो तो विग्रहगति के काल में जीव अनियत संस्थानवाला हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है। इसी से चार गति की अपेक्षा उसके चार भेद हैं। जिस कर्म के उदय से नरकगति में गये और विग्रहगति में वर्तमान जीव के नरकगति के योग्य संस्थान होता है वह नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी नामकर्म है। इसी प्रकार शेष तीन को भी जानना।

शंका—पूर्व शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को नहीं ग्रहण करके स्थित जीव का इच्छित गति में गमन किस कर्म से होता है ?

समाधान—आनुपूर्वी नामकर्म के उदय से होता है।

शंका—विहायोगति नामकर्म से इच्छित गति में गमन क्यों नहीं होता ?

समाधान—क्योंकि विहायोगति नामकर्म का उदय औदारिक आदि तीनों शरीरों के उदय के विना नहीं होता।

शंका—आकार विशेष को बनाये रखने में व्यापार करनेवाली आनुपूर्वी इच्छित गति में गमन का कारण कैसे होती है ?

समाधान—विग्रहगति में आकार विशेष को बनाये रखना और इच्छित गति में गमन कराना ये दोनों ही आनुपूर्वी नामकर्म के कार्य हैं।

अनन्तानन्त पुद्‌गलों से भरपूर जीव के जिन कर्मस्कन्धों द्वारा अगुरुलघुपना होता है उन पुद्‌गलस्कन्धों की अगुरुलघु संज्ञा है। यदि अगुरुलघु कर्म न हो तो या तो जीव लोहे के गोले की तरह भारी या आक की रुई के समान हलका हो जायेगा।

शंका—अगुरुलघु तो जीव का स्वाभाविक गुण है ?

समाधान—संसार अवस्था में कर्मपरतन्त्र जीव के उस स्वाभाविक अगुरुलघु गुण का अभाव है। दूसरी बात यह है कि कर्म के द्वारा जीव का अगुरुलघुत्व नहीं किया जाता। किन्तु जीव में जो पुद्‌गलस्कन्ध भरा हुआ है वह जिस कर्म के उदय से भारी या हलका नहीं होता वह अगुरुलघु यहाँ विवक्षित है। अतः यहाँ जीवविषयक अगुरुलघुत्व का ग्रहण नहीं करना।

स्वयं प्राप्त घात को उपघात या आत्मघात कहते हैं। जो कर्म जीव की पीड़ा के कारण अवयव बनाता है अथवा विष, तलवार, फन्दा आदि जीव-पीड़ा के कारण द्रव्यों को प्राप्त कराता है वह उपघात नामकर्म है। बड़े-बड़े सींग, लम्बे स्तन, विशाल उदर आदि जीव को पीड़ा देनेवाले अवयव हैं। यद्यपि जीव को

दु:ख देने में असातावेदनीय का व्यापार है किन्तु उपघात कर्म भी उसमें सहायक होता है।

पर जीवों के घात को परघात कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीर में पर का घात करने में हेतु पुद्गल निष्पन्न होते हैं वह परघात नामक कर्म है। जैसे सांप की दाढ़ में विष, बिच्छू की पूंछ मे डंक, सिंह-व्याघ्र के नख और दाँत आदि।

इन उपघात और परघात का स्वरूप 'सर्वार्थसिद्धि' और 'तत्त्वार्थवार्तिक' में भिन्न मिलता है। जिसके उदय से स्वयं किये गये बन्धन से या पहाड़ से गिरने आदि के निमित्त से उपघात होता है वह उपघातनामकर्म है और जिसके उदय से दूसरे के द्वारा प्रयुक्त शस्त्रादि से घात होता है वह परघातनामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव उच्छ्वास और निश्वास लेने में समर्थ होता है उसकी उच्छ्वास संज्ञा है। जिसकर्म के उदय से जीव में आतपन होता है उसकी आतप संज्ञा है। सूर्य मण्डल में जो पृथिवीकायिक जीवों का शरीर रूप है जो आतप पाया जाता है वह उन जीवों के आतप नामक कर्म के उदय का प्रताप है। जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में उद्योत उत्पन्न होता है वह उद्योत नामकर्म है जैसे जुगुनु का शरीर।

विहायस् आकाश को कहते हैं। जिस कर्म के उदय से जीव का आकाश में अर्थात् पृथ्वीतल से लेकर ऊपर तक गमन होता है वह विहायोगति नामकर्म है। जिन कर्मों के उदय से जीवों के त्रसपना अथवा स्थावरपना होता है उनकी त्रसनाम कर्म और स्थावर नामकर्म संज्ञा है।

जिन कर्मों के उदय से जीव बादरकाय या सूक्ष्मकाय में जन्म लेता है उनका नाम बादर नामकर्म और सूक्ष्म नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से जीव पर्याप्त और जिस कर्म के उदय से अपर्याप्त हो उनको पर्याप्त नामकर्म और अपर्याप्त नाम कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से जीव प्रत्येक-शरीरी और जिस कर्म के उदय से साधारण शरीरी होता है उन कर्मों को प्रत्येकशरीर नामकर्म और साधारणशरीर नामकर्म कहते है। एक ही जीव के उपभोग में कारण शरीर प्रत्येकशरीर कहलाता है और बहुत से जीवों के उपभोग में कारण शरीर साधारण-शरीर कहलाता है। जिसके उदय से दुष्कर उपवास आदि करने पर भी अंग-उपाग स्थिर रहते हैं वह स्थिर नामकर्म है। उससे विपरीत अस्थिरनाम कर्म है। जिस कर्म के उदय से अंग-उपांग सुन्दर होते हैं वह शुभ नामकर्म है। उससे विपरीत अशुभ नामकर्म है। सौभाग्य को उत्पन्न करनेवाला सुभग नामकर्म और दुर्भाग्य को उत्पन्न करनेवाला दुर्भग नामकर्म है। मधुर स्वर को उत्पन्न करनेवाला कर्म सुस्वर और अमधुर स्वर को उत्पन्न करनेवाला दुःस्वर नामकर्म है। जिस के उदय से शरीर प्रभावयुक्त होता है वह आदेय नाम कर्म है और उससे विप-

रीत अनादेय नामकर्म है। जिस कर्म के उदय से गुणों का ख्यापन होता है वह यशःकीर्ति नामकर्म है। उससे विपरीत अयशःकीर्ति नाम है।

निर्माण के दो भेद हैं—प्रमाणनिर्माण और संस्थाननिर्माण। काल और जाति के आश्रय से जीवों के प्रमाण का निर्माण करानेवाला प्रमाणनिर्माण कर्म है। कान, आँख आदि अंगों का अपनी जाति के अनुरूप अपने-अपने स्थान पर निर्माण का नियामक कर्म संस्थाननिर्माण नामक कर्म है।

७. गोत्र कर्म

मिथ्यात्व आदि कारणों से जीव से सम्बद्ध जो पुद्गलस्कन्ध उच्च और नीच कुलों में उत्पन्न कराने में निमित्त है उसका नाम गोत्रकर्म है। उसके दो भेद हैं—उच्चगोत्र कर्म और नीचगोत्र कर्म।

'षट्खण्डागम' के वर्गणा नामक पंचम खण्ड के अन्तर्गत प्रकृति अनुयोगद्वार (पु० १३, पृ० ३८८) में गोत्रकर्म को लेकर जो शंका-समाधान वीरसेन स्वामी ने किया है उसे यहाँ दिया जाता है—

शंका—उच्चगोत्र का काम क्या है? राज्यादि सम्पदा की प्राप्ति तो साता-वेदनीय कर्म के निमित्त से होती है। पाँच महाव्रतों को ग्रहण करने की योग्यता भी उसका कार्य नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर जो जीव महाव्रत धारण नहीं कर सकते उनके उच्चगोत्र के उदय का अभाव प्राप्त होता है। इक्ष्वाकु कुल आदि की उत्पत्ति भी उसका काम नहीं है क्योंकि वे काल्पनिक हैं। परमार्थ से उनका सत्त्व नहीं है। फिर वैश्य और ब्राह्मण साधुओं में भी उच्चगोत्र का उदय देखा जाता है। सम्पन्न जनों से उत्पत्ति को उच्चगोत्र का कार्य मानने पर म्लेच्छराज से उत्पन्न बालक के भी उच्चगोत्र के उदय का प्रसंग प्राप्त होता है। अणुव्रती पुरुषों से जन्म होना भी उच्चगोत्र का कार्य नहीं है। वैसा मानने पर देवों में उच्चगोत्र के उदय का का अभाव प्राप्त होता है तथा नाभिराज के पुत्र प्रथम तीर्थंकर नीचगोत्री ठहरते हैं। अतः उच्चगोत्र निष्फल है, उसमें कर्मपना घटित नहीं होता। उसके अभाव में नीचगोत्र भी नहीं रहता। अतः गोत्रनामक कर्म नहीं है।

समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान का वचन असत्य नहीं हो सकता। फिर केवलज्ञान के द्वारा जाने गये सभी पदार्थों में छद्मस्थों का ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता। अतः यदि कोई बात छद्मस्थों की समझ में नहीं आती तो उससे जिन वचन को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। गोत्रकर्म निष्फल भी नहीं है क्योंकि जिनका दीक्षा योग्य साधु आचार है, साधु आचार वालों के साथ जिन्होंने सम्बन्ध स्थापित किया है तथा जो 'आर्य' व्यवहार के पात्र हैं उन पुरुषों की परम्परा को

उच्चगोत्र कहते हैं और उनमें उत्पत्ति का कारण उच्चगोत्र कर्म है। उससे विपरीत कर्म नीचगोत्र कर्म है।

अन्तराय कर्म

जो दो के बीच में आता है वह अन्तराय कर्म है। दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में विघ्न करने में समर्थ तथा अपने कारणों के द्वारा जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त पुद्गलस्कन्ध अन्तराय नामवाला है। उसके पाँच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय।

स्थान-समुत्कीर्तन

पहले जिन प्रकृतियों का कथन किया है उन प्रकृतियों का बन्ध क्या एक साथ होता है अथवा क्रम से होता है, यह बतलाते हैं—

ज्ञानावरण कर्म

ज्ञानावरण की पाँच प्रकृतियाँ कहीं हैं। वे पाँचों प्रकृतियाँ दसवें गुणस्थान तक एक साथ ही बँधती हैं। एक, दो, तीन, आदि नहीं बँधती। तथा दसवें गुणस्थान से ऊपर इनका बन्ध नहीं होता।

दर्शनावरण कर्म

दर्शनावरणीय कर्म के तीन स्थान हैं—नौ प्रकृति रूप, छह प्रकृतिरूप और चार प्रकृतिरूप। इनमें से नौ प्रकृतिरूप स्थान का बन्ध पहले और दूसरे गुणस्थानों में ही होता है। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि का बन्ध आगे न होने से छह प्रकृतिरूप स्थान का बन्ध अपूर्वकरण गुणस्थान के प्रथम भाग तक ही होता है। निद्रा और प्रचला का बन्ध आगे न होने से चारों दर्शनावरणों का बन्ध सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त होता है, आगे नहीं होता।

वेदनीय कर्म

वेदनीय कर्म की दोनों प्रकृतियों का बन्ध एक साथ नहीं होता। जिस समय साता का बन्ध होता है उस समय असाता का बन्ध नहीं होता। इसी प्रकार जिस समय असाता का बन्ध होता है उस समय साता का बन्ध नहीं होता। क्योंकि साता का बन्ध विशुद्धि रूप परिणामों से होता है और असाता का बन्ध संक्लेश रूप परिणामों से होता है। किन्तु सयोगकेवली पर्यन्त एक ही जीव के क्रम से दोनों का बन्ध होता है।

मोहनीय कर्म

मोहनीय कर्म के दस स्थान हैं—बाईस प्रकृति रूप, इक्कीस प्रकृति रूप, तेरह प्रकृतिरूप, नौ प्रकृतिरूप, पाँच प्रकृतिरूप तथा चार, तीन, दो और एक प्रकृति रूप।

मिथ्यात्व, सोलह कषाय, तीनों वेदों में से कोई एक वेद, हास्य-रति और शोक-अरति इन दो युगलों में से एक युगल, भय और जुगुप्सा ये बाईस प्रकृति रूप स्थान केवल मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ही बँधते हैं क्योंकि मिथ्यात्व का उदय आगे नहीं होता और मिथ्यात्व के उदय के विना मिथ्यात्व का बन्ध नहीं होता।

इन बाईस प्रकृतियों में से मिथ्यात्व को तथा तीन वेदों में से नपुसंक वेद को निकाल देने पर इक्कीस प्रकृतिरूप दूसरा स्थान सासादन सम्यग्दृष्टि के बँधता है। क्योंकि दूसरे गुणस्थान से ऊपर अनन्तानुबन्धी चतुष्क और स्त्रीवेद का बन्ध नहीं होता। और इसका कारण यह है कि ऊपर के गुणस्थानों में अनन्तानुबन्धी का उदय नहीं होता। इक्कीस प्रकृति रूप दूसरे स्थान में से अनन्तानुबन्धी चतुष्क और स्त्रीवेद को कम कर देने पर सत्रह प्रकृतिरूप तीसरा स्थान होता है। उसका बन्ध सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि के होता है। क्योंकि चतुर्थ गुणस्थान से ऊपर अप्रत्याख्यान।वरणीय कषाय का बन्ध नहीं होता। इसका भी कारण यह है कि वहाँ अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय का अभाव है।

उक्त सत्रह प्रकृतियों में अप्रत्याख्यानावरणीय क्रोध-मान-माया-लोभ को कम कर देने पर तेरह प्रकृतिरूप बन्ध स्थान होता है जो संयतासंयत के बँधता है। क्योंकि पंचम गुणस्थान से ऊपर प्रत्याख्यानावरणीय चार कषायों का बन्ध नहीं होता। और, इसका भी कारण यह है कि ऊपर के गुणस्थानों में प्रत्याख्यानावरणीय कषाय के उदय का अभाव है।

उक्त तेरह प्रकृतियों में से प्रत्याख्यानावरणीय क्रोध, मान, माया, लोभ को कम कर देने पर नौ प्रकृतिरूप बन्ध स्थान होता है। यह प्रमत्तसंयत से लेकर अपूर्वकरण गुणस्थान तक बँधता है, क्योंकि आगे छह नोकषायों का बन्ध नहीं होता।

उक्त नौ प्रकृतियों में से शेष रहीं चार संज्वलन कषाय और पुरुषवेद। इन पाँच प्रकृतियों का बन्ध अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में होता है तथा पाँच में से पुरुष-वेद कम कर देने पर चार प्रकृतिरूप स्थान, क्रम से संज्वलन क्रोध और मान को कम करने पर तीन प्रकृतिरूप तथा दो प्रकृतिरूप बन्धस्थान होते हैं। इनका बन्ध भी नवम गुणस्थान में ही होता हे। माया कम कर देने पर संज्वलन लोभ रूप बन्धस्थान दसवें गुणस्थान में होता है।

आयु कर्म

आयुकर्म के चार भेदों में से एक जीव के एक ही आयु का बन्ध होता है। उनमें से नरकायु का बन्ध मिथ्यादृष्टि के ही होता है क्योंकि मिथ्यात्व के उदय के बिना नरकायु का बन्ध नहीं होता। तिर्यंचायु का बन्ध मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि के होता है क्योंकि इन दोनों गुणस्थानों में तिर्यंचायु के बन्ध योग्य परिणाम पाये जाते हैं। मनुष्यायु का बन्ध मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि के होता है; क्योंकि ऊपर के गुणस्थानों में मनुष्यायु के बँधने योग्य परिणामों का अभाव है। तीसरे गुणस्थान में किसी भी आयु का बन्ध नहीं होता। देवायु का बन्ध मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयता-संयत और संयत के होता है।

यहाँ आयुकर्म के बन्ध के विषय में विशेष विवेचन किया जाता है—

जिस गति की आयु बाँधी हो, नियम से उसी गति में जन्म होता है किन्तु गति-बन्ध जन्म का नियामक नहीं है, आयुबन्ध जन्म का नियामक है। जिस आयु को हम भोगते हैं उसे भुज्यमान कहते हैं और जिस आयु का बन्ध किया है उसे बध्यमान कहते हैं। शेष सात कर्म तो जीव के सदा बँधते रहते हैं किन्तु आयुकर्म का बन्ध सदा नहीं होता। कर्मभूमि के मनुष्यों या तिर्यंचों में भुज्यमान आयु का दो भाग बीतने पर तीसरा भाग लगते ही एक अन्तर्मुहूर्त काल तक पहला अपकर्ष काल आता है। उसमें परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध हो सकता है। यदि उसमें आयुबन्ध न हो तो उस तीसरे भाग में से दो भाग बीतने पर दूसरा अपकर्ष काल आता है। उसमें भी अनुबन्ध न होने पर उसके भी दो भाग बीतने पर तीसरा अपकर्ष काल आता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर जो त्रिभाग शेष रहता जाता है उसका त्रिभाग शेष रहने पर चौथा, पाँचवाँ, छठा, सातवाँ और आठवाँ अपकर्ष काल आता है जो आयुबन्ध के योग्य होता है। त्रिभाग शेष रहने पर आयुबन्ध का नियम नहीं है किन्तु उस समय जीव आयुबन्ध के योग्य होते हैं। भोगभूमिज तिर्यंच और मनुष्य तथा देव और नारकी भुज्यमान आयु में छह मास शेष रहने पर आयुबन्ध के योग्य होते हैं। यहाँ भी उक्त प्रकार से आठ अपकर्ष कहना चाहिए। यदि इन अपकर्षों में परभव की आयु नहीं बँधती है तो भुज्यमान आयु में आवली का असंख्यातवाँ भाग काल शेष रहने पर नियम से आयुबन्ध होता है।

आठों अपकर्ष कालों में से यदि पहले में ही आयुबन्ध हो गया है तो दूसरे आदि अपकर्ष कालों में उस आयुबन्ध की स्थिति से अधिक भी स्थितिबन्ध हो सकता है, कम भी स्थितिबन्ध हो सकता है और उतना का उतना भी हो सकता है। यदि कम स्थितिबन्ध होता है तो पहले बँधी अधिक स्थिति की प्रधानता रहती है। एक बार जिस गति सम्बन्धी आयुबन्ध होता है तो आगे भी उसी गति सम्बन्धी आयुबन्ध

होता है। ऐसा नहीं है कि एक बार नरकायु बाँधी वो दूसरे त्रिभाग में देवायु बाँध ले।

नारकी और देव मनुष्यायु या तिर्यंचायु का ही बन्ध करते हैं और मनुष्य तथा तिर्यंच चारों गतियों में से किसी भी गति का आयुबन्ध कर सकते हैं। किन्तु भोग-भूमि के मनुष्य और तिर्यंच देवायु का भी यथायोग बन्ध करते हैं।

बध्यमान और भुज्यमान दोनों ही आयुओं का अपवर्तन संभव है किन्तु बध्य-मान आयु की उदीरणा नहीं होती। अपवर्तन का अर्थ घटना है।

नाम कर्म

नामकर्म के आठ स्थान हैं—इकतीस प्रकृतिक, तीस प्रकृतिक, उनतीस प्रकृतिक, अठाईस प्रकृतिक, छब्बीस प्रकृतिक, पच्चीस प्रकृतिक, तेईस प्रकृतिक और एक प्रकृतिक।

अट्ठाईस प्रकृतिक स्थान इस प्रकार हैं—नरकगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक शरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, हुण्डक संस्थान, वैक्रियिक शरीर आंगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, नरकगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, अप्रशस्त विहोयोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण नाम।

यह अट्ठाईस प्रकृतिरूप बन्धस्थान पंचेन्द्रिय जाति और पर्याप्त नाम कर्म से संयुक्त नरकगति को बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि के होता है क्योंकि ऊपर के गुणस्थानों में नरकगति का बन्ध नहीं होता।

तिर्यंगति नामकर्म के पाँच बन्धस्थान हैं—तीस, इकतीस छब्बीस, पच्चीस और तेईस प्रकृतिक। उनमें से पहला तीस प्रकृतिक स्थान इस प्रकार हैं—तिर्यचगति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिकशरीर, तैजसशरीर, कार्मणशरीर, छहों संस्थानों में से कोई एक, औदारिकशरीर अंगोपांग, छहों संहननों में से कोई एक, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तिर्यंचगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, उद्योत, दोनों विहायोगतियों में से कोई एक, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर-अस्थिर में से कोई एक, शुभ-अशुभ में से कोई एक, सुभग-दुर्भग में से कोई एक, सुस्वर दुःस्वर में से कोई एक, आदेय-अनादेय में से कोई एक, यशः-कीर्ति-अयशःकीर्ति में से कोई एक, और निर्माण नामकर्म।

यह प्रथम तीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान पंचेन्द्रिय जाति, पर्याप्त और उद्योत नाम-कर्म से संयुक्त तिर्यंगति को बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव के होता है। दूसरा तीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान इस प्रकार है—इसमें हुण्डसंस्थान को छोड़ शेष संस्थानों में से कोई एक संस्थान तथा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन को छोड़ शेष संहननों में से एक

संहनन लिया जाता है। शेष प्रकृतियाँ पूर्ववत् हैं। यह दूसरा तीस प्रकृतिरूप बन्ध-स्थान पंचेन्द्रिय जाति, पर्याप्त और उद्योत नाम कर्म से संयुक्त तिर्यंगति को बाँधनेवाले सासादन सम्यग्दृष्टि के होता है।

नामकर्म के तिर्यंगति सम्बन्धी बन्धस्थानों में यह तीसरा तीस प्रकृतिरूप स्थान है—इसमें दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चौइन्द्रिय जाति में से एक, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय ली जाती हैं। शेष प्रकृतियाँ पूर्वोक्त ही हैं। यह बन्धस्थान विकलेन्द्रिय पर्याप्त और उद्योत नामकर्म से संयुक्त तिर्यंगति को बाँधने वाले मिथ्यादृष्टि के होता है।

यह पहला उनतीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान है। इसमे प्रथम तीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान में से उद्योत प्रकृति को छोड़ देना चाहिए। यह बन्ध स्थान पंचेन्द्रिय और पर्याप्त नामकर्म से संयुक्त तिर्यंगति को बाँधने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

दूसरे तीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान में से उद्योत प्रकृति को छोड़ देने पर दूसरा उनतीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान होता है। यह बन्धस्थान पचेन्द्रिय और पर्याप्त नामकर्म के साथ तिर्यंगति को बाँधने वाले सासादन सम्यग्दृष्टि जीव के होता है।

तीसरे तीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान में से उद्योत प्रकृति को छोड़ देने पर तीसरा उनतीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान होता है। यह स्थान विकलेन्द्रिय और पर्याप्त नाम-कर्म से सयुक्त तिर्यंगति को बाँधने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

तिर्यंगति सम्बन्धी पाँच बन्धस्थानों में से छब्बीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान इस प्रकार है—तिर्यग्गति, एकेन्द्रिय जाति, पूर्वोक्त तीन शरीर, हुण्डक संस्थान, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, तिर्यंगत्यानुपूर्वी, अगरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप उद्योत में से एक, स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर-अस्थिर में से एक, शुभ-अशुभ में से एक, दुर्भग, दुःस्वर, यशःकीर्ति-अयशःकीर्ति में से एक और निर्माण-नामकर्म।

यह छब्बीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान एकेन्द्रिय जाति, बादर, प्रत्येक शरीर और आतप उद्योत मे से एक सहित तिर्यंगति को बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि के होता है; क्योंकि अन्य गुणस्थानवालों के एकेन्द्रिय जाति का बन्ध नहीं होता।

तिर्यंगति सम्बन्धी नामकर्म के बन्ध स्थानों में यह पहला पच्चीस प्रकृतिरूप स्थान इस प्रकार है—इसमें आतप या उद्योत नहीं है। तथा बादर और सूक्ष्म में से एक व प्रत्येक और साधारण में से एक जाती है। यह स्थान एकेन्द्रिय जाति, पर्याप्त, बादर और सूक्ष्म में से एक सहित तिर्यंचगति को बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

दूसरा पच्चीस प्रकृतिरूप बन्ध स्थान इस प्रकार है—इसमें एकेन्द्रिय को को छोड़कर चारों जातियों में से कोई एक जाति ली जाती है। तथा अगुरुलघु, उपघात, त्रस, बादर, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति, निर्माण तथा शेष शरीरादि पूर्ववत् हैं। यह स्थान त्रस और अपर्याप्त नाम कर्म से संयुक्त तिर्यंचगति को बांधनेवाले मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

तेईस प्रकृतिरूप बन्ध स्थान इस प्रकार हैं—इसमें एकेन्द्रिय जाति, स्थावर, बादर सूक्ष्म में से एक, प्रत्येक साधारण में से एक तथा शेष पूर्ववत् हैं। यह स्थान एकेन्द्रिय जाति, अपर्याप्त, और बादर सूक्ष्म में से एक सहित तिर्यग्गति को बाँधने वाले मिथ्यादृष्टि जीव के होता है।

मनुष्य गति सहित तीन स्थान हैं—तीस प्रकृतिक, इकतीस प्रकृतिक और पच्चीस प्रकृतिक। तीस प्रकृतिक स्थान इस प्रकार हैं—मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक, तैजस, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, औदारिक अंगोपांग, वज्रऋषभनाराच संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर अस्थिर में से एक, शुभ अशुभ में से एक, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति अयशःकीर्ति में से एक, निर्माण, तीर्थंकर। यह स्थान मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति और तीर्थंकर सहित बाँधने वाले असंयत सम्यग्दृष्टि के होता है।

उक्त तीस प्रकृतिक स्थान में से तीर्थंकर को छोड़ देने पर मनुष्यगति सम्बन्धी प्रथम उनतीस प्रकृतिरूप स्थान होता है। यह स्थान पंचेन्द्रिय जाति और पर्याप्त नामकर्म से संयुक्त मनुष्यगति को बाँधनेवाले सम्यग्मिथ्यादृष्टि और असंयत सम्यग्दृष्टि के होता है।

दूसरा उनतीस प्रकृति रूप बन्ध स्थान इस प्रकार है—इसमें हुण्डक संस्थान को छोड़कर शेष पाँच संस्थानों में से एक तथा असंप्राप्तासृपाटिका संहनन को छोड़ शेष पाँच संहननों में से एक लिया जाता है। दोनों विहायोगतियों में से एक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, तथा यशःकीर्ति के युगलों में से कोई एक, प्रकृति ली जाती है। यह स्थान पंचेन्द्रिय जाति, पर्याप्त नामकर्म से संयुक्त मनुष्यगति को बाँधनेवाले सासादन सम्यग्दृष्टि के होता है।

तीसरा उनतीस प्रकृतिरूप बन्ध स्थान इस प्रकार है—इसमें छहों संस्थानों में से कोई एक संस्थान, छहों संहननों में से कोई एक संहनन लिया जाता है। शेष प्रकृतियाँ पूर्ववत् हैं। इसका बन्ध पंचेन्द्रिय जाति और पर्याप्त नाम कर्म से संयुक्त मनुष्यगति को बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि के होता है।

मनुष्यगति सम्बन्धी पच्चीस प्रकृतिरूप स्थान इस प्रकार है—इसमें हुण्डक संस्थान और असंप्राप्तासृपाटिका संहनन के साथ त्रस, बादर, अपर्याप्त, प्रत्येक शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और निर्माण नामकर्म

बँधते हैं। शेष पूर्ववत्। पश्चात्, उच्छ्वास, विहायोगति, सुस्वर या दुस्वर नहीं बँधते। यह स्थान पंचेन्द्रिय जाति और अपर्याप्त नामकर्म सहित मनुष्यगति को बाँधने वाला मिथ्यादृष्टि बांधता है।

देवगति नामकर्म के पाँच बन्ध स्थान हैं—इकतीस प्रकृतिक, तीस प्रकृतिक, उनतीस प्रकृतिक, अट्ठाईस प्रकृतिक और एक प्रकृतिक। इकतीस प्रकृतिकरूप स्थान इस प्रकार है—देवगति, पंचेन्द्रियजाति, वैक्रियिक, आहारक, तैजस-कार्मण शरीर, समचतुरस्र संस्थान, वैक्रियिक अंगोपांग, आहारक अंगोपांग, वर्ण चतुष्क, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु चतुष्क, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रसादि चतुष्क प्रशस्त प्रकृतियाँ और निर्माण तथा तीर्थंकर। यह स्थान पंचेन्द्रियजाति, पर्याप्त, आहारक शरीर और तीर्थंकर नामकर्म सहित देवगति को बाँधनेवाले अप्रमत्त और अपूर्वकरण के होता है।

उसमें से तीर्थंकर प्रकृति कम करने पर तीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान होता है। वह भी अप्रमत्त और अपूर्वकरण के बँधता है।

उक्त इकतीस प्रकृतिरूप बन्ध स्थान में से आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग को कम कर देने पर प्रथम उनतीस प्रकृतिरूप बन्धस्थान भी अप्रमत्त और अपूर्वकरण के बँधता है।

दूसरा उनतीस प्रकृति रूप बन्ध स्थान जिसमें स्थिर, शुभ और यशःकीर्ति के युगल में से कोई एक प्रकृति बँधती है, असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत बाँधते हैं।

तीर्थंकर प्रकृति के बिना प्रथम अठाईस प्रकृतिरूप स्थान अप्रमत्त और अपूर्वकरण देवगति सहित बाँधते हैं।

दूसरा अठाईस प्रकृतिरूप स्थान जिसमें स्थिर, शुभ और यशःकीर्ति के युगलों में से कोई एक प्रकृति है, देवगति को बाँधनेवाले मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और संयत बाँधते हैं। केवल एक यशःकीर्तिरूप एक प्रकृतिक स्थान आठवें गुणस्थान के सातवें भाग से लेकर सूक्ष्म साम्पराय पर्यन्त संयमी बाँधते हैं।

गोत्र कर्म

गोत्रकर्म की दो प्रकृतियों में से एक जीव के एक समय में एक का ही बन्ध होता है। नीचगोत्र का बन्ध मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि के होता है। उच्चगोत्र का बन्ध दसवें गुणस्थान पर्यन्त होता है।

अन्तराय कर्म

अन्तराय कर्म का पाँच प्रकृति रूप एक ही बन्ध स्थान है। इसका बन्ध भी दसवें गुणस्थान पर्यन्त होता है।

उत्कृष्ट स्थिति

पाँचों ज्ञानावरणीय, नौ दर्शनावरणीय, असातावेदनीय और पाँचों अन्तरायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीस कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण है और आबाधा काल तीन हजार वर्ष है।

कर्मरूप से जीव के साथ बन्ध को प्राप्त हुआ पुद्गलद्रव्य जब तक उदय या उदीरणा को प्राप्त नहीं होता उस काल को आबाधाकाल कहते हैं। यह आबाधाकाल एक कोड़ाकोड़ी सागरप्रमाण स्थितिबन्ध में सौ वर्ष प्रमाण होता है। अतः उक्त कर्मों की तीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण स्थिति में तीन हजार वर्ष आबाधा काल है। इस समय के पश्चात् उस कर्म का उदय प्रारम्भ होता है और क्रम से तीस कोड़ाकोड़ी सागर काल पर्यन्त उदय में आता रहता है। अतः आबाधाकाल से हीन कर्मस्थितिप्रमाण कर्मनिषेक होते हैं। एक समय में जितने कर्मपरमाणु उदय में आते हैं उनके समूह को निषेक कहते हैं।

जैसे एक समय में एक जीव ने ६३०० परमाणुओं के समूहरूप समय प्रबद्ध का बन्ध किया। उनकी उत्कृष्ट स्थिति ५२ समय है। उसमें आबाधा। काल ४ समय है। उत्कृष्ट स्थिति ५२ में से ४ घटाने पर ४८ रहे। अतः ६३०० परमाणु ४८ समय में उदय में आयेंगे अतः वे ४८ निषेकों में विभाजित होकर क्रम से उदय में आते हैं। वे ४८ निषेक ६ गुणहानियों में विभाजित होते हैं अतः एक गुणहानि का काल ८ समय होता है। प्रत्येक गुणहानि का द्रव्य आधा-आधा होता जाता है।

४८ निषेकों की संदृष्टि इस प्रकार है—

गुणहानि समय	प्रथम गुणहानि	द्वितीय गुणहानि	तृतीय गुणहानि	चतुर्थ गुणहानि	पंचम गुणहानि	षष्ठ गुणहानि
१	५१२	२५६	१२८	६४	३२	१६
२	४८०	२४०	१२०	६०	३०	१५
३	४४८	२२४	११२	५६	२८	१४
४	४१६	२०८	१०४	५२	२६	१३
५	३८४	१९२	९६	४८	२४	१२
६	३५२	१७६	८८	४४	२२	११
७	३२०	१६०	८०	४०	२०	१०
८	२८८	१४४	७२	३६	१८	९
सर्व द्रव्य	३२००	+१६००	+८००	+४००	+२००	+१००=६३००

सातावेदनीय, स्त्रीवेद, मनुष्य गति, मनुष्य गत्यानुपूर्वी का उत्कृष्ट स्थिति-बन्ध पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम है और पन्द्रह हजार वर्ष आबाधा है।

मिथ्यात्व कर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम है और सात हजार वर्ष आबाधाकाल है।

सोलह कषायों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चालीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है और चार हजार वर्ष आबाधाकाल है।

पुरुषवेद, हास्य, रति, देवगति, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रऋषभनाराचसंहनन, देवगत्यानुपूर्वी, प्रशस्तविहायोगति, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, उच्चगोत्र का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है और आबाधा एक हजार वर्ष है। नपुंसकवेद, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, नरकगति, तिर्यग्गति, एकेन्द्रियजाति, पंचेन्द्रियजाति, औदारिक शरीर, वैक्रियिकशरीर, तैजस शरीर, कार्मण शरीर, हुण्ड संस्थान, औदारिक अंगोपांग, वैक्रियिक अंगोपांग, असंप्राप्त-सृपाटिका संहनन, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, आतप, उद्योत, अप्रशस्त विहायोगति, त्रस, स्थावर, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अना-देय, अयशःकीर्ति, निर्माण और नीचगोत्र का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। दो हजार वर्ष आबाधाकाल है।

दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, वामन संस्थान, कीलिक संहनन, सूक्ष्म, अपर्याप्त और साधारण नामकर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अठारह कोड़ाकोड़ी सागरोपम है। अठारह सौ वर्ष आबाधाकाल है।

आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग और तीर्थंकर नामकर्म का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध अन्त. कोड़ाकोड़ी सागरोपम है क्योंकि इनका बन्ध सम्यग्दृष्टि के ही होता है। इनका आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त मात्र है।

न्यग्रोधपरिमण्डल संस्थान और वज्रनाराच संहनन नामकर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध बारह कोड़ाकोड़ी सागर है। और, बारह सौ वर्ष आबाधाकाल है। स्वाति संस्थान और नाराच संहनन का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध चौदह कोड़ाकोड़ी सागरोपम है और उत्कृष्ट आबाधाकाल चौदह सौ वर्ष है।

कुब्जक संस्थान और अर्धनाराच संहनन नामकर्मों का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध सोलह कोड़ाकोड़ी सागर है और उत्कृष्ट आबाधाकाल सोलह सौ वर्ष है। उत्कृष्ट स्थिति में से उत्कृष्ट आबाधाकाल को घटाने पर जो कर्मस्थिति रहती है उतने ही उनके कर्मनिषेक होते हैं।

नरकायु और देवायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तेतीस सागरोपम है, और उत्कृष्ट आबाधाकाल पूर्वकोटिवर्ष का तीसरा भाग है। अर्थात् पूर्वकोटि के त्रिभाग से लेकर आवली के असंख्यातवें भाग पर्यन्त आबाधाकाल है।

जैसे सात कर्मों का आबाधाकाल कर्मों की स्थिति के अनुपात के अनुसार होता है वैसा नियम आयुकर्म में नहीं है। सात कर्मों की स्थिति में उनका आबाधाकाल भी सम्मिलित रहता है इसी से कर्मस्थिति में आबाधाकाल को घटाने पर जितनी कर्मस्थिति शेष रहती है उतने ही उनके कर्मनिषेक होते हैं। परन्तु आयुकर्म की स्थिति में आबाधाकाल सम्मिलित नहीं है अतः जितनी स्थिति होती है उतने ही कर्मनिषेक होते हैं।

जैसे देवायु का बन्ध मनुष्य या तिर्यंच ही करते हैं और उनके आगामी आयु का बन्ध शीघ्र से शीघ्र भुज्यमान आयु के दो-तिहाई भाग बीतने पर तथा अधिक से अधिक मृत्यु के पूर्व होता है। कर्मभूमि के मनुष्य और तिर्यंच की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व प्रमाण होती है। अतः देवायु का बन्ध भुज्यमान आयु के एक-तिहाई भाग शेष रहने पर होगा। इतना ही उत्कृष्ट आबाधाकाल होता है। मरते समय आयु बँधने पर आवली का असंख्यातवाँ भाग आबाधाकाल होता है। इन दोनों आबाधाकालों के बीच में आबाधा के मध्यम विकल्प होते हैं। इस आबाधा-काल के पूर्ण होने तक आगामी भवसम्बन्धी बाँधे गये आयुकर्म के निषेकों की स्थिति में कोई बाधा नहीं होती। बन्ध होने के बाद एक आवली प्रमाणकाल बीतने पर ज्ञानावरण आदि कर्मों के समयप्रबद्धों में तो अपकर्षण और संक्रमण के द्वारा बाधा होती है परन्तु आयुकर्म में ऐसा नहीं होता।

मनुष्यायु और तिर्यंचायु का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध तीन पल्योपम है और आबाधाकाल पूर्वकोटि का तीसरा भाग है।

शंका—आयुकर्म की आबाधा पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक क्यों नहीं होती?

समाधान—अनेक सागरों की आयुवाले देव और नारकियों में पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक आबाधा नहीं होती; क्योंकि उनकी भुज्यमान आयु के अधिक से अधिक छह मास शेष रहने पर और कम से कम आवली का असंख्यातवाँ भाग काल शेष रहने पर आगामी भवसम्बन्धी आयु का बन्ध होने से उनके पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक आबाधाकाल होना संभव नहीं। तिर्यंच और मनुष्यों में भी इससे अधिक आबाधा सम्भव नहीं है, क्योंकि उनकी भवस्थिति एक पूर्वकोटि से अधिक नहीं होती।

शंका—भोगभूमि में तो असंख्यात वर्षों की आयुवाले मनुष्य और तिर्यंच होते हैं फिर उनके पूर्वकोटि के त्रिभाग से अधिक आबाधा क्यों नहीं होती?

समाधान—क्योंकि देवों और नारकियों के समान उनके भुज्यमान आयु के छह मास शेष रहने पर ही पर भवसम्बन्धी आयु का बन्ध होता है।

संक्लेश की वृद्धि से सब कर्मों की स्थिति में वृद्धि होती है और विशुद्धि की वृद्धि से उन्हीं स्थितियों की हानि होती है।

पाँचों ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, लोभ संज्वलन और पाँचों अन्तरायों का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तर्मुहूर्त है क्योंकि कषायों का क्षपण करनेवाले क्षपक के दसवें गुणस्थान के अन्तिम समय में इस जघन्यस्थिति का बन्ध होता है। जघन्य आबाधाकाल अन्तर्मुहूर्त है।

पाँच दर्शनावरण और असातावेदनीय का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के सात भागों में से तीन भाग प्रमाण है। अन्तर्मुहूर्त आबाधा है।

सातावेदनीय का जघन्य स्थितिबन्ध बारह मुहूर्त है क्योंकि सूक्ष्मसाम्पराय के अन्तिम समय में यह बन्ध होता है। अन्तर्मुहूर्त आबाधाकाल है।

मिथ्यात्वकर्म का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भागहीन एक सागर प्रमाण है। अन्तर्मुहूर्त आबाधाकाल है।

बारह कषायों का जघन्य स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भागहीन सागर के सात भागों में से चार भाग प्रमाण है। अन्तर्मुहूर्त आबाधा है। क्रोध-संज्वलन, मानसंज्वलन, मायासंज्वलन का जघन्य स्थितिबन्ध क्रम से दो मास और एक पक्ष है। अन्तर्मुहूर्त आबाधा है। पुरुषवेद का जघन्य स्थितिबन्ध आठ वर्ष है। अन्तर्मुहूर्त आबाधा है।

नरकायु, देवायु का जघन्य स्थितिबन्ध दस हजार वर्ष और मनुष्यायु, तिर्यंचायु का जघन्य स्थितिबन्ध क्षुद्रभवग्रहण प्रमाण है। अन्तर्मुहूर्त आबाधा है।

शंका—भुज्यमान आयु में पूर्वकोटि का त्रिभाग शेष रहने पर भी देव और नारक सम्बन्धी दस हजार वर्ष की जघन्यस्थितिबन्ध सम्भव है फिर पूर्वकोटि का त्रिभाग आबाधा क्यों नहीं कही?

समाधान—नहीं, ऐसा मानने पर जघन्य स्थितिबन्ध सम्भव नहीं है। जघन्य स्थिति के साथ अन्तर्मुहूर्तकाल से अधिक आबाधा का विरोध है। नरकगति, देवगति, वैक्रियिक शरीर, वैक्रियिक अंगोपांग, नरकानुपूर्वी, देवानुपूर्वी का जघन्य-स्थितिबन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन एक हजार सागर के सात भाग में से दो भाग प्रमाण है। अन्तर्मुहूर्त आबाधा है।

आठ नोकषायों, नामकर्म की शेष प्रकृतियों और नीचगोत्र का जघन्यस्थिति-बन्ध पल्योपम के असंख्यातवें भाग से हीन सागरोपम के सात भागों में से दो-भाग प्रमाण है। अन्तर्मुहूर्त आबाधाकाल है।

आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग और तीर्थंकर नामकर्म का जघन्य स्थितिबन्ध अन्तः कोड़ीकोटी सागर प्रमाण है, क्योंकि अपूर्वकरण के अन्तिम समय से इसके सातवें भाग तक उतरे हुए अपूर्वकरण के यह बन्ध होता है। अन्तर्मुहूर्त आबाधा है।

यश:कीर्ति और उच्चगोत्र का जघन्य स्थितिबन्ध आठ मुहूर्त है। क्योंकि चरम समयवर्ती सकषायी जीव के यह बन्ध होता है। एक-एक प्रकृति का प्रकृति-बन्ध, अनुभागबन्ध, स्थितिबन्ध और प्रदेशबन्ध—इस प्रकार चार तरह का बन्ध होता है। इनमें से एक-एक बन्ध भी उत्कृष्ट, अनुत्कृष्ट, जघन्य, अजघन्य के भेद से चार प्रकार का होता है।

कर्मों में दस करण

जैन कर्म सिद्धान्त के अनुसार कर्मों में ये दस करण होते हैं—

बन्ध, उत्कर्षण, संक्रम, अपकर्षण, उदीरणा, सत्त्व, उदय, उपशम, निधत्ति और निकाचना।

सबसे प्रथम बन्धकरण होता है। जीव के साथ कर्म-पुद्गलों के एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं। बन्ध के पश्चात् कर्मपुद्गलों का सत्ता में रहना सत्त्व कहलाता है। अर्थात् बन्ध के दूसरे समय से लेकर फल देने के प्रथम समय तक उनकी सत्त्व या सत्ता संज्ञा है। बन्ध को प्राप्त कर्म प्रदेशों की स्थिति और अनुभाग को बढ़ाना उत्कर्षण है। इसीसे नीचे के निषेकों के परमाणुओं को ऊपर के निषेकों में मिलाने को भी उत्कर्षण कहा है। उत्कर्षण सब परमाणुओं का न होकर कुछ का होता है, कुछ का नहीं होता। जिनका नहीं होता उनका ब्यौरा इस प्रकार है—

उदयावली में स्थित कर्म परमाणुओं का उत्कर्षण नहीं होता। उदयावली के बाहर भी सत्ता में स्थित जिन कर्म परमाणुओं की स्थिति उत्कर्षण के समय बंधनेवाले कर्मों की आबाधा के बराबर या उससे कम शेष रही है उनका भी उत्कर्षण नहीं होता।

कर्म प्रदेशों की स्थिति और अनुभाग की हानि को अर्थात् जो पहले बाँधा था उससे कम करने को अपकर्षण कहते हैं। इसमें स्थिति को घटाकर, ऊपर के निषेकों का द्रव्य नीचे के निषेकों में दिया जाता है। पहले उदय में आने योग्य द्रव्य को नीचे का और पीछे उदय में आने योग्य द्रव्य को ऊपर का जानना। उदयावलि में स्थित कर्म परमाणुओं का अपकर्षण नहीं होता। उदयावली के बाहर स्थित कर्म परमाणुओं का ही अपकर्षण होता है।

जो प्रकृति पूर्व में बँधी थी उसका सजातीय अन्य प्रकृतिरूप परिणन होना संक्रमण है। जिस प्रकृति का बन्ध होता है उसी का संक्रमण भी होता है। यह

सामान्य नियम है। किन्तु मूल प्रकृतियों का परस्पर संक्रमण नहीं होता अर्थात् ज्ञानावरणीय कभी दर्शनावरणीय नहीं होता। उत्तर प्रकृतियों में ही संक्रमण होता है। किन्तु दर्शनमोहनीय चारित्रमोहनीय रूप और चारित्रमोहनीय दर्शनमोहनीय रूप नहीं होता। इसी प्रकार चारों आयुकर्मों में भी परस्पर में संक्रमण नहीं होता।

जिन कर्म प्रदेशों का संक्रमण अथवा उत्कर्षण होता है वे आवलिमात्र काल तक जिस प्रकार जहाँ जैसे हैं तदवस्थ ही रहते हैं उसके पश्चात् भजनीय हैं।

द्रव्य क्षेत्र काल आदि के निमित्त से अपनी-अपनी स्थिति का क्षय होने पर कर्मों के फल का प्राप्त होना उदय है। उदय के दो भेद हैं—स्वमुखोदय और परमुखोदय। जो प्रकृति आप रूप ही होकर उदय में आती है वह स्वमुखोदय है, जो प्रकृति अन्य प्रकृतिरूप होकर उदय में आती है वह परमुखोदय है।

अपक्व पाचन का नाम उदीरणा है। अर्थात् दीर्घकाल के बाद उदय में आने योग्य निषेकों को अपकर्षण के द्वारा अल्प स्थितिवाले निषेकों में अथवा उदयावली में देकर उदयमुख रूप से अनुभव करना उदीरणा है। जो कर्मस्कन्ध अपकर्षण उत्कर्षण आदि प्रयोग के बिना स्थिति का क्षय होने से अपना फल देते हैं उनकी उदय संज्ञा है और जो महान् स्थिति और अनुभागवाले कर्मस्कन्ध अपकर्षण के द्वारा फल देनेवाले किये जाते हैं उनकी उदीरणा संज्ञा है। यह उदय और उदीरणा में भेद है।

आत्मा में कर्मों की निज शक्ति का कारणवश प्रकट न होना उपशम है, जैसे कतक आदि द्रव्य के सम्बन्ध से मैले पानी का मैल नीचे बैठ जाता है और जल निर्मल हो जाता है। उसी प्रकार परिणामों की विशुद्धि से कर्मों की शक्ति का प्रकट न होना उपशम है। यह उपशमकरण केवल मोहनीयकर्म में ही होता है।

कर्म का उदयावली में आने को और अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण करने में समर्थ न होना निधत्ति है। कर्म का उदयावली में आने को, अन्य प्रकृतिरूप संक्रमण करने को, उत्कर्षण-अपकर्षण करने को समर्थ न होना निकाचित है। उपशम, निधत्ति और निकाचित ये तीनों करण अपूर्वकरण गुणस्थान पर्यन्त ही होते हैं। बन्धकरण और उत्कर्षणकरण जिस-जिस प्रकृति की जहाँ तक बन्धव्युच्छित्ति होती है उस-उस प्रकृति में वहाँ तक ही होते हैं। संक्रमणकरण स्वजातीय प्रकृतियों की बन्धव्युच्छित्ति जहाँ होती है वहाँ तक ही होता है।

१०. पुण्य-पाप

पुण्य की हेयता और उपादेयता को लेकर समाज में और विद्वानों में बहुत ऊहापोह चलता है अतः उसके सम्बन्ध में यहाँ आगम प्रमाण उपस्थित किये जाते हैं।

पुण्य का स्वरूप

जैन धर्म में सात तत्त्व हैं और उनमें पुण्य और पाप को मिलाने से नौ पदार्थ हो जाते हैं। 'तत्त्वार्थ सूत्र' में सात तत्त्वों का कथन है और 'समयसार' में नौ पदार्थों का विवेचन है।

'तत्त्वार्थ सूत्र' की टीका 'सर्वार्थसिद्धि' में सात तत्त्वों का विवेचन करते हुए यह शंका की गयी है कि इन सात तत्त्वों में पुण्य और पाप का भी ग्रहण करना चाहिए। अन्य आचार्यों ने भी नौ पदार्थों का ग्रहण किया है? इसके उत्तर में कहा गया है कि पुण्य और पाप का अन्तर्भाव आस्रवतत्त्व और बन्धतत्त्व में हो जाता है। अर्थात् आस्रव और बन्ध या तो पुण्यरूप होते हैं या पापरूप होते हैं। इस तरह पुण्यास्रव और पुण्यबन्ध तथा पापास्रव और पापबन्ध के भेद से आस्रव और बन्ध के दो भेद हैं। इससे प्रकट हुआ कि पुण्य और पाप कर्मरूप हैं जो संसारदशा में जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं।

कर्म आठ हैं। उनमें से चार घाति कर्म हैं और चार अघाति कर्म हैं। चारों घाति कर्म तो पापरूप ही हैं। अघातिकर्मों में ही पुण्यकर्म और पापकर्म का भेद है।

पुण्य और पापकर्म के दो भेद और भी हैं—द्रव्य और भाव। अर्थात् द्रव्यपुण्य और भावपुण्य, द्रव्यपाप और भावपाप।

'प्रवचनसार' (२।८९) में शुभ परिणाम को पुण्य और अशुभ परिणाम को

पाप कहा है। उसकी टीका में कहा है—पुण्य कर्मपुद्गलों के बन्ध में कारण शुभ परिणाम पुण्य है और पाप कर्म पुद्गलों के बन्ध में कारण होने से अशुभपरिणाम पाप है। शुभपरिणाम को भावपुण्य कहते हैं और उसका निमित्त पाकर बँधनेवाले कर्मपुद्गलों को द्रव्यपुण्य कहते हैं।

'तत्त्वार्थसूत्र' में कहा है—शुभः पुण्यस्य अशुभः पापस्य (६।३)। अर्थात् शुभ-योग से पुण्यकर्म का आस्रव होता है और अशुभयोग से पापकर्म का आस्रव होता है।

अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य आदि शुभ काययोग हैं। सत्य, हितमित भाषण आदि सत्य वचनयोग हैं। अर्हन्त आदि की भक्ति, तप में रुचि, श्रुत की विनय आदि शुभ मनोयोग हैं।

इसी सूत्र की टीका में आगे शुभयोग और अशुभयोग का स्वरूप इस प्रकार कहा है—जो योग शुभ परिणाम से होता है वह शुभ है और जो अशुभ परिणाम से होता है वह अशुभ है। जो शुभ कर्म का कारण है वह शुभ योग है और जो अशुभ कर्म का कारण है वह अशुभयोग है, ऐसा लक्षण करने से तो कोई शुभयोग होगा ही नहीं, क्योंकि प्रति समय संसारी जीव के आयुकर्म को छोड़कर सात कर्म सदा बँधते रहते हैं। अतः शुभ योग से जहाँ पुण्यकर्म का बन्ध होता है वहाँ ज्ञानावरण आदि घातिकर्मों का भी बन्ध होता है। अतः केवल अकेले पुण्यकर्म का बन्ध तो वीतराग दशा में ग्यारहवें आदि गुणस्थानों में ही होता है। दसवें गुणस्थान तक तो पुण्यकर्म के साथ ज्ञानावरण आदि पाप कर्म भी बँधते हैं।

पुण्यास्रव के कारण

'पंचास्तिकाय' (गाथा १३५) में कहा है—जिस जीव के प्रशस्तराग है, परि-णाम दया से भीगे हुए हैं, चित्त में कलुषता नहीं है, उसके पुण्यकर्म का आस्रव होता है। 'मूलाचार' तथा 'भगवती आराधना' में भी ऐसा ही कहा है।

अर्हन्त सिद्ध साधु में भक्ति, व्यवहार चारित्र के अनुष्ठान में संलग्नता, आचार्य आदि गुरुओं का अनुरागपूर्वक अनुगमन, इनको प्रशस्तराग कहते हैं। भूखे-प्यासे और दुःखी जन को देखकर जो मन में दुखी होता है और दयाभाव से उसके पास आकर उसका कष्ट दूर करता है उसके दया भाव होता है। क्रोध, मान, माया और लोभ के तीव्र उदय में चित्त में जो क्षोभ होता है उसे कलुषता कहते हैं और उनका मन्द उदय होने पर चित्त में जो प्रसन्नता होती है उसे अकलुषता कहते हैं। ये सब पुण्यास्रव के कारण हैं।

पापास्रव के कारण

प्रमाद से भरी हुई चर्या, कलुषतारूप परिणाम, विषयों में लोलुपता, दूसरे

जीवों को कष्ट देना, उनकी निन्दा आदि करना पापास्रव के कारण हैं।

आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'आप्तमीमांसा' नामक प्रकरण में पुण्यास्रव और पापास्रव का विचार करते हुए लिखा है—यदि ऐसा एकान्त माना जाता है कि दूसरों को सुख देने से पुण्यबन्ध होता है और दूसरों को दुःख देने से पापबन्ध होता है तो अचेतन दूध आदि को पुण्यबन्ध और कण्टक आदि को पापबन्ध होना चाहिए क्योंकि ये दोनों दूसरों को सुख-दुःख देने में निमित्त होते हैं। यदि कहोगे कि चेतन प्राणियों के ही पुण्य-पाप का बन्ध होता है तो वीतरागी को भी पुण्य या पाप का बन्ध होना चाहिए क्योंकि वे भी दूसरों के सुख या दुःख में निमित्त होते हैं।

यदि कहोगे कि अपने को कष्ट देने से पुण्यबन्ध और सुख देने से पापबन्ध होता है तो वीतरागी और विद्वान् मुनि को पुण्य-पाप का बन्ध होना चाहिए; क्योंकि वीतरागी त्रिकाल योगादि के अनुष्ठान से अपने को दुःख पहुँचाता है और विद्वान् को तत्त्वज्ञान और सन्तोष से सुख होता है। ऐसी स्थिति में किसी की मुक्ति ही नहीं होगी क्योंकि पुण्य और पाप का कभी अभाव नहीं होगा। तब स्याद्वाद में पुण्य और पाप के आस्रव की क्या व्यवस्था है?

इसके उत्तर में समन्तभद्र ने कहा है—अपने में स्थित सुख-दुःख या पर में स्थित सुख-दुःख यदि विशुद्धि का कारण, विशुद्धि का कार्य और विशुद्धिस्वभाव है तो पुण्यास्रव होता है और यदि संक्लेश का कारण, संक्लेश का कार्य और संक्लेशस्वभाव है तो पाप का आस्रव होता है। आर्तध्यान रौद्रध्यान रूप परिणाम को संक्लेश कहते हैं और उसके अभाव को अर्थात् धर्मध्यान शुक्लध्यान को विशुद्धि कहते हैं।

पुण्यात्मा जीव और पापी जीव

'मूलाचार' (गाथा २३४) में कहा है जो जीव सम्यक्त्व से, श्रुत से, पाँच महाव्रत रूप विरति से तथा कषाय का निग्रह करनेवाले उत्तम क्षमा आदि गुणों से युक्त है वह पुण्यात्मा जीव है और उससे विपरीत जीव पापी है। 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' (गाथा ६२१) में ऐसा ही कहा है। 'द्रव्यसंग्रह' (गाथा ३८) में शुभ-परिणामों से युक्त जीव को पुण्यी और अशुभ परिणामों से युक्त जीव को पापी कहा है।

अतः लोक में जो संपत्तिशाली को पुण्यात्मा कहा जाता है वह ठीक नहीं है। जो पुण्य को भोग रहा है वह पुण्यात्मा नहीं है किन्तु जो पुण्यबन्ध के कार्य करता है वह पुण्यात्मा है।

पुण्य और पाप में अन्तर

'मोक्षपाहुड' (गाथा २५) में कहा है—व्रत-तप आदि के आचरण से स्वर्ग का सुख भोगना श्रेष्ठ है, अव्रत आदि से नरक का दुःख उठाना निकृष्ट है। छाया में

खड़े रहनेवाले और धूप में खड़े रहनेवालों में महान् अन्तर होता है। अर्थात् पुण्य-बन्ध के भय से व्रतादि का आचरण न करने पर नरकादि का दुःख भोगना पड़ता है। उससे तो व्रताचरण पूर्वक पुण्यसंचय करके स्वर्ग सुख भोगना श्रेष्ठ है। यही बात 'इष्टोपदेश' (श्लोक ३) में पूज्यपाद स्वामी ने कही है। 'तत्त्वार्थसार' (४।१०३) में अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है—हेतु और कार्य की विशेषता से पुण्य और पाप में विशेषता है। पुण्य का हेतु शुभभाव है और पाप का हेतु अशुभभाव है। पुण्य का कार्य सुख है और पाप का कार्य दुःख है। 'आत्मानुशासन' (श्लोक २३९) में कहा है—शुभ, अशुभ, पुण्य, पाप, सुख, दुःख ये छह हैं। इनमें से युगल के आदि के तीन शुभ, पुण्य और सुख हितकारी होने से करने योग्य हैं। शेष तीन अहितकारी हैं।

पुण्य की महिमा

आचार्य कुन्दकुन्द ने 'प्रवचनसार' (१।४५) में अरहंत अवस्था को पुण्य का फल कहा है तथा पञ्चकल्याण रूप पूजा का जनक और तीनों लोकों को जीतनेवाला जो तीर्थंकर नामक पुण्यकर्म है उसी का फल अरहंत अवस्था है।

'भगवती आराधना' (गाथा १७३१-३२) में कहा है—पाप अर्थात् लाभान्तराय कर्म के उदय से मनुष्य के हाथ में आया हुआ भी पदार्थ नष्ट हो जाता है और पुण्यवान् के हाथ में बिना प्रयत्न के दूर से भी पदार्थ आ जाता है। पाप के उदय से अच्छा काम करने पर भी मनुष्य को दोष लगता है और पुण्य के उदय से बुरा कार्य करने पर भी प्रशंसा होती है।

'धवला' (पृ. १०५) में भी तीर्थंकर, गणधर, ऋषि, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, देव और विद्याधरों की ऋद्धियों को पुण्य का फल कहा है।

'महापुराण' (३७।१९१-१९९) में कहा है—पुण्य के विना चक्रवर्ती के समान अनुपम रूप सम्पदा, वज्रर्षभनाराच संहनन, नौ निधियाँ, चौदह रत्न, हाथी-घोड़े सब कैसे प्राप्त हो सकते हैं?

'आत्मानुशासन' (श्लोक ३७) में कहा है—यदि पूर्व उपार्जित पुण्य है तो आयु, लक्ष्मी, शरीर आदि सब प्राप्त होते हैं किन्तु यदि वह नहीं है तो अत्यन्त श्रम करने पर भी ये सब प्राप्त नहीं हो सकते।

'पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका' (१।१८९) में कहा है—पुण्य के प्रभाव से अन्धा मनुष्य भी सुन्दर नेत्रवाला हो जाता है। वृद्ध भी लावण्ययुक्त हो जाता है। निर्बल भी शेर की तरह बलवान हो जाता है। विरूप आकारवाला भी कामदेव के समान सुन्दर हो जाता है।

'अनगारधर्मामृत' के प्रथम अध्याय में पुण्य की महिमा का वर्णन करते हुए कहा है—यदि सम्मुख पुण्य का उदय है तो सुख के दूसरे उपाय करने से क्या

प्रयोजन ? और यदि वह सम्मुख नहीं है तब भी दूसरे उपाय करने से क्या प्रयोजन ?

इस तरह अनेक शास्त्रों में पुण्य की महिमा का वर्णन है।

पुण्य करने की प्रेरणा

'महापुराण' (३८।२००) में कहा है—हे पण्डितो ! चक्रवर्ती की विभूति को पुण्य के उदय से हुई मानकर पुण्य का संचय करो, जो सुख-सम्पदा की दूकान है।

'आत्मानुशासन' में कहा है—विद्वानों ने पुण्य और पाप का कारण परिणामों को ही कहा है। अतः पुण्य का संचय और पाप की निर्जरा सम्यक् रीति से करो। हे भव्य ! पुण्य कर, क्योंकि पुण्यशाली पर असाधारण भी उपद्रव कोई प्रभाव नहीं डाल सकता बल्कि वह उपद्रव उसकी समृद्धि का कारण बन जाता है ।।

इस प्रकार शास्त्रों में पुण्य का महत्त्व बतलाकर उसके करने की प्रेरणा भी की गयी है। इसका मुख्य कारण यह है कि संसारी मनुष्य का जीवन कर्मप्रधान होता है। वह कर्म किये बिना नहीं रह सकता। उसका जीवनव्यापार भी कर्म के बिना चल नहीं सकता और कर्म मात्र बन्ध का कारण है चाहे वह कर्म शुभ हो या अशुभ। अन्तर इतना ही है कि शुभकर्म से पुण्यबन्ध होता है और अशुभकर्म से पापबन्ध होता है। पुण्यबन्ध का फल सांसारिक सुख है और पापबन्ध का फल दुःख है। किन्तु दोनों ही बन्धरूप होने से संसार के कारण हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर पुण्य-पाप दोनों ही समान है। इसीसे जहाँ शास्त्रों में पुण्य की प्रशंसा और पुण्य करने की प्रेरणा की गयी है वहाँ पुण्य की निन्दा भी की गयी है। उसी का दिग्दर्शन आगे कराया जाता है।

पुण्य और पाप में परमार्थ से कोई भेद नहीं

'समयसार' के पुण्यपापाधिकार के आरम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—अशुभकर्म कुशील और शुभकर्म सुशील कहा जाता है। किन्तु जो कर्म जीव को संसार में घुमाता है वह सुशील कैसे हुआ ? जैसे पुरुष को सोने की साँकल भी बाँधती है और लोहे की साँकल भी बाँधती है। इसी प्रकार जीव को शुभकर्म भी बाँधता है और अशुभकर्म भी बाँधता है। इसलिए शुभ और अशुभ दोनों ही कर्म कुशील हैं अतः कुशीलों के साथ मत राग करो, मत संसर्ग करो। कुशीलों के संसर्ग और राग से अपनी स्वाधीनता नष्ट होती है।

यह कहा गया है कि पुण्यबन्ध से स्वर्गों के भोग मिलते हैं। इसपर आचार्य कुन्दकुन्द 'प्रवचनसार' में कहते हैं—यदि शुभ परिणामों के द्वारा संचित पुण्य है तो उसका उदय देवों तक में विषयतृष्णा को उत्पन्न करता है। विषयों की तृष्णा से दुःखी होकर वे विषय सुख की इच्छा करते हैं और मरणपर्यन्त विषयों में आसक्त

रहते हैं। आगे लिखते हैं—"जो, पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है, ऐसा नहीं मानता, वह मोह से अन्धा होकर घोर अपार संसार में भ्रमण करता है।"

सारांश यह है कि द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप में तो व्यवहार से भेद है। भावपुण्य और भावपाप में तथा उसके फल सुख और दुःख में अशुद्ध निश्चयनय से भेद है। किन्तु शुद्ध निश्चय से दोनों ही शुद्धात्मा से भिन्न हैं अतः दोनों में कोई भेद नहीं है। इस प्रकार शुद्धनय से जो पुण्य और पाप में अभेद नहीं मानता वह देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, कामदेव आदि पद की प्राप्ति के लिए निदानबन्ध के द्वारा पुण्य की इच्छा करता हुआ मोह से मत्त होकर सोने और लोहे की साँकल के समान पुण्य और पाप से बँधकर संसार में भ्रमण करता रहता है। अतः जैसे धातुभेद से सोने की साँकल और लोहे की साँकल में अन्तर है किन्तु बन्धन में कारण होने से दोनों समान हैं वैसे ही सांसारिक सुख और दुःख का कारण होने से पुण्य और पाप में अन्तर है किन्तु दोनों ही संसार कारण हैं अतः कोई अन्तर नहीं है। आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने 'तत्त्वार्थसार' (४।१०३-१०४) में यही कहा है—

> हेतुकार्यविशेषाभ्यां विशेषः पुण्यपापयोः ।
> हेतू शुभाशुभौ भावौ कार्ये चैव सुखासुखे ॥
> संसारकारणत्वस्य द्वयोरप्यविशेषतः ।
> न नाम निश्चयेनास्ति विशेषः पुण्यपापयोः ॥

अर्थात् हेतु और कार्य के भेद से पुण्य और पाप में भेद है। शुभ और अशुभभाव पुण्य, पाप के हेतु हैं तथा उन दोनों का कार्य क्रम से सुख और दुख है। किन्तु संसार का कारण होने से दोनों में भी कोई भेद नहीं है। अतः निश्चय से पुण्य और पाप में कोई भेद नहीं है।

इन्हीं आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयसार कलश' (१०१) में दृष्टान्त के द्वारा पुण्य-पाप में मिथ्याभेद बतलाते हुए कहा है—

एक शूद्रा के गर्भ से दो जुड़वां पुत्र पैदा हुए। उनमें से एक ब्राह्मण के यहाँ पाला गया। वह अपने को ब्राह्मण मानकर मदिरा से दूर रहता था। दूसरा शूद्र अपने को शूद्र मानकर मदिरा में आकण्ठ डूबा रहता था। ये दोनों ही शूद्रा से उत्पन्न होने से साक्षात् शूद्र हैं। किन्तु भ्रम से अपनी भिन्न जाति मानते हैं। इसी प्रकार पुण्य और पाप की भी स्थिति है।

'समयसार' के इसी प्रकरण में पुण्यकर्म के पक्षपातियों को प्रतिबुद्ध करने के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

> परमट्ठबाहिरा जे अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति ।
> संसारगमणहेदुं पि मोक्खहेउं अजाणंता ॥१५४॥

अर्थात् जो परमार्थ से बहिर्भूत जन मोक्ष के कारण को नहीं जानते वे अज्ञानवश संसार का कारण होने पर भी पुण्य की इच्छा करते हैं।

पुण्य पाप से भी बुरा

'योगसार' में कहा है—पाप को पाप तो सब जानते हैं परन्तु जो पुण्य को भी पाप कहता है ऐसा पण्डित तो विरला ही है। 'परमात्मप्रकाश' (२।५६-५७) में कहा गया है—हे जीव! ज्ञानी जन उस पाप को भी अच्छा कहते हैं जो जीव को दुःख देकर उसे शीघ्र ही मोक्षगामी बना देता है और उस पुण्य को भी अच्छा नहीं कहते, जो जीव को राजा बनाकर फिर शीघ्र ही दुःख का पात्र बनाता है।

'तिलोयपण्णत्ति' (९।५२) में पुण्य की निन्दा करते हुए कहा गया है—पुण्य से वैभव मिलता है। वैभव पाकर मनुष्य को मद होता है। मद से बुद्धि नष्ट हो जाती है। बुद्धिनाश से पाप होता है। ऐसा पुण्य हमें कभी प्राप्त न हो।

पुण्य की इच्छा करने से पुण्यबन्ध नहीं होता

'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' (गा. ४०९-४१३) में पुण्य की इच्छा को भी बुरा बतलाते हुए कहा है—ये उत्तमक्षमादि रूप दस धर्म पापकर्म के नाशक और पुण्यकर्म के जनक कहे हैं किन्तु इन्हें पुण्यबन्ध की भावना से नहीं करना चाहिए। क्योंकि जो पुण्य की इच्छा करता है वह संसार की इच्छा करता है। उसका कारण यह है कि पुण्य सुगति का कारण है, मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्ष-प्राप्ति के लिए तो पुण्य का भी विनाश अपेक्षित है।

जो कषाययुक्त पुरुष विषय सुख की तृष्णा से पुण्य की अभिलाषा करता है उसके परिणामों में विशुद्धि कैसे हो सकती है? और, पुण्यबन्ध के मूल विशुद्धिरूप परिणाम हैं। पुण्य की आशा रखने से पुण्यबन्ध नहीं होता। जिसे इस लोक और परलोक की वांछा नहीं है उसे ही पुण्य की प्राप्ति होती है। मन्दकषायरूप परिणत होने पर ही जीव पुण्यबन्ध करता है। अतः पुण्यबन्ध का कारण मन्दकषाय है, पुण्य की इच्छा पुण्यबन्ध का कारण नहीं है।

इस प्रकार 'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में पुण्यबन्ध के विषय में जो कहा गया है वह अनमोल है। पुण्य के कार्य कीजिए किन्तु पुण्यबन्ध की इच्छा मत रखिए। इच्छा तो निदानरूप होने से दुर्गति का ही कारण होती है। सम्यग्दृष्टि निदान नहीं करता इसीलिए उसके पुण्य को परम्परा से मोक्ष का कारण कहा गया है।

सम्यग्दृष्टि का पुण्य

'भावसंग्रह' (गा. ४०४) में कहा है कि यदि सम्यग्दृष्टि निदान न करे तो उसका पुण्य संसार का कारण नहीं होता, नियम से मोक्ष का कारण होता है।

क्योंकि तब वह देवगति में भी भोगों में न फँसकर, मरकर उत्तम मनुष्य जन्म धारण करके तप द्वारा मोक्ष प्राप्त करता है। निदानरहित पुण्यबन्ध का मतलब ही यह है कि उसे भोगों की इच्छा नहीं है। बिना इच्छा के ही उसके पुण्यबन्ध होता है। वही पुण्य कार्यकारी होता है। यथार्थ में भोगमूलक पुण्य ही संसार का कारण है, योगमूलक नहीं।

'परमात्मप्रकाश' (२।६०) की टीका में कहा है—भेदाभेदरत्नत्रय की आराधना से रहित तथा भोगों की इच्छा रूप निदानबन्ध के परिणामों से सहित जीव ने पूर्वभव में जो पुण्य संचय किया है वही मद और अहंकार को उत्पन्न करता है तथा बुद्धि को नष्ट करता है। किन्तु सम्यक्त्व आदि गुणसहित पुण्यबन्ध ऐसा नहीं होता।

मिथ्यात्व सहित पुण्य ही अनर्थकारी

'परमात्मप्रकाश' (२।५८-५९) में ही कहा है—सम्यग्दर्शन के अभिमुख होकर जीव का मरण भी श्रेष्ठ है और सम्यग्दर्शन से विमुख होकर पुण्य करना भी श्रेष्ठ नहीं है। जो सम्यग्दर्शन के अभिमुख होते है वे अनन्त सुख प्राप्त करते हैं और उसके बिना पुण्य करते हुए भी अनन्त दुःख सहते हैं। उसकी (२।५७) टीका में भी कहा गया है—निदानबन्धपूर्वक उपार्जित पुण्य से आगामी भव में राज्य आदि विभूति मिलने पर वह भोगों को छोड़ने में असमर्थ होता है। अतः वह उस पुण्य से रावण आदि की तरह नरक का दुःख भोगता है। 'भावसंग्रह' (गाथा ४००) में उल्लेख है—मिथ्यादृष्टि का पुण्य कुदेवों, कुमनुष्यों और तिर्यंचों में उत्पन्न कराता है।

पुण्य उपादेय भी और हेय भी

'भावसंग्रह' में पुण्य की उपादेयता और हेयता का विवेचन करते हुए कहा है—घर के कार्यों में फँसे होते हुए भी यदि कोई कहता है कि हमें पुण्य से कोई प्रयोजन नही है तो उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि घर में रहते हुए और सदा सैकड़ों कार्य करते हुए वह सदा आर्त और रौद्र ध्यान होता रहता है। फलतः उनसे अशुभकर्म का आस्रव होता है। अतः जब तक गृहस्थाश्रम नहीं छूटता तब तक पापबन्ध से भी छुटकारा नहीं होता। तब तक पुण्यबन्ध के कारणों को नहीं छोड़ना चाहिए। जो पुरुष गृह-व्यापार से विरक्त होकर जिनमुद्रा धारण कर लेता है, प्रमाद छोड़ देता है उसके पुण्य के कारण छूट जाते हैं। अर्थात् गृहस्थाश्रम में पुण्य-बन्ध के कारण जिनपूजा आदि विधेय हैं किन्तु मुनि अवस्था में हेय बन जाते हैं। किन्तु जो अशुभबन्ध के कारण असि मसि आदि षट्कर्मों में सदा लगा रहता है और कर्मबन्ध के भय से पुण्यबन्ध के कारणों को पसन्द नहीं करता वह पुरुष जिन

भगवान के द्वारा कहे भी पदार्थों के स्वरूप को भलिभाँति नहीं जानता तथा ज्ञानियों के मध्य में अपने को हास्य का पात्र बनाता है।

पुण्य और धर्म

प्रायः उत्तरकाल में पुण्य के अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है। इसका कारण यह है कि धर्म कहे जानेवाले व्रतादि कार्यों से ही पुण्यबन्ध होता है। अतः जो ऐसे कार्य करता है वह धर्मात्मा है। किन्तु यथार्थ में धर्म और पुण्य में बहुत अन्तर है। धर्म से कर्म कटते हैं और पुण्य से कर्म बँधते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'भावपाहुड' (गा. ८४) में कहा है—जो पुरुष पुण्य को धर्म जानकर श्रद्धान करते हैं, प्रतीति करते हैं, रुचि करते हैं, स्पर्श करते हैं उनका पुण्य भोग के लिए है, कर्मक्षय के लिए नहीं।

यथार्थ में धर्म वही है जो संसार से पार उतारनेवाला है। 'भावपाहुड' में ही आगे (गाथा ८५ में) कहा है—रागादि सकल दोषों से रहित आत्मा का आत्मा में लीन होना धर्म है। उस धर्म को जिनेन्द्रदेव ने संसार से पार उतरने का कारण कहा है। यदि कोई आत्मा की ओर लक्ष्य नहीं रखता, उसको प्राप्त करने की इच्छा नहीं करता और सब प्रकार के पुण्य कार्यों को करता है वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता। वह सदा संसारी ही बना रहता है।

पुण्य और धर्म के भेद को स्पष्ट करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—

पूयादिसु वय सहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो॥

—भावसंग्रह (गाथा ८३)

अर्थात् जिनशासन में जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि पूजा आदि में लगना तथा व्रतादि धारण करना पुण्य है और मोह तथा क्षोभ (राग-द्वेष) से रहित आत्मा का परिणाम धर्म है।

आचार्य समन्तभद्र ने भी अपने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' को प्रारम्भ करते हुए कहा है—

देशयामि समीचीनं धर्मं कर्मनिबर्हणम्।
संसारदुःखतः सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे॥२॥

अर्थात् मैं कर्मबन्धन को नष्ट करनेवाले उस समीचीन धर्म का उपदेश करूँगा जो जीवों को संसारदुःख से छुड़ाकर उत्तम सुख में धरता है।

इससे आगे उन्होंने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है। तथा श्रावक के पाँच अणुव्रतों का कथन करके कहा है कि निरतिचार पाँच अणुव्रत धारण करने से स्वर्गलोक मिलता है जहाँ अवधिज्ञान, आठ ऋद्धियाँ और

दिव्य शरीर मिलता है। यह सब व्रताचरण से होनेवाले पुण्यबन्ध का ही फल है।

पं. आशाधरजी ने अपने 'अनगारधर्मामृत' की टीका (११२४) में लिखा है—यहाँ अभिप्राय यह है कि उक्त धर्मानुराग के कारण जो पुण्यबन्ध होता है उसे भी उपचार से धर्म कहते हैं। यहाँ उपचार का निमित्त है—एक अर्थ से सम्बद्ध होना और प्रयोजन है—लोक और शास्त्र में पुण्य को धर्म कहा जाना। 'अमरकोश' में धर्म शब्द का एक अर्थ पुण्य भी है। 'आत्मानुशासन' में भी कहा है—धर्म से वैभव की प्राप्ति होती है अतः धर्म का पालन करके भोगों का अनुभव कर। यहाँ धर्म शब्द का व्यवहार पुण्य के लिए हुआ है। इस तरह उपचार से पुण्य को भी धर्म कहा जाता है।

रत्नत्रय पुण्यबन्ध का कारण नहीं

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट हो जाता है और व्रतादि रूप सम्यक्चारित्र पाँचवें गुणस्थान से प्रारम्भ होता है तथा पुण्यबन्ध तो सयोग-केवली के भी सातारूप होता है तो क्या रत्नत्रय पुण्यबन्ध का भी कारण है? मोक्ष का भी? एक ही कारण से परस्पर विरोधी दो कार्य बन्ध और मोक्ष कैसे हो सकते है? इस शंका के समाधान में आचार्य अमृतचन्द्र ने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के अन्त में कहा है—

> असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
> स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

अर्थात् असमग्र (असम्पूर्ण) एकदेशादिरूप रत्नत्रय का भावन करनेवाले के जो कर्म-बन्ध होता है वह अवश्य ही विपक्ष अर्थात् रागादिकृत है। क्योंकि मोक्ष का उपाय बन्धन का उपाय नहीं है।

यह इस श्लोक का यथार्थ अर्थ है किन्तु इसका अर्थ रायचन्द शास्त्रमाला से प्रकाशित प्रति में भी गलत है और उसी के आधार पर विद्वज्जन तक उसका अर्थ गलत करते हैं। वह इस प्रकार है—

'असम्पूर्ण रत्नत्रय को भावन करने वाले पुरुष के जो (कर्मबन्ध) शुभ कर्म का बन्ध है वह बन्ध रागकृत होने पर भी अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बन्ध का उपाय नहीं है।'

मूल में 'कर्मबन्धः' पाठ है क्योंकि शुभ-अशुभ दोनों ही प्रकार के कर्मों का बन्ध दसवें गुणस्थान तक होता है। यदि आचार्य को यहाँ केवल पुण्यबन्ध ही इष्ट था तो 'कर्मबन्धः' के स्थान में 'पुण्यबन्धः' रख सकते थे। विपक्षकृत कर्मबन्ध को मोक्ष का ही उपाय बताना आचार्य अमृतचन्द्र के लिए किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है।

फिर इस गलत अर्थ के साथ आगे के कथन का सम्बन्ध भी नहीं बैठता। आगे लिखा है—

'उसके जिस अंश से सम्यग्दर्शन है उस अंश से बन्ध नहीं है। जिस अंश से राग है उस अंश से बन्धन होता है। जिस अंश से ज्ञान है उस अंश से बन्धन नहीं है। जिस अंश से राग है उस अंश से बन्धन होता है। जिस अंश से चारित्र है उस अंश से बन्धन नहीं है और जिस अंश से राग है उस अंश से बन्धन होता है।'

इस कथन से यह सिद्ध किया है कि कर्मबन्ध रत्नत्रय से नहीं होता उसके साथ रहने वाले राग से होता है। अन्त में कहते हैं—

> रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
> आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगस्य सोऽयमपराधः ॥२२०॥

अर्थात् यहाँ रत्नत्रय तो मोक्ष का ही कारण है, बन्ध का कारण नहीं। उसके होते हुए जो पुण्य का आस्रव होता है वह शुभोपयोग का अपराध है।'

इसके साथ उक्त गलत अर्थ की संगति नहीं बैठती। एक जगह पुण्य को अवश्य ही मोक्ष का उपाय कहना और दूसरी जगह उपसंहार में उसे शुभोपयोग का अपराध कहना कैसे संगत हो सकता है? अतः उक्त श्लोक के अन्तिम चरण को तीसरे के साथ नहीं जोड़कर अलग रखना चाहिए। यथा—

(स) वह कर्मबन्ध (अवश्यं) अवश्य (विपक्षकृतः) रागादिकृत है। क्योंकि (मोक्षोपायः) जो मोक्ष का कारण होता है वह (बन्धनोपायो न) बन्धन का कारण नहीं होता।

११. सम्यग्दर्शन

सम्यग्दर्शन के सन्दर्भ में हम शास्त्राधारपूर्वक विस्तार से विचार करेंगे क्योंकि इसके सम्बन्ध में भी कुछ बातों को लेकर विवाद की सी स्थिति पैदा कर दी गयी है।

सम्यग्दर्शन का महत्त्व तथा मोक्षमार्ग में प्रधानता

सबसे प्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के वचनों को उद्धृत करते हैं। उन्होंने अपने 'दर्शन प्राभृत' में कहा है—जिनवर ने अपने शिष्यों को उपदेश दिया है कि धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है (गाथा २)। जो पुरुष सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वही भ्रष्ट है और जो दर्शन से भ्रष्ट है उसे मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। जो चारित्र से भ्रष्ट है किन्तु दर्शन से भ्रष्ट नहीं है वे शीघ्र ही चारित्र धारण करके मोक्ष को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो दर्शन से भ्रष्ट हैं वे मोक्ष को प्राप्त नहीं होते (३)। जो पुरुष सम्यक्त्व रूप रत्न से भ्रष्ट हैं तथा अनेक प्रकार के शास्त्रों को जानते हैं तथापि आराधना से रहित होते हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं (४)। जो पुरुष सम्यक्त्व से रहित हैं वे भलीभाँति उग्र तपश्चरण करते हुए भी हज़ार करोड़ वर्ष तक भी बोधि लाभ (स्वरूप की प्राप्ति) नहीं कर पाते (५)। जिसके हृदय में नित्य सम्यक्त्व रूपी जल का प्रवाह बहता रहता है उसका कर्मबन्ध रेत की दीवार की तरह नष्ट हो जाता है (७)। जैसे मूल के नष्ट हो जाने पर वृक्ष के शाखादिरूप परिवार की वृद्धि नहीं होती, उसी प्रकार जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट हैं वे मूलविनष्ट है, उन्हें मोक्षफल प्राप्त नहीं होता (१०)। जैसे वृक्ष का मूल होने से उसका स्कन्ध शाखा परिवार बहुत होता है उसी प्रकार सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग का मूल कहा है (११)।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहा गया सम्यग्दर्शन रूपी रत्न सब

गुणों का तथा रत्नत्रय—दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सार है और मोक्ष की पहली सीढ़ी है, उसे भावपूर्वक धारण करो।

'भावपाहुड' में कहा है—जैसे तारागणों में चन्द्र और समस्त मृगकुलों में मृगराज सिंह प्रधान है उसी प्रकार मुनि और श्रावक दोनों धर्मों में सम्यक्त्व प्रधान है (गाथा १४४)।

'मोक्षपाहुड' में कहा है—बहुत कहने से क्या? जो पुरुषश्रेष्ठ अतीतकाल में सिद्ध हुए हैं तथा भविष्य में होंगे, वह सम्यक्त्व का ही माहात्म्य जानो (८८)।

'रयणसार' में उल्लेख है कि सम्यग्दर्शन के बिना नियम से सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र नहीं होते। इसी से जिनेन्द्र भगवान् ने कहा है कि रत्नत्रय में सम्यग्दर्शन ही उत्कृष्ट है (४७)। जैसे कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणिरत्न और रसायन को प्राप्त करके मनुष्य यथेच्छ सुख भोगता है वैसे ही सम्यग्दर्शन को प्राप्त करके मनुष्य यथेच्छ सुख भोगता है (५४)। जब यह जीव सम्यग्दर्शन को प्राप्त कर लेता है तब सुखी हो जाता है। जब तक उसे प्राप्त नहीं करता, दुःखी रहता है (१५८)। इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने सम्यग्दर्शन की महत्ता और मोक्षमार्ग में उसकी प्रधानता का कथन किया है।

अब हम आचार्य समन्तभद्र की ओर आते हैं। उन्होंने अपने 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' नामक छोटे से ग्रन्थ के आदि में चालीस श्लोकों के द्वारा सम्यग्दर्शन का वर्णन किया है। मोक्षमार्ग में उसका महत्त्व बतलाते हुए वे कहते हैं—

ज्ञान और चारित्र से सम्यग्दर्शन श्रेष्ठ है, क्योंकि वह मोक्षमार्ग में कर्णधार कहा जाता है (३१)। जैसे बीज के अभाव में वृक्ष नहीं होता वैसे ही सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान और चरित्र की उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फल की उत्पत्ति नहीं होती। इसी से सम्यग्दर्शन ज्ञान और चरित्र से उत्कृष्ट है (३२)। तीनों कालों और तीनों लोकों में प्राणियों को सम्यग्दर्शन के समान कोई कल्याणकारी नहीं है और मिथ्यात्व के समान कोई अकल्याणकारी नहीं है (३४)। जिनेन्द्र का भक्त सम्यग्दृष्टि भव्यजीव अपरिमित मानवाले इन्द्रों के समूह की महिमा को, राजाओं के सिरों से पूजनीय चक्रवर्ती पद को और समस्त लोक को तिरस्कृत करनेवाले तीर्थंकर पद को प्राप्त करके अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है (४०)।

'भगवती आराधना' में शिवार्य ने कहा है—

समस्त दुःखों का नाश करनेवाले सम्यक्त्व में प्रमाद मत करो, क्योंकि ज्ञानाचार, चारित्राचार, वीर्याचार और तप-आचार का आधार सम्यग्दर्शन है (७३५)। जैसे नगर में प्रवेश करने का उपाय उसका द्वार है, वैसे ज्ञानादि में प्रवेश करने का द्वार सम्यग्दर्शन है। जैसे आँखें मुख की शोभा बढ़ाती हैं वैसे ही सम्यग्दर्शन से ज्ञानादि की शोभा है। जैसे वृक्ष की स्थिति का कारण उसका मूल है वैसे ही सम्यग्दर्शन ज्ञानादि की स्थिति का कारण है (७३६)।

आचार्य उमास्वामी ने 'तत्त्वार्थसूत्र' का पहला सूत्र 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' रचा है। इसमें भी सम्यग्दर्शन को सर्वप्रथम स्थान दिया है। 'तत्त्वार्थसूत्र' की 'सर्वार्थसिद्धि,' 'तत्त्वार्थवार्तिक,' 'श्लोकवार्तिक' आदि सभी टीकाओं में यह शंका उठायी है कि सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान क्यों दिया और सब में यही समाधान किया गया है कि सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान सम्यक् होता है। 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में कहा है—

ज्ञान सम्यक्त्वहेतुत्वादभ्यर्हो दर्शनस्य हि।
तदभावे तदुद्भूतेरभावाद्दूर भव्यवत् ॥ १.३४ ॥

अर्थात् ज्ञान के सम्यक्पने में कारण होने से सम्यग्दर्शन पूज्य है। सम्यग्दर्शन के अभाव में सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इसके उदाहरण के लिए दूरातिदूर भव्य को उपस्थित किया जा सकता है। भव्य होने पर भी उसे सम्यक्त्व की प्राप्ति न होने से सम्यग्ज्ञान नहीं होता। इसकी टीका में सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की पूज्यता को लेकर आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने जो विस्तृत चर्चा की है उसका सार दिया जाता है।

शंका—तत्त्वार्थश्रद्धान को ज्ञान के सम्यक्त्व में कारण बतलाना अनुचित है क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो सहचारी हैं। जैसे एक गाय के दो सींगों में कार्य-कारण भाव नहीं है वैसे ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में भी नहीं है। शायद कहा जाये कि तत्त्वार्थश्रद्धान के प्रकट होने के समय सम्यग्ज्ञान प्रकट होता है इसलिए वह उसका कारण है। किन्तु ऐसा कहना असंगत है क्योंकि तब तो सम्यग्ज्ञान को भी तत्त्वार्थश्रद्धान का कारण कहा जा सकता है। इसलिए दर्शन ज्ञान से पूज्य नहीं है।

समाधान—उक्त शंका ठीक नहीं है। शंकाकार ने हमारे कथन को ठीक तरह से नहीं समझा। हमने सम्यग्दर्शन को सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति में हेतु होने से पूज्य नहीं कहा है किन्तु ज्ञान के सम्यक् कहे जाने में हेतु होने से पूज्य कहा है। जैसे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से पहले ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहा जाता है क्योंकि वह मिथ्यात्व के साथ रहता है, उसी प्रकार दर्शन के उत्पन्न होने पर वह सम्यग्ज्ञान कहा जाता है।

शंका—तब तो दर्शन के सम्यक्पने में हेतु होने से सम्यग्ज्ञान ही पूज्य मानना चाहिए, क्योंकि मिथ्याज्ञान के साथ होने वाले अर्थश्रद्धान को मिथ्यादर्शन कहा जाता है? जब दोनों सहचारी हैं तो दर्शन ही ज्ञान के सम्यक् व्यपदेश का कारण क्यों और ज्ञान दर्शन के सम्यक् व्यपदेश का कारण क्यों नहीं?

समाधान—ज्ञानविशेष की अपेक्षा दर्शन ज्ञान के सम्यक् कहे जाने का हेतु है। केवलज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान की तरह सकल श्रुतज्ञान उसी के होता है

जिसको पहले सम्यग्दर्शन हो जाता है। इसलिए दर्शन ज्ञान के सम्यक् कहलाने में कारण है, यह सिद्ध हुआ।

शंका—ज्ञान ही पूज्य है क्योंकि केवलज्ञान होने पर नया जन्म नहीं होगा। दर्शन पूज्य नहीं है क्योंकि क्षायिक सम्यग्दर्शन के हो जाने पर भी नियम से भवान्तर का अभाव नहीं होता।

समाधान—तब तो चारित्र को ही पूज्य कहना चाहिए, क्योंकि चारित्र की प्रकर्ष दशा को प्राप्त होने पर नया जन्म धारण करना नहीं पड़ता।

शंका—केवलज्ञान अनन्त है उसका कभी नाश नहीं होता। चारित्र अनन्त नहीं है क्योंकि मुक्तदशा में चारित्र का व्यपदेश नहीं होता अतः चारित्र से ज्ञान पूज्य है।

समाधान—तब तो अनन्त होने से क्षायिक सम्यग्दर्शन को पूज्य मानना चाहिए क्योंकि मुक्तावस्था में भी क्षायिक सम्यग्दर्शन रहता है। अतः वह भी अनन्त है।

यदि कहोगे कि सम्यग्दर्शन साक्षात् भवान्तर के अभाव का कारण नहीं है अतः वह केवलज्ञान से पूज्य नहीं है तो केवलज्ञान भी साक्षात् भवान्तर के अभाव का कारण न होने से पूज्य नहीं है। क्योंकि केवलज्ञान भी कालादि विशेष की अपेक्षा बिना भवान्तर के अभाव का कारण नहीं है। अयोगकेवली के अन्तिम समय में वर्तमान सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को ही साक्षात् मोक्ष का कारण कहा है। इसलिए साक्षात् या परम्परा से मोक्ष का कारण होने की अपेक्षा से तो तीनों की ही पूज्यता समान है वहाँ कोई एक ही पूज्य नहीं है, जिससे ज्ञान को ही दर्शन से पूज्य माना जाये।

शंका—यदि आप विशिष्ट सम्यग्ज्ञान का हेतु होने से दर्शन को ज्ञान से पूज्य कहते हैं तो सम्यग्दर्शन में हेतु होने से ज्ञान दर्शन से पूज्य होना चाहिए; क्योंकि अधिगमज सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञान पूर्वक होता है और निसर्गज सम्यग्दर्शन मतिज्ञान तथा अवधिज्ञानपूर्वक होता है।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति से पहले श्रुतज्ञान, मतिज्ञान, अवधिज्ञान नहीं होते। प्रथम सम्यग्दर्शन मतिअज्ञान, श्रुतअज्ञान और विभंग नामक अज्ञानपूर्वक होता है किन्तु ऐसा होने से प्रथम सम्यग्दर्शन को मिथ्यात्व का प्रसंग नहीं आता। यदि ऐसा हो तो मिथ्याज्ञानपूर्वक होने वाले सम्यग्ज्ञान को भी मिथ्यात्व का प्रसंग प्राप्त होगा।

शंका—सत्यज्ञान को उत्पन्न करने में समर्थ मिथ्याज्ञान में सत्यज्ञान का उपचार किया जाता है अतः उससे उत्पन्न ज्ञान को मिथ्या कैसे कह सकते हैं?

समाधान—तब उस प्रकार के मिथ्याज्ञान से उत्पन्न सम्यग्दर्शन को भी मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? क्योंकि मिथ्यात्व के कारण दर्शनमोह के उदय का अभाव है।

शंका—सत्यज्ञान मिथ्याज्ञान के अनन्तर नहीं होता; वह तो धर्मविशेष के अनन्तर होता है?

समाधान—सम्यग्दर्शन भी मिथ्याज्ञान के अनन्तर नहीं होता, किन्तु अधर्म-विशेष के अभाव के अनन्तर होता है। यदि सत्यज्ञान मिथ्याज्ञान के अनन्तर नहीं होता तो वह सत्यज्ञान के अनन्तर होता है या सत्यासत्यज्ञान के अनन्तर होता है? यदि सत्यज्ञान सत्यज्ञान के ही अनन्तर होता है तो सत्यज्ञान के अनादि होने का प्रसंग आता है। दूसरे विकल्प में सत्यज्ञान की उत्पत्ति से पहले सम्पूर्णज्ञान से शून्य आत्मा के अनात्मत्व का प्रसंग अनिवार्य है, क्योंकि आत्मा का लक्षण उपयोग माना गया है। इसलिए सत्यज्ञान को मिथ्याज्ञानपूर्वक भी मानना चाहिए। उसी तरह सम्यग्दर्शन भी मिथ्याज्ञानपूर्वक होता है।

शंका—क्षायोपशमिक और क्षायिक सम्यग्दर्शन तो सत्यज्ञानपूर्वक ही होते हैं अत: दर्शन से सत्यज्ञान पूज्य है?

समाधान—प्रथम सम्यग्दर्शन औपशमिक सत्यज्ञान के अभाव में भी होता है, किन्तु इस प्रकार कोई भी सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के अभाव में नहीं होता।

शंका—प्रथम सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के अभाव में होता है।

समाधान—नहीं, वह भी सम्यग्दर्शन का ही सहचारी है।

शंका—तब तो प्रथम सम्यग्दर्शन भी सम्यग्ज्ञान के अभाव में नहीं होता क्योंकि वह सत्यज्ञान का सहचारी है। इस प्रकार सभी सम्यग्दर्शन सत्यज्ञान पूर्वक होते हैं जैसे दर्शन सत्यज्ञान पूर्वक होता है अत: प्रस्तुत तर्क बना रहता है कि ज्ञान पूज्य है।

समाधान—उत्कृष्ट सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से दर्शन को पूज्य कहा है। क्षायिक सम्यग्दर्शन केवलज्ञान पूर्वक नहीं होता, जिससे ज्ञान को दर्शन से पूज्य माना जाये अथवा अनन्त भवों को नष्ट करनेवाला होने से सम्यग्दर्शन ही पूज्य है।

इस प्रकार 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में सम्यग्दर्शन की पूज्यता का विश्लेषण किया गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने अपने 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' (श्लोक २१) में कहा है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र में से पहले समस्त प्रयत्नों के साथ सम्यग्दर्शन की ही सम्यक्रूप से उपासना करनी चाहिए; क्योंकि उसके होते हुए ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।

'उपासकाध्ययन' के प्रारम्भ में सोमदेव सूरि ने सम्यक्त्व का माहात्म्य वर्णन करते हुए कहा है—सम्यक्त्व एक महान् पुरुष देवता है। यदि वह एक बार भी

प्राप्त हो जाता है जो संसार को शान्त कर देता है, कुछ समय के पश्चात् उस आत्मा के सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अवश्य प्रकट हो जाते हैं। यह जन्मान्तर में भी साथ जाता है। चिन्तामणि रत्न के समान सब मनोरथों को पूर्ण करता है। महात्मागण सम्यक्त्व को ही समस्त पारलौकिक उन्नति का और मोक्ष का प्रथम कारण कहते हैं।

'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' (गाथा ३२५-३२६) में कहा है—सम्यग्दर्शन सब रत्नों में महारत्न है। सब योगों में उत्तम है, सब ऋद्धियों में महाऋद्धि है। सब सिद्धियों का करनेवाला है। व्रतरहित होते हुए भी स्वर्गसुख को देनेवाला है।

'ज्ञानार्णव' (६।५४) में कहा है—चारित्र और ज्ञान से रहित अकेला एक *सम्यग्दर्शन भी प्रशंसनीय है।* किन्तु मिथ्यात्वरूपी विष से दूषित चारित्र और ज्ञान दोनों भी प्रशंसनीय नहीं हैं। जिसे निर्मल सम्यग्दर्शन प्राप्त हो चुका है उस पुण्यात्मा को मैं मुक्त ही मानता हूँ क्योंकि सम्यग्दर्शन को ही मुक्ति का प्रधान अंग कहा गया है।

'पद्मनन्दि पञ्चविंशातिका' (१।७७) में उल्लेख है—जिस के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान और चारित्र मिथ्याचारित्र होता है वह मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज रूप सम्यग्दर्शन जयवन्त हो। उसके बिना प्राप्त हुआ भी मनुष्य-जन्म अप्राप्त हुए के समान है।

आचार्य वसुनन्दी ने के अनुसार, जो जीव सम्यक्त्व से रहित है उसके ग्यारह प्रतिमाएँ नहीं होतीं अतः प्रथम सम्यक्त्व को कहते हैं।

'आचारसार' (२।६८) में कहा है—अन्य गुणों से हीन भी सम्यग्दर्शन मान्य है। 'सागारधर्मामृत' (१।४) में कहा गया है—जिनका चित्त मिथ्यात्व से ग्रस्त है वे मनुष्य होते हुए भी पशु के तुल्य हैं और जिनकी आत्मा में सम्यक्त्व प्रकट हुआ है वे पशु होते हुए भी मनुष्य के समान है।

इस प्रकार समस्त जिनवाणी में एक स्वर से इस बात को स्वीकार किया है कि सम्यग्दर्शन से रहित चारित्र, ज्ञान, तप सब निरर्थक हैं। सम्यक्त्व के साथ ही उन सबकी सार्थकता है। अतः रत्नत्रय में सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन को ही अपनाने का प्रयत्न करना चाहिए। उसके बिना अनन्त संसार शान्त नहीं हो सकता जबकि एक अन्तर्मुहूर्त के लिए भी सम्यग्दर्शन एक बार होने से अनन्त संसार शान्त हो जाता है। इसी से सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट को ही भ्रष्ट कहा गया है। चारित्र से भ्रष्ट सम्यग्दृष्टि भ्रष्ट नहीं होता।

अन्त में आचार्य कुन्दकुन्द का यह कथन उल्लेखनीय है—

किं बहुणा भणिएण जे सिद्धा णरवरा गए काले।
सिज्झिहहिं जे वि भविया तं जाणइ सम्म माहप्पं ॥८८॥

अधिक कहने से क्या ? जो पुरुषश्रेष्ठ भूतकाल में सिद्ध हुए हैं और भविष्य में सिद्ध होंगे, वह सब सम्यक्त्व का माहात्म्य जानो।

सम्यग्दर्शन शब्द का अर्थ

सम्यग्दर्शन शब्द दो शब्दों के मेल से बना है—सम्यक् और दर्शन। सम्यक् का अर्थ है प्रशंसा और दर्शन का अर्थ है श्रद्धान। प्रशस्त दर्शन या श्रद्धान सम्यग्दर्शन है।

'सर्वार्थसिद्धि' में 'तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' (१।२) सूत्र की व्याख्या करते हुए दर्शन शब्द को लेकर जो शंका-समाधान किया है वह इस प्रकार है—

शंका—दर्शन शब्द संस्कृत की दृश् धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना। अत: दर्शन शब्द से श्रद्धान अर्थ का बोध नहीं होता।

समाधान—एक धातु के अनेक अर्थ होते हैं अत: कोई दोष नहीं है।

शंका—'दृश्' का प्रसिद्ध अर्थ तो देखना ही है। उसको छोड़कर श्रद्धान अर्थ क्यों लिया ?

समाधान—मोक्षमार्ग का प्रकरण होने से श्रद्धान अर्थ लिया है, देखना नही। क्योंकि तत्त्वार्थ का श्रद्धान आत्मा का परिणाम है। वह मोक्ष का साधन हो सकता है। देखना तो नेत्र आदि से होता है। वह जो सभी संसारी जीवों के पाया जाता है अत: वह मोक्ष का मार्ग नहीं हो सकता।

इस प्रकार सर्वत्र ही जिनागम में सम्यग्दर्शन में दर्शन का अर्थ श्रद्धान किया गया है। दर्शन के सामान्य अर्थ 'देखने' को लेकर भी उत्तर काल में अध्यात्म ग्रन्थों में अर्थ किया गया है कि जो अपनी आत्मा को मोक्ष के कारण भूत रूप में निर्विकल्प रूप से देखता है वह दर्शन है। यथा—'य: कर्ता निजात्मानं मोक्षस्य कारणभूतेन पश्यति निर्विकल्परूपेणालोकयति'— प० प्र० टीका २-१३

इस पर से उसी टीका में यह शंका की गयी है कि यह सत्तावलोकन मोक्षमार्ग कैसे है ? यदि है तो इस प्रकार का सत्तावलोकन तो अभव्य जीवों को भी होता है अत: उनको भी मोक्ष हो जायेगा ?

उत्तर में कहा है कि अभव्यजीवों को बाह्य विषय में निर्विकल्प सत्तावलोकन होता है, अभ्यन्तर शुद्ध आत्मतत्त्व के विषय में नहीं होता; क्योंकि अभव्यों के मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय या क्षयोपशम नहीं होने से 'शुद्धात्मा ही उपादेय है' इस प्रकार की रुचि रूप सम्यग्दर्शन नहीं है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन में श्रद्धान के साथ आत्मदर्शन भी समाविष्ट है।

जिसको सम्यग्दर्शन होता है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इस दृष्टि का भी अर्थ श्रद्धा ही है। वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला टीका के प्रथम भाग में दृष्टि, श्रद्धा, रुचि और प्रत्यय को एकार्थक कहा है। प्राय अन्यत्र भी श्रद्धा रुचि प्रतीति को

एकार्थक कहा गया है। 'बृहद्द्रव्यसंग्रह' की टीका में लिखा है—'श्रद्धानं रुचि-निश्चय इदमेवेत्थमेवेति निश्चयबुद्धिः।' श्रद्धान अर्थात् रुचि या निश्चय तत्त्व यही है, ऐसा ही है इस प्रकार की निश्चयात्मक बुद्धि का नाम श्रद्धान है। स्वामी समन्तभद्र ने अपने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में सम्यग्दर्शन के निःशंकित अंग का वर्णन करते हुए कहा है—

इदमेवेदृशमेव तत्त्वं नान्यन्न चान्यथा।
इत्यकम्पायसाम्भोवत् सन्मार्गेऽसंशया रुचिः॥

'तत्त्व यही है और इसी प्रकार है, न इससे भिन्न है और न अन्य प्रकार से है इस प्रकार सन्मार्ग में जो तलवार की धार समान निश्चल रुचि है वह निःशंकित अंग है।'

अतः श्रद्धा या श्रद्धान में रुचि और प्रतीति का भाव समाविष्ट है। इस प्रकार की श्रद्धा को ही सम्यग्दर्शन कहा है। 'गोम्मटसार' जीवकाण्ड में कहा है कि कभी-कभी सम्यग्दृष्टि भी गुरुजनों के निर्देश से स्वयं न जानने के कारण मिथ्या बात की श्रद्धा कर लेता है किन्तु इससे उसके सम्यग्दर्शन में हानि नहीं आती। क्योंकि वह यह नहीं जानता कि गुरु ने उससे पदार्थ का स्वरूप यथार्थ नहीं कहा। आप्त के ऊपर उसकी श्रद्धा होने से वह आज्ञारुचि सम्यग्दृष्टि ही रहता है किन्तु पश्चात् आगम की साक्षी पूर्वक समझाये जाने पर भी जब वह विपरीत अर्थ के श्रद्धान को त्यागकर समीचीन अर्थ का श्रद्धान नहीं करता तो वह मिथ्यादृष्टि हो जाता है।

अतः मोक्षमार्ग में श्रद्धा का महत्त्व सर्वोपरि है। उसके बिना न ज्ञान सम्यक् होता है, न ही चारित्र सम्यक् होता है। श्रद्धा का इतना महत्त्व होने का कारण क्या है? इसके सम्बन्ध में समाधितन्त्र में आचार्य पूज्यपाद ने कहा है—

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥
यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते।
यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥९६॥

अर्थात् जिस विषय में पुरुष की बुद्धि सावधान होती है उसी में उसकी श्रद्धा हो जाती है और जिसमें श्रद्धा हो जाती है उसी में उसका चित्त लीन हो जाता है। तथा जिस विषय में पुरुष की बुद्धि अवधानरूप नहीं होती उससे श्रद्धा हट जाती है और जिससे श्रद्धा हट जाती है उसमें उसका चित्त कैसे लीन हो सकता है?

इसी से आचार्य कुन्दकुन्द ने 'दर्शनप्राभृत' में कहा है—

जं सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्केइ तं च सद्दहणं।
केवलिजिणेहि भणियं सद्दहमाणस्स सम्मत्तं ॥२२॥

अर्थात् जो करने की सामर्थ्य हो वह करो और जो करने की सामर्थ्य न हो तो उस पर श्रद्धान करो, क्योंकि केवलज्ञानी जिन भगवान् ने श्रद्धान करनेवाले को सम्यक्त्व कहा है।

यह श्रद्धान ज्ञानमूलक भी होता है और आज्ञामूलक भी होता है। 'स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा है—

जो ण विजाणदि तच्चं सो जिणवयणे करेदि सद्दहणं।
जं जिणवरेहि भणियं तं सव्वमहं समिच्छामि ॥३२४॥

अर्थात् जो तत्त्व को नहीं जानता वह भी जिनवचन में श्रद्धान करता है कि जिन भगवान् ने जो कहा है उस सब पर मैं श्रद्धान करता हूँ।

'अनगारधर्मामृत' (२।६३) के अनुसार, एक अर्हन्त ही सच्चे देव हैं, उनका वचन ही सत्य है, मोक्षदाता है, उनके द्वारा कहा गया धर्म ही यथार्थ है—इस प्रकार की जो आन्तरिक भावना है वही उसके मूल में है। उनकी श्रद्धावश ही उसकी तत्त्वों पर श्रद्धा होती है। 'भगवती आराधना' की विजयोदया टीका (गाथा ३६) में कहा गया है कि यदि धर्मादि द्रव्यों का परिज्ञान न होने से ज्ञान-सहचारी श्रद्धान नहीं है तब भी वह मिथ्यादृष्टि नहीं है, क्योंकि दर्शनमोह के उदय से होनेवाला अश्रद्धान रूप परिणाम उसके नहीं है। मिथ्यादर्शन से उत्पन्न हुआ अश्रद्धान अरुचिरूप होता है। उसमें आगम में प्रतिपादित विषय में रुचि नहीं होती। किन्तु यहाँ ऐसी अश्रद्धा नहीं है। आगम में प्रतिपादित विषयों के प्रति न जानते हुए भी रुचि होती है। इसे स्पष्ट करते हुए कहा कि स्वयं मन्दबुद्धि हो, और विशेष ज्ञानी गुरु प्राप्त न हो तथा जिनवर कथित तत्त्व सूक्ष्म हो तब जिनेन्द्र कथित आगम को प्रमाण मानकर उस पर श्रद्धा करता है।

सम्यग्दर्शन के लक्षण

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के लक्षण इस प्रकार कहे हैं—'दर्शनप्राभृत' में कहा है—छै द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्त्व जिनवर भगवान् ने कहे हैं। जो उनका यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करता है उसे सम्यग्दृष्टि जानो ॥१९॥

आगे वह कहते हैं—जिनवर भगवान् ने जीव आदि पदार्थों के श्रद्धान को व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन कहा है किन्तु निश्चयनय से आत्मा ही सम्यग्दर्शन है ॥२०॥

'समयसार' में उन्होंने उल्लेख किया है—भूतार्थ अर्थात् निश्चयनय से जाने गये जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष को सम्यग्दर्शन कहते हैं ॥१३॥

'मोक्षप्राभृत' में कहा गया है—हिंसारहित धर्म में, अठारह दोषों से रहित देव में और निर्ग्रन्थ प्रवचन में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है ॥१०॥

'नियमसार' में वे लिखते हैं—आप्त, आगम और तत्त्वों में श्रद्धान से सम्यग्दर्शन होता है।

कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् होनेवाले सभी ग्रन्थकारों ने उक्त लक्षणों को ही अपनाया है। जैसे 'तत्त्वार्थसूत्र' में तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। इसी प्रकार समन्तभद्राचार्य ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में सच्चे देव, सच्चे शास्त्र, सच्चे गुरु के आठ अंग सहित तथा आठ मद और जिनमूढ़ता रहित श्रद्धान को सम्यग्यदर्शन कहा है।

'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में कहा गया है—जो श्रुतज्ञान और द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयों के द्वारा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप इन नौ तत्त्वों को आदर के साथ मानता है वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है ॥१२॥

इस तरह सर्वत्र जिनागम में सम्यग्दर्शन के उक्त लक्षण कहे गये हैं। किन्तु अध्यात्मशास्त्र में इनसे भिन्न पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में विपरीत अभिनिवेश से रहित तत्त्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। किन्तु आगे 'दर्शनमात्मविनिश्चिति' आत्मा के विनिश्चय को सम्यग्दर्शन कहा है। इसी प्रकार 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के रचयिता आचार्य अमृतचन्द्र ने 'समयसारकलश' मे कहा है—'आत्मा का पर द्रव्य से भिन्न अवलोकन ही नियम से सम्यग्दर्शन है। इसलिए नौ तत्त्वों की सन्तति को छोड़कर एक आत्मा ही हमारे होओ।'

इन सब लक्षणों का समन्वय पं० टोडरमल जी ने अपने 'मोक्षमार्गप्रकाशक' के नवम अध्याय में बड़ी सुन्दरता से किया है जो इस प्रकार है—

सम्यग्दर्शन के लक्षणों का समन्वय

उक्त सब लक्षणों में 'तत्त्वार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है' यह लक्षण ही अत्यधिक मान्य है। जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्वार्थ हैं। इनका श्रद्धान—ऐसा ही है अन्यथा नहीं है, ऐसा जो प्रतीति भाव है वह सम्यग्दर्शन है। 'दर्शन' के साथ जो सम्यक् पद है वह विपरीत अभिनिवेश से रहित का सूचक है।

तत्त्वार्थ में तत्त्व शब्द का समास होता है—तस्य भाव: तत्त्वम्। अर्थात् जिसका जो भाव सो तत्त्व जानना। अत: तत्त्व अर्थात् अपने स्वरूप सहित पदार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यहाँ यदि तत्त्वश्रद्धान ही कहते तो जिसका वह भाव है उस पदार्थ के श्रद्धान बिना केवल भाव का ही श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहाता। तथा यदि अर्थश्रद्धान ही कहते तो भाव के श्रद्धान के बिना पदार्थ का श्रद्धान सम्यग्दर्शन कहलाता। किन्तु ये दोनों भी कार्यकारी नहीं हैं। जैसे 'मैं

आत्मा हूँ' ऐसा श्रद्धान किया परन्तु आत्मा का स्वरूप जैसा है वैसा श्रद्धान नहीं किया तो भाव के श्रद्धान के बिना पदार्थ का श्रद्धान कार्यकारी नहीं है। इसलिए तत्त्व सहित अर्थ का श्रद्धान ही कार्यकारी है।

किन्तु तत्त्वार्थ तो अनन्त हैं वे सब सामान्य से जीव और अजीव में गर्भित हैं। इन्हीं के विशेष आस्रव आदि हैं। उनको अलग कहने का प्रयोजन इस प्रकार है—

'यहाँ मोक्ष से प्रयोजन है सो जिन सामान्य या विशेष भावों का श्रद्धान करने से मोक्ष हो और जिनका श्रद्धान किये बिना मोक्ष न हो उन्हीं का यहाँ ग्रहण किया है। सो जीव और अजीव ये दो सामान्य रूप तत्त्व हैं। जब जीव को अपना और पर का श्रद्धान होता है, पर से भिन्न अपने को जानता है और अपने से भिन्न पर को जानता है तब परद्रव्य से उदासीन होकर मोक्षमार्ग में लगता है। अतः ये दो सामान्य तत्त्व अवश्य श्रद्धान करने के योग्य हैं। शेष आस्रव आदि पाँच जीव और पुद्गल की पर्याय हैं। इन पाँचों को जानने से मोक्ष के उपाय का श्रद्धान होता है। मोक्ष को पहचाने तो उसे हित मानकर उसका उपाय करे। इसलिए मोक्ष का श्रद्धान आवश्यक है। मोक्ष का उपाय सवर-निर्जरा है। इनको जानें तो जैसे संवर-निर्जरा हो वैसे प्रवर्ते। इसलिए संवर-निर्जरा का श्रद्धान करना आवश्यक है। आस्रव का अभाव संवर है और बन्ध का एकदेश अभाव निर्जरा है। अतः आस्रव बन्ध को जाने तो उनका नाश करके संवर निर्जरा रूप प्रवृत्ति करे। इसलिए आस्रव बन्ध का श्रद्धान आवश्यक है। इस प्रकार इन पाँचों का श्रद्धान होने पर ही मोक्षमार्ग बनता है। इसलिए सात तत्त्व कहे हैं। इनके यथार्थ श्रद्धान के अधीन ही मोक्षमार्ग है। इनके सिवाय औरों का श्रद्धान हो या न हो, किसी के अधीन मोक्षमार्ग नहीं है।

किन्हीं ग्रन्थों में पुण्य-पाप सहित नौ पदार्थ कहे हैं। सो पुण्य-पाप आस्रवादि के ही विशेष हैं। इसलिए सात तत्त्वों में गर्भित हैं।

इस प्रकार से सम्यग्दर्शन का सच्चा लक्षण तत्त्वार्थ श्रद्धान कहा है। इसी में अन्य लक्षण गर्भित हो जाते हैं। जैसे पर से भिन्न अपने श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है। सो यह विचार करो कि यह श्रद्धान आस्रव आदि के श्रद्धान से रहित होता है या सहित होता है। यदि रहित होता है तो मोक्ष के श्रद्धान के बिना आत्मश्रद्धान का प्रयोजन क्या रहा? अतः आस्रवादि के श्रद्धान से रहित स्व-पर का श्रद्धान सम्भव नहीं है और आस्रव आदि के श्रद्धान सहित होने पर सातों तत्त्वों के श्रद्धान का नियम हुआ। तथा पर का पररूप श्रद्धान हुए बिना आत्मा का श्रद्धान नहीं होता। अतः अजीव का श्रद्धान होने पर ही जीव का श्रद्धान होता है। तथा जिसके जीव-अजीव का श्रद्धान है उसके आस्रव आदि का श्रद्धान होता ही है। आस्रव आदि के श्रद्धान बिना स्व-पर का श्रद्धान तथा केवल आत्मा का श्रद्धान

यथार्थ नहीं होता क्योंकि आत्मा तो द्रव्य है और वह शुद्ध-अशुद्ध पर्याय सहित है शुद्ध-अशुद्ध पर्याय जाने बिना आत्म द्रव्य का श्रद्धान नहीं होता और शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों का ज्ञान आस्रवादि को जानने से होता है। आस्रव आदि के श्रद्धान बिना स्व-पर का श्रद्धान या केवल आत्मा का श्रद्धान कार्यकारी भी नहीं है।

जिसके लिए सच्चा आपा-पर का श्रद्धान होता है या आत्मा का श्रद्धान होता है उसके सातों तत्त्वों का श्रद्धान होता ही है। जिसके सातों तत्त्वों का सच्चा श्रद्धान होता है उसके आपा-पर का व आत्मा का श्रद्धान होता ही है। इनमें परस्पर अविनाभाव होने से आपा-पर के श्रद्धान को या आत्मश्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है।

अब जो किन्हीं शास्त्रों में देव-शास्त्र-गुरु आदि के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है उसका समन्वय करते हैं—

अरहन्त देव आदि के श्रद्धान से कुदेव आदि का श्रद्धान दूर होता है और ऐसा होने से गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है। इससे उसे सम्यक्त्व कहा है। सर्वथा सम्यक्त्व का यह लक्षण नहीं है। अरहन्त आदि का श्रद्धान होने पर सम्यक्त्व होने का नियम नहीं है। सम्यक्त्व हो भी सकता है, नहीं भी होता। परन्तु अरहन्त आदि का श्रद्धान हुए बिना तत्त्वार्थश्रद्धान रूप सम्यक्त्व नहीं होता। जिसको सच्चा तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे अरहन्त आदि का श्रद्धान होता ही है। इसी प्रकार जिसको सच्चे अरहन्त आदि का श्रद्धान होता है उसे तत्त्वार्थश्रद्धान होता ही है। अतः इनको अविनाभावी जानकर कहीं सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को और कहीं तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व का लक्षण कहा है।

इस तरह सप्ततत्त्वों के श्रद्धान में अरहन्त आदि का श्रद्धान गर्भित है। क्योंकि तत्त्वश्रद्धान में मोक्षतत्त्व सर्वोत्कृष्ट है और वह अरहन्त सिद्ध का लक्षण है। अतः सर्वोत्कृष्ट लक्षण को मानने पर जिनका वह लक्षण है उन्हें मानना चाहिए ही वही देव का श्रद्धान है। तथा मोक्ष के कारण संवर निर्जरा हैं और संवर निर्जरा के धारक निर्ग्रन्थ मुनिराज हैं। संवर निर्जरा को मानने पर उसके धारक मुनिराज को मानना ही होता है। यही सच्चे गुरु का श्रद्धान होता है। इस प्रकार तत्त्वश्रद्धान में अरहन्त आदि का श्रद्धान और अरहन्त आदि के श्रद्धान में तत्त्वश्रद्धान गर्भित है।

आशय यह है कि विभिन्न शास्त्रों में जो सम्यग्दर्शन के चार लक्षण कहे हैं उनमें सत्यदृष्टि से एक लक्षण ग्रहण करने पर चारों लक्षणों का ग्रहण होता है फिर भी अलग-अलग लक्षण कहने का प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न है। तत्त्वश्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहने का प्रयोजन तो यह है कि इन तत्त्वों को पहचाने तो यथार्थ वस्तु के स्वरूप का व अपने हित-अहित का श्रद्धान करके मोक्षमार्ग में लगे। आपा-पर के भिन्न श्रद्धान को सम्यक्त्व कहने का प्रयोजन यह है कि तत्त्वार्थश्रद्धान का

प्रयोजन ही आपा-पर का श्रद्धान है। जीव-अजीव के श्रद्धान का प्रयोजन स्व-पर का भिन्न श्रद्धान ही है।

स्व और पर को भिन्न जानने का प्रयोजन इतना ही है कि आपको ही आप जाने। आप को आप जानने पर पर का श्रद्धान भी कार्यकारी नहीं है अतः अध्यात्म में आत्मश्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है।

इसी तरह सच्चे देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहने का प्रयोजन यह है कि सच्चे देवादि का श्रद्धान सच्चे तत्त्वार्थश्रद्धान का कारण है और कुदेवादि का श्रद्धान कल्पित तत्त्वश्रद्धान का कारण है। अतः कुदेवादि का श्रद्धान छुड़ाकर सुदेवादि का श्रद्धान कराने के लिए देव-शास्त्र-गुरु के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है।'

भिन्न-भिन्न लक्षण भिन्न-भिन्न नयदृष्टि से भी कहे गये हैं। वीरसेन स्वामी ने 'धवला' (पुस्तक १, पृ. १५१) में जो कहा है वह इस प्रकार है—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य का प्रकट होना जिसका लक्षण है वह सम्यक्त्व है।

शंका—इस प्रकार सम्यक्त्व का लक्षण मानने पर असंयत सम्यग्दृष्टि गुण-स्थान का अभाव हो जायेगा?

समाधान—शुद्धनय का आश्रय लेने पर उक्त कथन सत्य है। अथवा तत्त्वार्थ-श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसका अर्थ यह है—आप्त, आगम और पदार्थ को तत्त्वार्थ कहते हैं और उनके श्रद्धान या उनकी अनुरक्ति को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

शंका—पूर्व लक्षण के साथ इस लक्षण का विरोध क्यों नहीं है?

समाधान—यह दोष नहीं है क्योंकि शुद्ध नय और अशुद्ध नय के आश्रय से दोनों लक्षण कहे गये हैं। अर्थात् पहला लक्षण शुद्ध नय से है और दूसरा अशुद्ध नय से है। अथवा तत्त्वरुचि को सम्यक्त्व कहते हैं। यह लक्षण अशुद्धतरनय की अपेक्षा है।

इस तरह नय विवक्षा से भी लक्षण भेद देखा जाता है।

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की सामग्री

सम्यग्दर्शन का विपरीत भाव मिथ्यादर्शन है। जिसके मिथ्यादर्शन होता है उसे मिथ्यादृष्टि कहते हैं। यह पहला गुणस्थान है और जिसे सम्यग्दर्शन होता है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं। क्रमांक चार से चौदह तक सभी गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं। जिसे सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है किन्तु व्रतादि नहीं होते उसे अविरत या असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इसी गुणस्थान से मोक्षमार्ग खुलता है। इसी से 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में कहा है कि सबसे प्रथम पूरे प्रयत्न के साथ सम्यग्दर्शन को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिए। उसके लिए सबसे प्रथम कुदेवादि की मान्यता छोड़कर अरहन्त देव आदि का श्रद्धान करना चाहिए। ऐसा होने पर ही गृहीत मिथ्यात्व का अभाव होता है। यह ध्यान में रखना चाहिए कि एकमात्र

वीतरागी अरहन्त देव और सिद्ध परमात्मा ही सच्चे देव हैं।

'प्रवचनसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—जो अरहन्त को द्रव्यरूप से, पर्यायरूप से और गुणरूप से जानता है वह वास्तव में आत्मा को जानता है क्योंकि निश्चय से दोनों में अन्तर नहीं है। अरहन्त का स्वरूप भी आत्मरूप है अतः उनके जानने पर आत्मा का ज्ञान होता है और आत्मा का ज्ञान होने पर मोह दूर होता है तभी सम्यक्त्व प्रकट होता है।

इसलिए पहले देवादि का श्रद्धान करना, फिर जैन धर्म में कहे जीवादि तत्त्वों का विचार करना, उनका नाम लक्षण आदि सीखना चाहिए। ऐसा अभ्यास करने से तत्त्वार्थश्रद्धान होता है। फिर आपा-पर का भिन्नपना जैसे प्रतिभासित हो वैसा विचार करते रहना चाहिए। ऐसा करने से भेदविज्ञान होता है। फिर आप में अपनत्व मानने के लिए अपने स्वरूप का विचार करते रहना चाहिए, क्योंकि उसके अभ्यास से ही आत्मानुभव की प्राप्ति होती है। इस प्रकार इन सबको जानकर इनमें से कभी देवादि के विचार में, कभी तत्त्वविचार में, कभी आपा-पर के विचार में और कभी आत्मा के विचार में मन को लगाना चाहिए। ऐसा करते रहने से यदि कदाचित् दर्शनमोह का उपशम होता है तभी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है। उसके बिना नहीं होती।

यहाँ हम 'षट्खण्डागम' के जीवस्थानचूलिका की आठवीं चूलिका से सम्यक्त्व की उत्पत्ति का विवरण देते हैं। यह ध्यान रहे कि यह उपलब्ध दि. जैन साहित्य में सर्वप्राचीन ग्रन्थराज है।

'जब यह जीव सब कर्मों की अन्तःकोड़ा-कोड़ी सागरोपम की स्थिति बाँधता है तब प्रथम उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त करता है।' यह मूल सूत्र है। इसकी धवला टीका में वीरसेन स्वामी ने कहा है—उक्त कथन उपचार से किया गया है। यथार्थ से जीव उक्त प्रकार की कर्मस्थिति बाँधने पर सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं करता है किन्तु अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय में सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। इस सूत्र के द्वारा क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धिलब्धि, देशनालब्धि, प्रायोग्यलब्धि ये चार लब्धियाँ कही गयी हैं।

पूर्वसंचित कर्मों के अनुभागस्पर्द्धक जिस समय विशुद्धि के द्वारा प्रतिसमय अनन्तगुणहीन होते हुए उदीरणा को प्राप्त होते हैं उस समय क्षयोपशमलब्धि होती है।

प्रतिसमय अनन्तगुणहीन क्रम से उदीरित अनुभाग स्पर्द्धकों से उत्पन्न हुआ जीव का परिणाम, जो साता आदि शुभ कर्मों के बन्ध में निमित्त और असाता

आदि अशुभ कर्मों के बन्ध का विरोधी है उसे विशुद्धि कहते हैं। उसकी प्राप्ति विशुद्धिलब्धि है। छह द्रव्यों और नौ पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है। उस देशना से युक्त आचार्य आदि की प्राप्ति तथा उनके द्वारा उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण तथा विचारणा की शक्ति की प्राप्ति को देशनालब्धि कहते हैं। सब कर्मों की उत्कृष्ट स्थिति और उत्कृष्ट अनुभाग को घात करके अन्तः कोटाकोटि स्थिति में तथा द्विस्थानीय अनुभाग में स्थापित करने को प्रायोग्यलब्धि कहते हैं। इन लब्धियों के होने पर ही करणलब्धि के योग्य भाव पाये जाते हैं।

यद्यपि उक्त सूत्र में केवल काललब्धि की ही प्ररूपणा की गयी है किन्तु उक्त चारों लब्धियों का उस एक काललब्धि में ही होना सम्भव है अतः उसी में चारों लब्धियाँ गर्भित हैं। उक्त चार लब्धियाँ भव्य और अभव्य मिथ्यादृष्टि के भी होती हैं। किन्तु करणलब्धि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के समय ही होती है।

इस प्रकार भव्य जीवों के योग्य करणलब्धिरूप से जो जीव परिणत होता है उस जीव का लक्षण बतलाने के लिए आचार्य भूतबलि कहते हैं—प्रथम सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाला वह जीव पञ्चेन्द्रिय, संज्ञी, मिथ्यादृष्टि, पर्याप्तक और सर्वविशुद्ध होता है।

इसका मतलब यह है कि सम्यक्त्व को प्राप्त करनेवाला जीव एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय या चौइन्द्रिय नहीं होता, क्योंकि उनमें सम्यक्त्व को ग्रहण करने योग्य परिणाम नहीं होते। पञ्चेन्द्रियों में भी वह संज्ञी ही होता है, क्योंकि असंज्ञी जीवों के मन के बिना विशिष्ट ज्ञान नहीं होता।

सर्वविशुद्ध से मतलब यह है कि प्रथम उपशम सम्यक्त्व को प्राप्त होनेवाले जीव के अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के भेद से तीन प्रकार की विशुद्धियाँ होती हैं। उनसे सम्पन्न होता है।

उनमें से अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल में से संख्यात भाग काल बीतने पर यदि वह अनादि मिथ्यादृष्टि है तो मिथ्यात्वकर्म का अन्तर करता है, और यदि सादि मिथ्यादृष्टि है तो तीन भेदरूप समस्त दर्शनमोहनीय का अन्तर करता है। अन्तरकरण समाप्त होने पर वह उपशमक कहलाता है।

अन्तरकरण करके मिथ्यात्वकर्म के तीन भाग करता है—सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व। पश्चात् दर्शनमोहनीय कर्म को उपशमाता है। यह प्रथमोपशम सम्यक्त्व चारों गति के जीवों में उत्पन्न हो सकता है। किन्तु दर्शनमोह का क्षय का प्रारम्भ अढ़ाई द्वीपों में स्थित पन्द्रह कर्मभूमियों में जहाँ जिस काल में जिन केवली तीर्थंकर होते हैं वहाँ उस काल में होता है। अर्थात् कर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्य ही दर्शनमोह के क्षय को प्रारम्भ करता है। किन्तु उसका निष्ठापन अर्थात् समाप्ति चारों गतियों में करता है। इसका मतलब यह है कि दर्शनमोह की क्षपणा

का प्रारम्भ करनेवाला जीव कृतकृत्य वेदक होने के पश्चात् आयुबन्ध के कारण चारों भी गतियों में उत्पन्न होकर दर्शनमोह की क्षपणा को पूर्ण करता है। यह सम्यक्त्व की उत्पत्ति की प्रक्रिया जिनागम में कही है। इस प्रक्रिया से प्रकट सम्यग्दर्शन ही यथार्थ सम्यग्दर्शन है। उसी से संसार का अन्त होता है।

सम्यग्दर्शन के भेद

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति की उक्त प्रक्रिया के अनुसार, प्रकट हुए सम्यग्दर्शन के मुख्य भेद तीन हैं—उपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक या वेदक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व। इनमें से उपशम सम्यक्त्व के दो भेद हैं—प्रथमोपशम सम्यक्त्व और द्वितीयोपशम सम्यक्त्व।

अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को उक्त प्रकार से सर्वप्रथम प्रथमोपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व का काल एक अन्तर्मुहूर्त ही है। अतः यह होकर छूट जाता है।

अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व—मोहनीयकर्म की इन सात प्रकृतियों के उपशम से जो सम्यक्त्व प्रकट होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। इसका काल पूरा होने पर नियम से उसके मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति में से किसी एक का उदय होता है।

चार अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व इन छह प्रकृतियों के उदयाभावी क्षय और इन्हीं के सदवस्थारूप उपशम से तथा देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। इसे करणानुयोग में वेदक सम्यक्त्व नाम दिया है; क्योंकि इसमें देशघाती सम्यक्त्व प्रकृति के उदय का वेदन होता है। वेदक सम्यक्त्व उपशम सम्यक्त्व पूर्वक होता है। उपशम सम्यक्त्व का काल पूरा होने पर सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से वेदक सम्यक्त्व होता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व तथा वेदक सम्यक्त्व चौथे से सातवें तक चार गुणस्थानों में ही होते हैं। किन्तु द्वितीयोपशम सम्यक्त्व चार से ग्यारह तक आठ गुणस्थानों में होता है।

द्वितीयोपशम सम्यक्त्व के सम्बन्ध में जीवकाण्ड (गाथा ७०४) की टीका में लिखा है—उपशम श्रेणी पर आरोहण करने के लिए सातिशय अप्रमत्तवेदक सम्यग्दृष्टि तीन करणों के द्वारा अनन्तानुबन्धी कषायों को अप्रशस्त उपशम के द्वारा अथवा विसंयोजन द्वारा अन्य प्रकृतिरूप परिणमाता है। इस तरह उनका क्षपण करके तथा दर्शनमोह की तीन प्रकृतियों का अन्तरकरण के द्वारा अन्तर करके उपशमविधान के द्वारा उपशम करता है। तदनन्तर प्रथम समय में द्वितीयो-

पशम सम्यग्दृष्टि होकर उपशम श्रेणी पर चढ़ता है। और, उपशान्तकषाय गुणस्थान तक जाकर क्रम से नीचे उतरता हुआ असंयमी तक हो जाता है।

उक्त सातों प्रकृतियों के क्षय से जो सम्यक्त्व होता है वह क्षायिक सम्यक्त्व है। यह सम्यक्त्व असंयत आदि चार गुणस्थानवर्ती मनुष्यों के जो कर्मभूमि में जन्मे वेदक सम्यग्दृष्टि होते हैं, उनके ही केवली, श्रुतकेवली के पादमूल में होता है। यह सम्यक्त्व एक बार होकर छूटता नहीं है। सिद्धों में भी रहता है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के ये तीन भेद सिद्धान्तग्रन्थों में कहे गये हैं। इनके सिवाय सम्यग्दर्शन के दो भेद और पाये जाते है—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। 'तत्त्वार्थसूत्र' के टीकाग्रन्थों में ये भेद मिलते हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' में कहा गया है—प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षण-वाला सराग सम्यग्दर्शन है। और, आत्मा की विशुद्धिमात्र वीतराग सम्यग्दर्शन है। किन्तु 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में कहा है कि सात प्रकृतियों का आत्यन्तिक क्षय हो जाने पर जो आत्मविशुद्धि मात्र होती है वह वीतराग सम्यक्त्व है। इसका मतलब यह होता है कि क्षायिक सम्यग्दर्शन वीतराग सम्यग्दर्शन है और शेष दोनों सराग सम्यग्दर्शन हैं।

'भगवती अराधना' की 'विजयोदया टीका' में कहा है—प्रशस्तराग सहित जीवों का श्रद्धान सराग सम्यग्दर्शन है। प्रशस्त तथा अप्रशस्त राग से रहित तथा जिनका मोह और ज्ञानावरण, दर्शनावरण क्षीण हो गया है उनका सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व है। राग दसवें गुणस्थान तक होता है। इसी से पं० आशाधरजी ने विराग का अर्थ उपशान्तकषाय आदि गुणस्थानवर्ती लिया है। विजयोदया का भी यही अभिप्राय जान पड़ता है।

अध्यात्मग्रन्थों में सम्यग्दर्शन के दो भेद व्यवहार सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व मिलते हैं। 'रयणसार' के प्रारम्भ में ही ये भेद किये हैं। 'द्रव्यसंग्रह' और 'परमात्मप्रकाश' के टीकाकार ब्रह्मदेव ने सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व के साथ इन दोनों भेदों का समन्वय किया है। द्रव्यसंग्रह (गाथा ४१) की टीका में वह लिखते हैं—'उक्त प्रकार से तीन मूढ़ता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि रूप आठ दोषों से रहित तथा शुद्ध जीवादि तत्त्वार्थों के श्रद्धान रूप सराग सम्यक्त्व नामक व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिए। उसी व्यवहार सम्यक्त्व द्वारा परम्परा से साधने योग्य शुद्ध उपयोगरूप निश्चय सम्यक्त्व की भावना से उत्पन्न परम आह्लादरूप सुखामृतरस का आस्वादन ही उपादेय है, इन्द्रियजन्य आदि सुख हेय हैं ऐसा रुचिरूप तथा वीतराग चारित्र के बिना न होने वाला वीतराग सम्यक्त्व नामक निश्चय सम्यक्त्व है।

'परमात्मप्रकाश' (२/१७) की टीका में ब्रह्मदेवजी ने लिखा है—"सराग, वीतराग के भेद से सम्यक्त्व दो प्रकार का कहा है। सराग सम्यक्त्व का लक्षण करते हुए लिखा है—प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य की अभिव्यक्ति लक्षण-वाला सराग सम्यक्त्व है। वही व्यवहार सम्यक्त्व है। उसके विषयभूत छह द्रव्य हैं। निज शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाला वीतराग सम्यक्त्व है जो वीतराग चारित्र का अविनाभावी है। उसे ही निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। इस पर से प्रभाकर भट्ट प्रश्न करते हैं—पूर्व में आपने अनेक बार कहा है कि अपनी शुद्ध आत्मा ही उपादेय है इस प्रकार का रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व होता है। अब आप वीतराग चारित्र का अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्व कह रहे हैं। यह तो पूर्वापर विरुद्ध क्यों नहीं है? अपनी शुद्ध आत्मा ही उपादेय है इस प्रकार का रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व गृहस्थ अवस्था में तीर्थंकर परमदेव, भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि के रहा है। किन्तु उनके वीतराग चारित्र नहीं है यह परस्पर विरोध है। यदि उनके चारित्र है तो असंयमीपना उनमें कैसे हुआ? इसका समाधान करते हैं—उनके शुद्धात्मा उपादेय है इस प्रकार का भावनारूप निश्चय सम्यक्त्व है किन्तु चारित्रमोह के उदय से स्थिरता नहीं है। व्रत-प्रतिज्ञा भंग होती है इस कारण से असंयत कहलाते हैं। शुद्धात्म भावना से च्युत भरत आदि निर्दोष परमात्मा, अर्हन्त-सिद्धों का गुण-स्तवन, वस्तुस्तवन आदि करते हैं, उनके चरित्र-पुराण आदि सुनते हैं तथा उनके आराधक पुरुष आचार्य, उपाध्याय, साधुओं को विषयकषाय और दुर्ध्यान से बचने के लिए तथा संसार की स्थिति के छेद के लिए दान-पूजा आदि करते हैं। इस कारण से शुभराग के योग से सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। उनके सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व नाम देने का कारण यह है कि वे वीतराग चारित्र के अविनाभावी निश्चय चारित्र के परम्परा से साधक हैं। वास्तव में तो सराग सम्यक्त्व नामक सम्यक्त्व व्यवहार सम्यक्त्व ही है।

'परमात्मप्रकाश' टीका की इस चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि सराग सम्यक्त्व को व्यवहार सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व को निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। अध्यात्म में व्यवहार नाम राग का ही है। जहाँ तक राग है वहाँ तक व्यवहार है। इस दृष्टि से वीतराग उपशम सम्यग्दृष्टि आदि का सम्यक्त्व ही निश्चय सम्यक्त्व है।

स्वाश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं। जैसे 'पञ्चास्तिकाय' में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—धर्मादि का श्रद्धान सम्यक्त्व है। अंगपूर्वगत ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और तप में चेष्टा चारित्र है। यह व्यवहार मोक्ष मार्ग है। तथा, निश्चय नय से उन तीनों से युक्त आत्मा निश्चय मोक्षमार्ग है (१६०-१६१)।

'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' के प्रारम्भ में सम्यग्दर्शनादि का लक्षण कहने के पश्चात्

अन्त में कहा है कि आत्मा का विनिश्चय-सम्यग्दर्शन है। आत्मा का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में स्थिति सम्यक्चारित्र है। यह निश्चय सम्यग्दर्शन आदि का लक्षण कहलाता है।

जिसे देव-गुरु-शास्त्र का और तत्त्वार्थ का श्रद्धान होता है उसे आत्मा का श्रद्धान होता ही है। यदि आत्मश्रद्धान नहीं है तो वह सम्यग्दृष्टि नहीं है। तत्त्वार्थश्रद्धान का प्रयोजन आत्मश्रद्धान ही है। 'समयसार' (गाथा २०२) में कहा है—'जो आत्मा को नहीं जानता वह अनात्मा को भी नहीं जानता। और, जो आत्मा-अनात्मा को नहीं जानता वह जीव-अजीव को नहीं जानता। तब जो जीव-अजीव को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि नहीं होता।' इस कथन के प्रकाश में प्रत्येक सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन होता है अर्थात् एक ही सम्यग्दर्शन तत्त्वार्थ-श्रद्धान की दृष्टि से व्यवहार सम्यग्दर्शन और आत्मश्रद्धान की दृष्टि से निश्चय सम्यक्त्व होता है। इसी से पं० आशाधर जी ने अपने 'सागार धर्मामृत' के प्रारम्भ में अविरत सम्यग्दृष्टि का वर्णन करते हुए अपनी टीका में उसे 'निश्चय-सम्यग्दर्शनभाक् भवन्' कहा है क्योंकि सर्वज्ञ की आज्ञा से उसे दृढ़ प्रतीति होती है कि वैषयिक सुख हेय है और आत्मिक सुख उपादेय है।

अतः आत्मश्रद्धाविहीन श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व भी कहे जाने के योग्य नहीं है। आत्मश्रद्धा सहित ही तत्त्वार्थश्रद्धान यथार्थ सम्यग्दर्शन है। उसका पर-सापेक्ष कथन व्यवहार सम्यग्दर्शन है और आत्म सापेक्ष कथन निश्चय सम्यग्दर्शन है।

आगम में जो सम्यग्दर्शन के निश्चय और व्यवहार रूप भेद किये हैं वे राग को लेकर किये हैं। अतः सराग सम्यग्दर्शन व्यवहार सम्यग्दर्शन है और वीतराग सम्यग्दर्शन निश्चय सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति

आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने 'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' (१/२/१२) में कहा है—जैसा विशिष्ट आत्मस्वरूप का श्रद्धान सरागी जीवों में होता है वैसा ही वीतरागी जीवों में होता है। दोनों के श्रद्धान में अन्तर नहीं है। अन्तर है अभिव्यक्ति में। सरागी जीवों में सम्यग्दर्शन की अभिव्यक्ति प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव से होती है। और, वीतरागियों में आत्मविशुद्धि मात्र से। ये प्रशमादि एक-एक या सब अपने में स्वसंवेदन के द्वारा अनुमित होकर सराग सम्यग्दर्शन को सूचित करते हैं और दूसरों में शरीर और वचन के व्यवहाररूप विशेष चिह्नों के द्वारा अनुमित होकर सराग सम्यग्दर्शन को सूचित करते हैं। सम्यग्दर्शन के अभाव में मिथ्यादृष्टियों में ये नहीं पाये जाते।

शंका—किन्हीं मिथ्यादृष्टियों में भी क्रोधादि का उद्रेक नहीं देखा जाता?

समाधान—मिथ्यादृष्टियों में एकान्तवाद में अनन्तानुबन्धी मान का उदय देखा जाता है और अनेकान्तात्मक अपनी आत्मा में द्वेष का उदय अवश्य होता है। उनमें पृथ्वीकाय आदि जीवों का घात भी देखा जाता है। जो संसार से संविग्न दयालु होते हैं उनकी प्राणिघात में निःशंक प्रवृत्ति नहीं होती।

शंका—अज्ञानवश सम्यग्दृष्टि की भी प्राणिघात में प्रवृत्ति होती है?

समाधान—सम्यग्दृष्टि भी हो और जीवतत्त्व से अनजान हो यह बात परस्पर विरोधी है। जीवतत्त्व विषयक अज्ञान ही मिथ्यात्व विशेष का रूप है।

शंका—यदि प्रशमादि अपने में स्वसंवेदन से जाने जाते हैं तो तत्त्वार्थों का श्रद्धान स्वसंवेदन से क्यों नहीं जाना जाता? उसका प्रशमादि से अनुमान क्यों किया जाता है? और यदि तत्त्वार्थ श्रद्धान भी स्वसंवेदन से जाना जाता है तो फिर प्रशमादि से तत्त्वार्थ श्रद्धान का अनुमान किया जाता है और तत्त्वार्थ श्रद्धान से प्रशमादि का अनुमान नहीं किया जाता, यह कौन विचार ील मानेगा?

समाधान—आपके कथन में कोई सार नहीं है। दर्शनमोह के उपशम आदि से विशिष्ट आत्मस्वरूप तत्त्वार्थश्रद्धान के स्वसंवेद्य होने का निश्चय नहीं है। प्रशम संवेग, अनुकम्पा की तरह आस्तिक्य भाव उसका अभिव्यंजक है। और, वह तत्त्वार्थश्रद्धान से कथंचित् भिन्न है क्योंकि उसका फल है। इसीसे फल और फलवान् में अभेदविवक्षा होने पर आस्तिक्य ही तत्त्वार्थश्रद्धान है।

शंका—जैसे सरागी जीवों में तत्त्वार्थश्रद्धान का निर्णय प्रशमादि से किया जाता है वैसे ही वीतरागियों में भी उसका निर्णय प्रशमादि से क्यों नहीं किया जाता?

समाधान—नहीं, क्योंकि वीतरागी में तत्त्वार्थ श्रद्धान आत्मविशुद्धि मात्र है। और, समस्तमोह का अभाव होने पर संशयादि सम्भव नहीं हैं। अतः स्वसंवेदन से ही उसका निश्चय होता है। दूसरों में निश्चय के उपाय यद्यपि सम्यग्दर्शन के चिह्न प्रशमादि होते हैं। किन्तु प्रशम आदि के निर्णय के उपाय कायादि व्यापार विशेष वीतरागी में नहीं होते।

शंका—तो अप्रमत्त गुणस्थान से लेकर सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान पर्यन्त प्रशमादि के द्वारा सम्यग्दर्शन का अनुमान कैसे किया जा सकता है? क्योंकि वीतरागी के समान अप्रमत्त आदि में भी कोई व्यापार विशेष नहीं होता?

समाधान—सभी सरागी जीवों में सम्यग्दर्शन का अनुमान प्रशमादि से होता है ऐसा नहीं कहा है। यथायोग्य सरागियों और वीतरागियों में सम्यग्दर्शन का अनुमान प्रशमादि के द्वारा तथा आत्मविशुद्धिरूप से होता है ऐसा कहा है।

'पञ्चाध्यायी' के उत्तरार्द्ध में कहा है कि सम्यक्त्व वास्तव में सूक्ष्म है। वह केवलज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का विषय है। किन्तु मति, श्रुत और देशावधि का विषय नहीं है। अन्त में कहा है कि सम्यक्त्व वास्तव में सूक्ष्म है। वह वचनों के अगोचर है।

'तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक' में भी तत्त्वार्थश्रद्धान को स्वसंवेद्य नहीं कहा। उसके प्रशमादि गुणों को स्वसंवेद्य कहा है और उनके द्वारा तत्त्वार्थश्रद्धान का अनुमान किया जाता है।

'पञ्चाध्यायी' में कहा है कि श्रद्धान आदि गुण सम्यग्दृष्टि के बाह्य लक्षण हैं इसलिए केवल उन गुणों को सम्यक्त्व नहीं कह सकते। वे तो ज्ञान की पर्यायें हैं। इसी प्रकार आत्मानुभूति को भी सम्यक्त्व का लक्षण कहा जाता है, किन्तु वह भी ज्ञान की पर्याय है। कहने का सारांश यह है कि ज्ञान सम्यक्त्व नहीं है। वह तो उसका केवल बाह्य लक्षण है।

शंका—साक्षात् आत्मा का अनुभव तो स्वयं सम्यक्त्व है। क्योंकि किसी भी क्षेत्र और किसी भी काल में मिथ्यादृष्टि को वह नहीं होता।

समाधान—ऐसा नहीं है। तुम सत् सामान्य और सत् विशेष के भेद को नहीं जानते। अनाकार और साकार लिंग को भी तुम नहीं जानते। ज्ञान में अर्थ का विकल्प होना आकार कहलाता है। अथवा सोपयोग अवस्था का होना विकल्प है जो ज्ञान का लक्षण है। आकार का न होना अनाकार है। उसी का नाम निर्विकल्पता है। यह निर्विकल्पता ज्ञान के सिवाय शेष सब अनन्तगुणों का लक्षण है। और, निर्विकल्पक वस्तु का कथन करना शक्य नहीं है। इसलिए ज्ञान द्वारा उसका निरूपण किया जाता है। इसी से सम्यक्त्व गुण सूक्ष्म होने से वचन के अगोचर है। एक ज्ञान गुण ही ऐसा है जिससे आत्मा की सिद्धि होती है। वही स्वानुभूति का कारण होने से सर्वोत्कृष्ट है। स्वानुभूति आत्मा का ज्ञान विशेष है। उसका सम्यग्दर्शन के साथ अविनाभाव है। अतः उसके द्वारा सम्यग्दर्शन का कथन किया जाता है कि स्वानुभूति सम्यक्त्व है। किन्तु वह स्वानुभूति शुद्धनयरूप होनी चाहिए। अर्थात् अशुद्ध आत्मा की अनुभूति तो मिथ्यादृष्टि को भी होती है। शुद्धात्मा की अनुभूति सम्यग्दृष्टि को ही होती है। अतः यदि श्रद्धा आदि गुण स्वानुभूति के साथ हैं तो वास्तविक हैं अन्यथा आभास मात्र हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन निर्विकल्पक होने से सूक्ष्म है। उसका कथन केवल ज्ञान द्वारा ही किया जाता है।

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूति

तत्त्वार्थश्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है और तत्त्वार्थ में सातों तत्त्व आते हैं। उन

सातों तत्त्वों में प्रधान एक जीवतत्त्व ही है। 'समयसार' के प्रारम्भ में कहा है कि मोक्ष के इच्छुक को सर्वप्रथम जीव राजा का श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण करना चाहिए। जीव के श्रद्धान, ज्ञान के लिए अजीव का भी श्रद्धान, ज्ञान आवश्यक है। उसके बिना जीव का श्रद्धान, ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि जीव और अजीव का भेदज्ञान हुए बिना अजीव से हटकर जीव की श्रद्धा नहीं हो सकती।

जीव के यथार्थ स्वरूप की श्रद्धा के लिए उसका यथार्थ स्वरूप जानना ही चाहिए।

'रयणसार' में कहा भी है—

णियतच्चुवलद्धि विणा सम्मत्तुवलद्धि णत्थि णियमेण।
सम्मत्तुवलद्धि विणा णिव्वाणं णत्थि जिणुद्दिट्ठं ॥९०॥

अर्थात् निजतत्त्व की उपलब्धि के बिना सम्यक्त्व की उपलब्धि नियम से नहीं होती। और, सम्यक्त्व की उपलब्धि के बिना जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा दृष्ट निर्वाण प्राप्त नहीं होता।

'पञ्चास्तिकाय' की टीका में चेतना, अनुभूति, उपलब्धि को एकार्थ कहा है। अतः स्व की उपलब्धि ही स्वानुभूति है और शुद्धनयात्मक अनुभूति का नाम स्वानुभूति है। जैसा कि 'समयसारकलश' में कहा है—'आत्मानुभूतिरिति शुद्ध-नयात्मिका या…'

यह स्वानुभूति स्वसंवेदन द्वारा सम्यग्दृष्टि को होती है। आचार्य जयसेन ने अपनी टीकाओं में इस पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'पञ्चास्तिकाय' (गा. ९९) की टीका में वे लिखते हैं—'श्रुतज्ञान स्वसंवेदन रूप से आत्मा का ग्राहक जो भाव-श्रुत है वह प्रत्यक्ष है।' 'समयसार' की टीका में उन्होंने लिखा है—रागादि विकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञान रूप भावश्रुतज्ञान यद्यपि केवलज्ञान की अपेक्षा परोक्ष है तथापि इन्द्रिय और मन से उत्पन्न सविकल्पज्ञान की अपेक्षा प्रत्यक्ष है। इस कारण से आत्मा स्वसंवेदनज्ञान की अपेक्षा परोक्ष होता है। सर्वथा परोक्ष नहीं होता।

उक्त कथन के अनुसार ही 'पञ्चाध्यायी' के उत्तरार्ध में कहा है कि सम्यग्दृष्टि जीव के अपनी आत्मा को जाननेवाला स्वसंवेदन प्रत्यक्ष ज्ञान शुद्ध और सिद्धों के समान है।

अविरत सम्यग्दृष्टि

सम्यग्दर्शन का प्रारम्भ चतुर्थ गुणस्थान से होता है। उस गुणस्थान का नाम अविरत सम्यग्दृष्टि है। इस गुणस्थान के नाम में दो पद हैं—अविरत और सम्यग्-दृष्टि। अविरत पद बतलाता है कि प्रथम से चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त व्रतरूप संयम

नहीं होता। सम्यग्दृष्टि पद बतलाता है कि इससे आगे के सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टि के ही होते हैं।

'गोम्मटसार' जीवकाण्ड में इसका स्वरूप इस प्रकार कहा है—सात प्रकृतियों के उपशम, क्षय या क्षयोपशम से सम्यग्दर्शन होता है और दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय होने से असंयम होता है इससे इसका नाम अविरत सम्यग्दृष्टि या असंयत सम्यग्दृष्टि है। जो न तो इन्द्रियों के विषयों से विरत है और न त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा से विरत है, केवल जिनवर के वचनों पर श्रद्धा रखता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

अविरत सम्यग्दृष्टि का यह सर्वसम्मत स्वरूप आगम में कहा है। 'द्रव्यसंग्रह' (गाथा १३) की टीका में अध्यात्म शैली से चतुर्थ गुणस्थान का स्वरूप इस प्रकार कहा है—'स्वाभाविक अनन्तज्ञान आदि अनन्तगुणों का आधारभूत निज परमात्म द्रव्य उपादेय है, इन्द्रिय सुख आदि परद्रव्य हेय है, इस प्रकार सर्वज्ञदेव प्रणीत निश्चय-व्यवहारनय को जो साध्य-साधक भाव से मानता है किन्तु भूमिरेखा आदि के समान अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषाय के उदय से मारने के लिए कोतवाल के द्वारा पकड़े गये चोर की तरह अपनी निन्दापूर्वक इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

'सागारधर्मामृत' में पं. आशाधरजी ने भी उक्त प्रकार से ही लक्षण कहते हुए अन्त में लिखा है—

'शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः।'

अर्थात् वह इन्द्रियसुख को भोगता है और स्थावर तथा जंगम प्राणियों को पीड़ा देता है फिर भी पाप दोष से लिप्त नहीं होता।

इसका खुलास करते हुए वे लिखते हैं—जैसे कोतवाल के द्वारा मारने के लिए पकड़ा गया चोर, कोतवाल जो-जो करने के लिए कहता है वह-वह करता है। उसी प्रकार जीव भी चारित्रमोह के उदय के द्वारा जो-जो भाव-द्रव्य-हिंसा आदि करायी जाती है उसे अयोग्य जानते हुए भी करता ही है; क्योंकि अपने समय पर फल देनेवाले कर्म को रोकना दुर्निवार है। इससे बतलाया है कि सम्यक्त्व ग्रहण करने से पहले जिसने पर-भव की आयु का बन्ध नहीं किया है ऐसा असंयमी भी सम्यग्दृष्टि सुदेव और सुमनुष्य पर्याय के सिवाय शेष समस्त संसार का निरोध कर देता है अतः उसके कर्मजन्य क्लेश घट जाता है। किन्तु जो पूर्व में आयु बन्ध करके पीछे सम्यक्त्व को ग्रहण करता है वह यदि नरक में भी जाता है तो रत्नप्रभा पृथ्वी में जघन्य स्थिति ही भोगता है इससे उसके बहुत से दुःखों पर रोक लग जाती। अतः संयम की प्राप्ति से पहले संसार से भयभीत भव्य जीव को सम्यग्दर्शन की आराधना में सदा प्रयत्न करना चाहिए।

'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में स्वामी समन्तभद्र ने कहा है कि सम्यग्दर्शन से शुद्ध जीव अव्रती होने पर भी मरकर नारक, तिर्यंच, नपुंसक, स्त्री नहीं होते; दुष्कुल में जन्म नहीं लेते। विकलांग, अल्पायु और दरिद्र नहीं होते।

'स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा' में भी उल्लेख है—अविरत सम्यग्दृष्टि विषयों में आसक्त होता हुआ भी तथा असि-मषि-कृषि आदि सभी आरम्भों को करता हुआ भी, यह मोह का विलास है ऐसा मानकर सबको हेय मानता है (३१४)। आगे उसी में लिखा है—न तो कोई जीव को लक्ष्मी देता है, न कोई उसका उपकार करता है। शुभ-अशुभ कर्म ही जीव का उपकार या अपकार करते हैं (३१९)। यदि भक्तिपूर्वक पूजा करने से व्यन्तर आदि शासन देवी-देवता भी लक्ष्मी दे सकते हैं तो फिर धर्म करने की आवश्यकता क्या है? ऐसा सम्यग्दृष्टि विचारता है (३२०)।

जिस जीव के जिस देश में, जिस काल में, जिस विधान से जो जन्म अथवा मरण जिनदेव ने नियत रूप से जाना है, उस जीव के उसी देश में, उसी काल में, उसी विधान से वह अवश्य होता है, उसे इन्द्र अथवा जिनेन्द्र कौन टाल सकता है? इस प्रकार जो निश्चय से सब द्रव्यों और पर्यायों को जानता है वह सम्यग्दृष्टि है और जो उनमें शंका करता है वह मिथ्यादृष्टि है (३२१-३२३)।

सम्यक्त्व गुण से विशिष्ट जीव देवेन्द्र और नरेन्द्र से वन्दित होता है और व्रतरहित होने पर भी उत्तम विविध स्वर्ग सुख प्राप्त करता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि के यद्यपि व्रताचरण रूप चारित्र नहीं होता, न वह इन्द्रियसंयम पालता है और न प्राणिसंयम ही, जैसा कि उक्त आगम-प्रमाणों से स्पष्ट है। फिर भी उसमें सम्यग्ज्ञान के साथ चारित्रांश अवश्य रहता है जिसे स्वरूपाचरण कहते हैं। इसका कारण यह है कि वीरसेन स्वामी ने अपनी धवला-टीका में अनन्तानुबन्धी कषाय को सम्यग्दर्शन और चारित्र दोनों का घाती कहा है। और, यह भी उपपत्ति दी है कि यदि ऐसा न माना जाये तो दूसरा गुणस्थान नहीं बनता। इससे सिद्ध होता है कि अनन्तानुबन्धी सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र का भी घात करती है। अतः उसके उदय के अभाव में सम्यग्दर्शन के साथ चारित्र का भी अंश अवश्य प्रकट रहता है।

आचार्य जयसेन ने 'समयसार' (गाथा ३२०) की टीका में लिखा है—'यदा कालादिलब्धिवशेन भव्यत्वशक्तेर्व्यक्तिर्भवति तदाऽयं जीवः सहजशुद्धपारिणामिकभावलक्षणनिजपरमात्मद्रव्यसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणपर्यायेण परिणमति।'
अर्थात् 'जब कालादिलब्धिवश भव्यत्व शक्ति की व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षणवाले निज परमात्म द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरण रूप पर्याय से परिणत होता है।' यहाँ सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान के साथ जो अनुचरण भी बतलाया है यही वह चारित्र है जो सम्यक्त्व के

साथ प्रकट होता है। किन्तु व्रताचरण रूप चारित्र अविरतसम्यग्दृष्टि के नहीं होता। उसके पश्चात् ही चारित्र धारण करता है।

इस दृष्टि से 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में जो पहली प्रतिमा का स्वरूप कहा है वह द्रष्टव्य है। उसमें व्रताचरण रूप कोई क्रिया नहीं बतलायी है। पहली प्रतिमा का दार्शनिक नाम भी इस पर प्रकाश डालता है कि पहली प्रतिमा में सम्यग्दर्शन शुद्धि की ही प्रधानता है। पीछे के श्रावकाचारों में तो अष्ट मूलगुण आदि आ गये हैं।

पं० आशाधर जी ने तो अविरत सम्यग्दृष्टि और पहली प्रतिमा के मध्य में पाक्षिक श्रावक नाम का एक भेद स्थापित किया है और उसके लिए अष्ट मूलगुणों का पालन आवश्यक बतलाया है। किन्तु आज के कुछ विद्वान् और त्यागी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए अष्ट मूलगुणों का पालन आवश्यक बतलाते हैं। किन्तु शास्त्रों से इसका समर्थन नहीं होता। 'गोम्मटसार जीवकाण्ड' में कहा है—

णो इंदिएसु विरदो णो जीवे थावरे तसे वा पि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदो सो॥

अर्थात् जो न तो इन्द्रियों के विषयों से ही विरत है और न स्थावर और त्रस जीवों की हिंसा से ही विरत है, केवल जिन भगवान् के वचनों का श्रद्धालु है वह अविरत सम्यग्दृष्टि है।

इसी का अनुसरण करते हुए पं० आशाधर जी ने 'सागार धर्मामृत' के प्रारम्भ में कहा है—

'भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवात्मनिन्दादिमान्
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः॥'

अर्थात् पृथ्वी की रेखा के समान अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभ के वश में हुआ जो प्राणी सर्वज्ञ देव की आज्ञा से यह श्रद्धान करता है कि विषयजन्य सुख हेय है और आत्मिक सुख उपादेय है। वह मारने के लिए पकड़े गये चोर के समान अपनी निन्दा-गर्हा करता हुआ इन्द्रिय सुख को भोगता है और दूसरे जीवों को पीड़ा भी पहुँचाता है फिर भी पाप से लिप्त नहीं होता।

अतः सम्यग्दर्शन का मूल आधार जिनमार्ग पर दृढ़ श्रद्धा है। वह सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरु के सिवाय कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओं को नमस्कार तक नहीं करता, जैसा 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में कहा है। वह शास्त्रोक्त तत्त्वों का दृढ़ श्रद्धानी होता है। प्राणों पर संकट आने पर भी अपनी श्रद्धा से विचलित

नहीं होता। आगम में सम्यग्दृष्टि की श्रद्धा का चित्रण 'प्रवचनसार' में इस प्रकार किया है—

> अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी।
> ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमित्तं पि ॥४३॥

—मैं एकाकी हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ। अन्य परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है।

> णाहं देहो ण मणो चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
> कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥७१॥

—न मैं शरीररूप हूँ, न मनरूप हूँ, न वाणीरूप हूं। न उनका कारण हूँ, न उनका कर्ता हूँ, न कराने वाला हूँ, और न करने वाले की अनुमोदना करने वाला हूँ। अर्थात् ये सब पुद्गल द्रव्य के कार्य हैं, मेरे नहीं हैं।

'भावपाहुड' में उल्लेख है—

> एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसण लक्खणो।
> से सा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥

—ज्ञान और दर्शन लक्षणवाला एक अविनाशी आत्मा मेरा है। शेष मेरे सभी भाव बाह्य हैं। उनके साथ मेरा संयोग सम्बन्ध है, तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है।

> मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ।
> जीवाणं ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥८॥

—जब मरण समय आता है तब मणि, मंत्र, औषध, रक्षक, हाथी, घोड़े, रथ और सब विद्याएँ तीनों लोकों में जीवों की शरण नहीं होतीं।

> जाइ जरा मरण रोग भयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
> तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्त कम्मवदिरित्तो ॥११॥

—जन्म, जरा, मरण, रोग और भय से आत्मा ही अपनी रक्षा करता है अतः बन्ध उदय और सत्ता रूप कर्मों से भिन्न आत्मा ही शरण है।

> अरुहा सिद्धा इरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेट्ठी।
> ते वि हि चेट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१२॥

—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पाँचों परमेष्ठी भी आत्मा में ही स्थित होते हैं अर्थात् आत्मा ही पाँच परमेष्ठीरूप होता है अतः आत्मा ही मेरा शरण है।

ऐसी श्रद्धावाला ही सम्यग्दृष्टि होता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि अबन्धक है

जब जीव के मिथ्यात्व आदि का उदय आता है तब जीव के राग-द्वेष-मोहरूप जैसे भाव होते हैं, तदनुसार ही आगामी बन्ध होता है। और जब सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब मिथ्यात्व का और अनन्तानुबन्धी कषाय का उपशम हो जाने पर भी वह सत्ता में रहते है। किन्तु सत्ता में स्थित कर्म उदय के बिना बन्ध का कारण नही होता। अतः उस जीव के मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबन्धी कषाय तथा उस सम्बन्धी अविरति आदि भाव भी नहीं होते तथा मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी ४३ कर्मप्रकृतियों का बन्ध नहीं होता। केवल ७७ कर्मप्रकृतियों का ही बन्ध होता है वह भी अल्प स्थिति अनुभाग को लिये हुए होता है। अतः संसार की स्थिति को बढ़ाने वाला नहीं होता। इससे अविरत सम्यग्दृष्टि को भी अबन्धक कहा है। जब तक कर्म के उदय में कर्म का स्वामी अपने को मानता है तब तक ही कर्म का कर्ता कहा गया है। जब पर के निमित्तवश परिणमन करता है तब उसका ज्ञाता-द्रष्टा मात्र होने से ज्ञानी ही है, कर्ता नहीं है। इस तरह अपेक्षाभेद से सम्यग्दृष्टि होने के बाद चारित्रमोह का उदयरूप परिणाम होने पर भी ज्ञानी ही कहा गया है।

असल में अध्यात्म में मिथ्यात्व सम्बन्धी बन्ध ही अनन्त संसार का कारण होने से बन्ध माना जाता है। जो अविरति आदि से बन्ध होता है वह अल्प स्थिति अनुभाग रूप होने से दीर्घ संसार का कारण नहीं है। इससे उसकी प्रधानता नहीं है। ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है। जब तक ज्ञान के साथ मिथ्यात्व का उदय रहता है तब तक वह अज्ञान कहलाता है। मिथ्यात्व चले जाने पर अज्ञान नहीं, ज्ञान ही है।

अविरत और विरत के सम्यग्दर्शन में समानता

जयसेनाचार्य ने 'पञ्चास्तिकाय' की (गाथा १६०) की टीका में कहा है—वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत जीवादि पदार्थों के विषय मे सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान ये दोनों गृहस्थों और तपोधन साधुओं में समान होते हैं। केवल चारित्र में भेद है। 'मोक्षमार्गप्रकाशक' (अ. ६) में पं० टोडरमल जी ने भी लिखा है—सात तत्त्वों का श्रद्धान जैसा छद्मस्थ के हुआ था वैसे ही केवली सिद्ध भगवान के पाया जाता है। इसलिए ज्ञानादि की हीनता-अधिकता होने पर भी तिर्यंचादि व केवली, सिद्ध भगवान के सम्यक्त्व गुण को समान ही कहा है।···पहले ज्ञान की हीनता से जीवादि के थोड़े विशेष जाने थे पश्चात् केवलज्ञान होने पर उनके सर्व विशेष जाने। परन्तु मूलभूत जीवादि के स्वरूप का श्रद्धान जैसा छद्मस्थ के पाया जाता है वैसा ही केवली के पाया जाता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि एकदेश जिन

'द्रव्यसंग्रह' की प्रथम गाथा की टीका में मिथ्यात्व और रागादि को जीतने के कारण असंयत सम्यग्दृष्टि आदि को एकदेश जिन कहा है। तथा 'प्रवचनसार' के तीसरे अधिकार की मंगल गाथा की तात्पर्यवृत्ति में सासादन से लेकर क्षीणकषाय-पर्यन्त गुणस्थानवर्तियों को एकदेशजिन और शेष केवलियों को जिनवर कहा है—

अविरत सम्यग्दृष्टि भी विरागी

'समयसार' (गाथा २०१-२०३) की तात्पर्यवृत्ति में एक शंका समाधान इस प्रकार है—

शंका—रागी सम्यग्दृष्टि नहीं होता ऐसा आपने कहा। तब चतुर्थ और पंचम गुणस्थानवर्ती तीर्थंकर, कुमार भरत, सगर, राम, पाण्डव आदि सम्यग्दृष्टि नहीं रहे ?

समाधान—नहीं, मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा उनके तेतालीस कर्मप्रकृतियों का बन्ध न होने से वे सराग सम्यग्दृष्टि होते हैं। क्योंकि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती जीवों के अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ और मिथ्यात्व के उदय से उत्पन्न पत्थर की रेखा आदि के समान राग का अभाव है।

पं० जयचन्द ने अपनी टीका में लिखा है—अविरत सम्यग्दृष्टि आदि के चारित्रमोह सम्बन्धी राग है वह ज्ञान सहित है। उसको वह रोग के समान जानता है। उस रोग के साथ राग नहीं है। कर्मोदय से जो राग हुआ उसे मेटना चाहता है। और, जो राग का लेश मात्र भी उसके नहीं कहा, सो ज्ञानी के अशुभ राग तो अत्यन्त गौण है, परन्तु शुभ राग होता है। उस शुभ राग को अच्छा समझ लेशमात्र भी उस राग से राग करे तो सर्वशास्त्र पढ़कर भी, मुनि हो व्यवहार चारित्र मान-कर भी ऐसा समझना चाहिए कि उसने अपनी आत्मा का परमार्थ स्वरूप नहीं जाना। कर्मोदय जनित भाव को ही अच्छा समझा है उसी से अपना मोक्ष मानता है। ऐसा मानने से अज्ञानी है।

राग के अभाव में भोग कैसे ?

'समयसार' (गाथा १९४) की तात्पर्यवृत्ति में कहा है—जैसे कोई चोर मरना नहीं चाहता तथापि कोतवाल के द्वारा पकड़े जाने पर मृत्यु का अनुभव करता है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि यद्यपि आत्मिक सुख को उपादेय मानता है और विषयसुख को हेय जानता है तथापि चरित्रमोहरूप कोतवाल के द्वारा पकड़े जाने पर उसे भोगता है इस कारण से वह भोग निर्जरा का कारण होता है।

सारांश यह है कि सम्यग्दृष्टि दो प्रकार के होते हैं—वीतराग और सराग।

सराग सम्यक्त्वी का ज्ञान और श्रद्धान तो वीतराग सम्यग्दृष्टि के समान होता है किन्तु चारित्र मोह का उदय है, उसे वह पर ही अनुभव करता है। यद्यपि वह मन-वचन-काय की क्रियाओं को करता है तथापि उन्हें कर्मजन्य मानता है उनमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं रखता। आत्मा ज्ञाता द्रष्टा है यही भाव रखता है। वीतराग बनने की ही वह भावना भाता है : 'मैं निश्चय से परमात्मा की तरह निर्विकार ज्ञाता द्रष्टा हूँ।'

सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में कुछ विशेष कथ्य

मनुष्यों में जन्म लेने के आठ वर्ष के पश्चात्, देव-नारकियों में अन्तर्मुहूर्त पश्चात् और तिर्यंचों में आठ दिन पश्चात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व होना संभव है। इससे पहले नहीं।

उपशम सम्यक्त्व अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् अवश्य छूट जाता है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व के साथ मरण नहीं होता।

क्षायिक सम्यक्त्व एक बार होकर कभी नहीं छूटता।

सम्यक्त्व छूटने के पश्चात् अन्तर्मुहूर्त काल से पहले सम्यक्त्व की पुन: प्राप्ति नहीं होती।

क्षायिक सम्यग्दृष्टि जघन्य से तीन भव और उत्कृष्ट से सात-आठ भव धारण करके नियम से मुक्त होता है।

सम्यग्दृष्टि मर कर स्त्रीवेदवालों में उत्पन्न नहीं होता।

कृतकृत्यवेदक का काल अन्तर्मुहूर्त है। उसके चार भाग करें। प्रथम भाग में मरण होने पर देवगति में, द्वितीय भाग में मरण होने पर देव या मनुष्यों में, तृतीय भाग में मरण होने पर देव, मनुष्य या तिर्यंचों में और चतुर्थ भाग में मरण होने पर चारों गतियों में उत्पन्न होता है।

१२. सम्यग्ज्ञान

सम्यग्दर्शन की तरह सम्यग्ज्ञान भी आत्मा का गुण है। वस्तुतः आत्मा का गुण तो ज्ञान है किन्तु वह सम्यक् भी होता है और मिथ्या भी होता है। दर्शनशास्त्र में संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को मिथ्याज्ञान कहा है। सामने चमकती हुई वस्तु में यह सीप है या चाँदी, इस प्रकार के ज्ञान को संशय कहते हैं। सीप में चाँदी या चाँदी में सीप का ज्ञान विपर्यय है। मार्ग में चलते हुए पैर में स्पर्श होने पर 'कुछ होगा' इस प्रकार के ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। किन्तु जैन सिद्धान्त में जैसा का तैसा जाननेवाले ज्ञान को भी मिथ्या कहा है। दूसरे शब्दों में, सम्यग्दृष्टि का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। मिथ्यादृष्टि का ज्ञान यथार्थ नहीं है। क्योंकि उसे वस्तुस्वरूप की यथार्थ प्रतीति नहीं है। वह संसार के स्वरूप को उसके यथार्थरूप में नहीं जानता। जो ज्ञान हेय को हेय रूप में और उपादेय को उपादेय रूप में जानता है वही ज्ञान सच्चा है। किन्तु जो हेय को उपादेय और उपादेय को हेय रूप में जानता है वह ज्ञान सम्यक् कैसे हो सकता है!

यों तो आत्मा में अनन्तगुण हैं किन्तु उन गुणों में एक ज्ञानगुण ही ऐसा है जो स्व-पर-प्रकाशक है। जैसे दीपक अपने को भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार ज्ञान अपने को भी जानता है और अन्य पदार्थों को भी जानता है। इसी से ज्ञानगुण को सविकल्पक तथा शेष सब गुणों को निर्विकल्पक कहा है। सविकल्पक को साकार और निर्विकल्पक को निराकार भी कह सकते हैं। 'पंचाध्यायी' में कहा है—

आकारोऽर्थविकल्पः स्यादर्थः स्वपरगोचरः।
सोपयोगो विकल्पो वा ज्ञानस्यैतद्धि लक्षणम् ॥३९१॥
नाकारः स्यादनाकारो वस्तुतो निर्विकल्पता।
शेषानन्तगुणानां तल्लक्षणं ज्ञानमन्तरा ॥३९२॥

अर्थात् ज्ञान में अर्थ का विकल्प होना साकार है। और, अर्थ स्व और पर के भेद से दो प्रकार का है। अथवा सोपयोग अवस्था का नाम विकल्प है और यह ज्ञान का लक्षण है। आकार का नहीं होना अनाकार है। उसी को वास्तव में निर्विकल्पता कहते हैं। यह निर्विकल्पता ज्ञान के सिवाय शेष अनन्तगुणों का लक्षण है। निर्विकल्प का कथन करना शक्य नहीं है। अतः ज्ञान ही एक ऐसा गुण है जिसके द्वारा निर्विकल्पक का भी कथन किया जा सकता है। यदि ज्ञानगुण न हो तो वस्तु को जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसी से उसकी उपमा प्रकाश से दी जाती है। प्रकाश के अभावरूप अन्धकार की जो स्थिति है वही स्थिति अज्ञान की है।

किन्तु जैन सिद्धान्त में ज्ञान के अभाव को ही अज्ञान नहीं कहा है, मिथ्याज्ञान को भी अज्ञान कहा है। और, मिथ्याज्ञानपना बाह्य वस्तु पर अवलम्बित नहीं है। अर्थात् बाह्य में हमने कुछ का कुछ जान लिया तो वही मिथ्याज्ञान है ऐसा जैन सिद्धान्त में नहीं है। ऐसा मिथ्याज्ञान तो लौकिक है। लोक में भी माना जाता है। किन्तु बाह्य में यथार्थ जानते हुए भी ज्ञान मिथ्या होता है यह जैन सिद्धान्त या अध्यात्म की मान्यता है।

जैसे हाथ में दीपक लेकर भी यदि कोई गर्त में गिरता है तो वह जगत् में हँसी का पात्र होता है क्योंकि उसने दीपक का लाभ नहीं लिया। उसी प्रकार ज्ञान के होते हुए भी जो अपने आत्मा के हित-अहित का विचार करके हित में नहीं लगा और अहित से नहीं बचा उसका ज्ञान सम्यक् कैसे कहा जा सकता है? उदाहरण के लिए एक कामी पुरुष परस्त्री को परस्त्री जानते हुए भी यदि उसमें रति करता है तो उसका परस्त्री ज्ञान सम्यक् कैसे कहा जा सकता है? आप कह सकते हैं कि इसमें ज्ञान का दोष नहीं है। दोष उसकी कामवासना का है, जिसके कारण उसका ज्ञान तिरोहित हो गया। आपका कहना यथार्थ है। बुरे की संगति भी बुरी होती है वह निर्दोष को भी सदोष बना देती है। तपाये हुए लोहे के संसर्ग से बेचारी आग को भी लोहार के हथौड़े की चोट सहनी पड़ती है। अतः मोह के एक भेद मिथ्यात्व का सहभावी ज्ञान भी मिथ्या कहलाता है। जब तक उसका वह मिथ्याभाव दूर नहीं होता तब तक ज्ञान आत्मा को उसके हित में नहीं लगा सकता। अतः मिथ्यादृष्टि का यथार्थ भी ज्ञान अयथार्थ ही कहा जाता है। जब तक उस पर मिथ्यात्व का भूत सवार है तब तक उसकी दृष्टि सम्यक् नहीं हो सकती। और, जब तक दृष्टि सम्यक् न हो, ज्ञान सम्यक् नहीं हो सकता। इसी से सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान सम्यक् होता है।

यहाँ इस सम्बन्ध में 'धवला' से कुछ अंश दिये जाते हैं—

भूतार्थ (सत्यार्थ) का प्रकाशक ज्ञान है।

शंका—मिथ्यादृष्टियों का ज्ञान भी भूतार्थ प्रकाशक है। फिर वे अज्ञानी कैसे हैं?

समाधान—उनके मिथ्यात्व का उदय है अतः प्रतिभासित वस्तु में भी उन्हें संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय होता है इसलिए उन्हें अज्ञानी कहा है।

अथवा सद्भाव अर्थात् वस्तुस्वरूप का निश्चय कराने को ज्ञान कहते हैं। और, शुद्धनय विवक्षा में तत्त्वार्थ के निर्णायक को ज्ञान कहते हैं। अतः मिथ्यादृष्टि ज्ञानी नहीं है।

(धवला पु. १, पृष्ठ १४२-१४३)

शंका—मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञान को अज्ञानपना कैसे कहा है?

समाधान—क्योंकि उनका ज्ञान ज्ञान का कार्य नहीं करता।

शंका—ज्ञान का कार्य क्या है?

समाधान—जाने हुए पदार्थ का श्रद्धान करना ज्ञान का कार्य है। वह मिथ्यादृष्टि में नही है इसलिए उनका ज्ञान ही अज्ञान है।

शंका—दयाधर्म को जाननेवाले मिथ्यादृष्टियों में तो श्रद्धान पाया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि आप्त, आगम और पदार्थ के श्रद्धान से रहित जीव के दयाधर्म आदि में यथार्थ श्रद्धान होने का विरोध है।

(ध. पु. ५, पृ. २२४)

जाने हुए पदार्थ में विपरीत श्रद्धा उत्पन्न करानेवाले मिथ्यात्व के उदय के बल से जहाँ जीव में अपने जाने हुए पदार्थ में श्रद्धान उत्पन्न नहीं होता वहाँ जो ज्ञान होता है वह अज्ञान कहलाता है क्योंकि उसमें ज्ञान का फल नहीं पाया जाता।

शंका—घट , पट, स्तम्भ आदि पदार्थों में मिथ्यादृष्टियों के भी ज्ञान के अनुरूप श्रद्धान पाया जाता है?

समाधान—नहीं, क्योंकि वहाँ भी मिथ्यादृष्टि में अनध्यवसाय देखा जाता है। और यह असिद्ध नहीं है; क्योंकि 'यह ऐसा ही है' ऐसा निश्चय उसमें नहीं होता।

अथवा जैसे दिशामूढ़ प्राणी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श के सम्बन्ध में ज्ञानानुसार श्रद्धान करता हुआ भी अज्ञानी कहा जाता है; क्योंकि ज्ञानानुसार दिशा में श्रद्धान का अभाव है। इसी प्रकार स्तम्भ आदि पदार्थों में ज्ञानानुसार श्रद्धान करता हुआ भी अज्ञानी कहाता है, क्योंकि उसे जिन भगवान के वचनों के अनुसार श्रद्धान नहीं है।

(ध. पु. ७, पृ. ८५-८६)

'मूलाचार' में जिनशासन में मान्य ज्ञान का स्वरूप इस प्रकार कहा है—जिससे वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाये, जिससे मन की चंचलता रुक जाये, जिससे आत्मा विशुद्ध हो, उसे ही जिनशासन में ज्ञान कहा है। जिससे राग से विरक्ति हो, कल्याणमार्ग में अनुराग हो और सब प्राणियों में मैत्रीभाव हो, उसे ही जिनशासन में ज्ञान कहा है।

इस प्रकार जैन धर्म में मिथ्यात्व के सहचारी ज्ञान को मिथ्या या अज्ञान कहा है। सम्यग्दर्शन के प्रकट होने के साथ ही पूर्व का मिथ्याज्ञान सम्यक् हो जाता है। सम्यग्दर्शन के अभाव में वही मिथ्या कहलाता है। इसी से 'पुरुषार्थसिद्ध्युपाय' में सम्यग्ज्ञान को कार्य और सम्यग्दर्शन को कारण कहा है।

ज्ञान के भेद

सम्यग्ज्ञान के पाँच भेद हैं—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल। इनमें से मति और श्रुत परोक्ष हैं और शेष तीन प्रत्यक्ष हैं। उनमें भी अवधि और मनःपर्यय देशप्रत्यक्ष हैं और केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। 'प्रवचनसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—जो ज्ञान पर—इन्द्रियादि की सहायता से होता है वह परोक्ष है और जो केवल जीव के द्वारा ही होता है वह प्रत्यक्ष है। अतः जैनदर्शन में ज्ञान जीव से भिन्न नहीं है। जीव चैतन्य स्वरूप है और चेतना ज्ञानदर्शन स्वरूप है। उस चैतन्यस्वरूप आत्मा में सब पदार्थों को प्रत्यक्ष अर्थात् बिना किसी की सहायता के जानने-देखने की शक्ति सदा काल है। किन्तु अनादिकाल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण कर्मों के निमित्त से उस शक्ति की व्यक्ति नहीं है। उनके क्षयोपशम से मतिज्ञान, श्रुतज्ञान सब जीवों के यथायोग्य होते हैं और किन्हीं के अवधि, मनःपर्यय भी होते हैं। ये सब ज्ञान केवलज्ञान के ही अंश हैं; उससे भिन्न नहीं हैं क्योंकि एक जीव में पाँच ज्ञान नहीं होते। ज्ञानगुण तो एक ही है। वही आवरण के कारण अनेक रूप होता है। आवरण हटने पर एक केवलज्ञान के रूप में प्रकाशमान होता है।

वीरसेन स्वामी ने अपनी 'जयधवला' टीका के प्रारम्भ में मति आदि ज्ञान को केवलज्ञान का ही अंश सिद्ध किया है। उसका एक शंका-समाधान इस प्रकार है—

शंका—इन्द्रियों से उत्पन्न होने के कारण मतिज्ञान केवलज्ञान नहीं है।

समाधान—नहीं, क्योंकि यदि इन्द्रियों के व्यापार से ही ज्ञान पैदा होता हो तो इन्द्रियों के व्यापार से पहले ज्ञान का अभाव होने से जीव के भी अभाव का प्रसंग आता है।

शंका—इन्द्रिय व्यापार से पहले जीव में ज्ञान सामान्य रहता है, ज्ञानविशेष नहीं। अतः जीव के अभाव का प्रसंग नहीं आता।

समाधान—नहीं, क्योंकि तद्भाव लक्षण सामान्य अर्थात् ज्ञान सामान्य से ज्ञानविशेष भिन्न नहीं होता।

इसी प्रकरण के आरम्भ में कहा है—केवलज्ञान असिद्ध नहीं है, क्योंकि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष के द्वारा केवलज्ञान के अंशरूप ज्ञान की निर्बाध रूप से उपलब्धि होती है। अर्थात् मतिज्ञानादि केवलज्ञान के अंश हैं और उनकी उपलब्धि स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से होती है।

'धवला' (पुस्तक १३) के प्रकृति अनुयोगद्वार में भी ज्ञान की चर्चा इस प्रकार आती है—

शंका—जीव क्या पाँच ज्ञान स्वभाववाला है या केवलज्ञान स्वभाववाला है? पाँच ज्ञान स्वभाववाला तो हो नहीं सकता; क्योंकि सहावस्थान लक्षण विरोध होने से स्वीकार किये गये पाँच ज्ञानों का एक जीव द्रव्य में एक साथ अस्तित्व मानने में विरोध आता है। केवलज्ञान स्वभाव भी जीव नहीं हो सकता, क्योंकि ऐसा मानने पर आवरणीय शेष ज्ञानों का अभाव होने से उनको आवरण करनेवाले कर्मों का भी अभाव प्राप्त होता है?

समाधान—जीव केवलज्ञान स्वभाववाला ही है फिर भी शेष ज्ञानों के अभाव के साथ उनके आवरण कर्मों का अभाव नहीं होता; क्योंकि केवलज्ञानावरण के द्वारा आवृत हुए भी केवलज्ञान के कुछ अवयवों की, जो रूपी द्रव्यों को प्रत्यक्ष ग्रहण करने में समर्थ हैं, सम्भावना देखी जाती है। वे जीव से निकले हुए ज्ञान किरण प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार के हैं। उनमें से प्रत्यक्ष भाग भी दो प्रकार का है—एक संयम प्रत्यय और दूसरा सम्यक्त्व संयम और भव प्रत्यय। संयम प्रत्यय मनःपर्यय ज्ञान है और दूसरा अवधिज्ञान है। जो परोक्ष भाग है वह भी दो प्रकार का है—इन्द्रिय निबन्धन और इन्द्रियजनित ज्ञान निबन्धन। पहला मतिज्ञान है और दूसरा श्रुतज्ञान है। इन चारों ज्ञानों के आवारक कर्म मतिज्ञानावरणीय, श्रुतज्ञानावरणीय, अवधिज्ञानावरणीय और मनःपर्ययज्ञानावरणीय कहे जाते हैं। इसलिए केवलज्ञान स्वभाव जीव के रहने पर भी ज्ञानावरणीय के पाँच भेद सिद्ध होते हैं।

शंका—केवलज्ञानावरणीय कर्म क्या सर्वघाती है या देशघाती है? सर्वघाती तो हो नहीं सकता, क्योंकि केवलज्ञान का निःशेष अभाव मानने पर जीव के अभाव का प्रसंग आता है। अथवा आवरणीय ज्ञानों का अभाव होने पर शेष आवरणों के अभाव का प्रसंग आता है। केवलज्ञानावरणीय कर्म देशघाती भी नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसा मानने पर आगम का विरोध आता है। आगम में उसे सर्वघाती कहा है।

समाधान—केवलज्ञानावरणीय देशघाती नहीं, सर्वघाती ही है। वह केवल-

ज्ञान का निःशेष आवरण करता है फिर भी जीव का अभाव नहीं होता, क्योंकि केवलज्ञान के आवृत होने पर भी चार ज्ञानों का अस्तित्व पाया जाता है।

शंका—जीव में एक केवलज्ञान है। उसे जब पूर्ण आवृत कहते हो तब फिर चार ज्ञानों का सद्भाव कैसे सम्भव हो सकता है?

समाधान—जिस प्रकार राख से ढँकी हुई अग्नि से बाष्प की उत्पत्ति होती है उसी प्रकार सर्वघाती आवरण के द्वारा केवलज्ञान के आवृत होने पर भी उससे चार ज्ञानों की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है।

शंका—ये चारों ही ज्ञान केवलज्ञान के अवयव नहीं हैं क्योंकि वे विकल हैं, परोक्ष हैं, क्षय सहित हैं और हानि-वृद्धि सहित हैं। अतएव उन्हें सकल प्रत्यक्ष तथा क्षय और हानि-वृद्धि से रहित केवलज्ञान के अवयव मानने में विरोध आता है। अतः उन्हें केवलज्ञान का अवयव कैसे कहा जा सकता है?

समाधान—ज्ञान सामान्य को देखते हुए चारों ज्ञानों को उसका अवयव मानने में कोई विरोध नहीं आता।

एक साथ एक आत्मा में एक से लेकर चार ज्ञान तक हो सकते हैं। एक ज्ञान तो केवलज्ञान रहता है क्योंकि वह क्षायिक है उसके साथ अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रहते। दो हों तो मति और श्रुत; तीन हों तो मति, श्रुत और अवधि या मनः-पर्यय तथा चार हों तो मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय। पाँचों ज्ञान एक साथ नहीं रह सकते।

(धवला पु. १३, पृष्ठ २१३ आदि)

उक्त चर्चा से पाँचों ज्ञानों की स्थिति स्पष्ट हो जाती है तथा जीव ज्ञान-स्वभाव है यह भी स्पष्ट हो जाता है। उक्त पाँचों ज्ञानों में केवलज्ञान ही स्वाभाविक पूर्ण ज्ञान है जो अरहन्त और सिद्ध परमात्मा में सदा व्यक्त रहता है। इस ज्ञान का वर्णन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने 'प्रवचनसार' में कहा है—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

अर्थात् केवलज्ञान रूप परिणमन करते हुए अरहन्त परमात्मा को सब द्रव्यों की सब पर्यायें प्रत्यक्ष गोचर होती हैं। वे उन द्रव्य व पर्यायों को अवग्रह आदिपूर्वक नहीं जानते हैं।

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ॥२॥

अर्थात् उनके कुछ भी परोक्ष नहीं है। वे अपने निश्चित विषयों को ग्रहण करने-वाली इन्द्रियों से अतीत, सदा ज्ञानरूप समस्त इन्द्रियगुणों से समृद्ध तथा स्वयमेव ज्ञानरूप हैं।

संसारी जीवों में भी वह ज्ञान अंशरूप से रहता है। किन्तु उस पर ज्ञाना-वरण का परदा पड़ा रहता है। उसी का अंशरूप श्रुतज्ञान सम्यग्दृष्टि संसारी जीवों में पाया जाता है। उसी के बल से केवलज्ञान प्रकट होता है। यह आत्मा द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म से भिन्न चिद्रूप शुद्ध है ऐसा आत्मानुभाव शास्त्राभ्यास-पूर्वक प्राप्त भाव श्रुतज्ञान से होता है। उसे ही 'समयसार' में ज्ञानी कहा है और लिखा है—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
ण लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणयो ॥२२९॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहो ॥२३०॥

अर्थात् सम्यग्ज्ञानी आत्मा समस्त परद्रव्यों में राग नहीं करता हुआ कर्मवर्गणाओं के मध्य में पड़ा हुआ भी कर्मरज से लिप्त नहीं होता, जैसे कीचड़ में पड़ा सोना कीचड़ से लिप्त नहीं होता। परन्तु मिथ्यादृष्टि अज्ञानी सब द्रव्यों में राग करता हुआ कर्मवर्गणाओं के मध्य में पड़ा कर्मरज से लिप्त होता है, जैसे कीचड़ में पड़ा लोहा कीचड़ से लिप्त हो जाता है।

इसी से 'भावपाहुड' में श्रुतज्ञान के आराधना की प्रेरणा करते हुए कहा है—

तित्थयर भासियत्थं गणहरदेवेहिं गंथियं सम्मं।
भावहि अणुदिणु अतुलं विसुद्धभावेण सुयणाणं ॥९२॥

अर्थात् हे भव्य ! तू रात-दिन निर्मल भाव से अनुपम श्रुतज्ञान का मनन कर, जिसमें कहे गये अर्थ का कथन तीर्थंकरों ने किया है और गणधर देवों ने सम्यक् प्रकार से ग्रन्थ रूप में निबद्ध किया है।

किन्तु कोरा शास्त्रज्ञान भी फलदायी नहीं होता। आचार्य पूज्यपाद ने 'समाधिशतक' में कहा है—जो शरीर में आत्मबुद्धि रखता है वह सब शास्त्रों को जानता हुआ भी कर्मबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। और, आत्मज्ञानी होता हुआ भी मुक्त हो सकता है। इसलिए आत्मज्ञान के सिवाय अन्य कार्य में मन नहीं लगाना चाहिए। यदि प्रयोजनवश कुछ करना पड़े तो उसमें मन न लगाकर वचन और काय से ही करे। इसलिए जिनशासन में जीव-अजीव के भेदज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा है और ऐसा सम्यग्ज्ञानी ही मोक्ष का पात्र होता है।

'समयसार कलश' में उल्लेख है—

संपद्यते संवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद् भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥

अर्थात् यह नवीन कर्मों का रुकना रूप संवर शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि से होता

है और, शुद्ध आत्मतत्त्व की उपलब्धि जीव और कर्म-नोकर्म के भेदज्ञान से होती है। इसलिए उस भेदज्ञान को अत्यन्त भाना चाहिए और तब तक भाना चाहिए जब तक ज्ञान ज्ञान में स्थिर न हो जाये।

'समयसार' के भाषाकार पं. जयचन्दजी के अनुसार, मिथ्यात्व का अभाव होने से ही ज्ञान ज्ञान में स्थिर होता है। मिथ्यात्व का अभाव होने के पश्चात् ही शुद्धोपयोग रूप होकर ज्ञान ज्ञानरूप में स्थिर होता है।

यहाँ ज्ञान का ज्ञान में ठहरना प्रकारान्तर से आत्मा का आत्मा में ठहरना ही है। 'प्रवचनसार' में कहा भी है—

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं व अण्णं वा ॥२७॥

ज्ञान को आत्मा माना है क्योंकि ज्ञान आत्मा के बिना नहीं रहता। अतः ज्ञान आत्मा है। किन्तु आत्मा ज्ञानरूप भी है और अन्य गुणरूप भी है।

आगे आत्मा और ज्ञान में कर्ता-करण-कृत भेद को भी दूर किया है: 'जो जानता है वही ज्ञान है। आत्मा ज्ञान के सम्बन्ध से ज्ञाता नहीं है किन्तु स्वयं ज्ञानरूप परिणत होता है।' 'समयसारकलश' में भी कहा है—

'आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत् करोति किम्।

अर्थात् आत्मा ज्ञान है बल्कि स्वयं ज्ञान है अर्थात् ज्ञान के सम्बन्ध से ज्ञान नहीं है। वहाँ ज्ञान से अन्य करता ही क्या है!

१३. सम्यक्-चारित्र

आचार्य समन्तभद्र अपने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में लिखते हैं—जो कर्मबन्धन को काटकर जीव को संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख (मोक्ष में) में धरता है वह समीचीन धर्म है। यह धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप है।

किन्तु उनसे पूर्व आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'प्रवचनसार' के प्रारम्भ में चारित्र को धर्म कहा है। इन दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि सम्यक्चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना नहीं होता। इस विषय में समस्त शास्त्रों का ऐकमत्य है। आचार्य कुन्दकुन्द ने ही अपने 'दर्शनप्राभृत' में सम्यग्दर्शन को धर्म का मूल (दंसणमूलो धम्मो) कहा है। तथा 'बारह अणुवेक्खा' (द्वादश-अनुप्रेक्षा) में कहा है कि श्रावकों और मुनियों का धर्म सम्यक्त्वपूर्वक ही होता है। अतः धर्म का मूल सम्यग्दर्शन है तो धर्म सम्यक्चारित्र है। 'तत्त्वार्थसूत्र' की आद्य टीका 'सर्वार्थसिद्धि' में प्रथम सूत्र की व्याख्या में लिखा है कि सम्यग्दर्शन को प्रथम स्थान देने का कारण यह है कि सम्यग्दर्शन पूर्वक ही सम्यक्चारित्र होता है। और, सम्यक्चारित्र को अन्त में रखने का कारण यह है कि वह मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात्कारण है। अर्थात् जैसे सम्यग्दर्शन के बिना सम्यक्चारित्र नहीं होता उसी प्रकार सम्यक् चारित्र के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसी से 'भगवती आराधना' में कहा है—

णाणस्स दंसणस्स य सारो चरणं हवे जहक्खादं।
चरणस्स तस्स सारो णिव्वाणमणुत्तरं भणियं ॥११॥

अर्थात् ज्ञान और दर्शन का सार यथाख्यात चारित्र है और उस यथाख्यात चारित्र का सार सर्वोत्कृष्ट निर्वाण कहा है।

इस प्रकार सम्यक्चारित्र ही यथार्थ में धर्म है। उसकी आराधना में सब आराधनाएँ समाविष्ट हैं। किन्तु चारित्र धारण कर लेने से ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती। जैसे यदि किसी ने मुनिदीक्षा ले ली तो मुनि-दीक्षा ले लेने मात्र से वह अपने को सम्यग्दर्शन की भी प्राप्ति हुई मान ले तो यह अज्ञान है। यदि ऐसा होता तो मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी साधु भी मोक्ष चले जाते। फिर उन्हें मिथ्यादृष्टि द्रव्यलिंगी नहीं कहा जाता। इसी से शास्त्रों में सम्यक्-चारित्र धारण करने से पहले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना आवश्यक बतलाया है। उसके बिना धारण किया गया जैनाचार भी मिथ्याचारित्र ही कहा जाता है।

धर्म का लक्ष्य

धर्म या चारित्र धारण करने से पहले यह जान लेना चाहिए कि उसे हम क्यों धारण करते हैं। उसका लक्ष्य या उद्देश्य क्या है? जैसाकि पूर्व में कहा है, धर्म का लक्ष्य है संसार के दुखों से छुड़ाकर उत्तम सुख (मोक्ष) में ले जाना। और वह संसार के दुःखों के मूलकारण कर्मबन्धन को काटे बिना सम्भव नहीं है। अतः सच्चा यथार्थ धर्म वही है जिससे कर्मबन्धन कटते हैं। ऐसी दृष्टि से जो धर्माचरण करता है वही यथार्थ में धर्मात्मा होता है। ऐसी दृष्टि के लिए मोक्ष का श्रद्धान होना आवश्यक है। यदि मोक्ष का ही श्रद्धान न हो तो मोक्ष के उद्देश्य से धर्मा-चरण की भावना कैसे हो सकती है? मोक्ष के श्रद्धान के लिए आत्मा के शुद्ध स्वरूप का श्रद्धान होना आवश्यक है क्योंकि शुद्ध आत्मा की उपलब्धि का नाम ही मोक्ष है। जो आत्मा के शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा करके उसकी प्राप्ति की भावना से धर्माचरण करता है वह संसार के विषयजन्य सुख में उपादेय बुद्धि नहीं रख सकता। यदि उसकी विषयभोगजन्य सुख में उपादेय बुद्धि है तो वह मोक्ष सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं कर सकता। और, ऐसी स्थिति में उसका धर्माचरण भी संसार का ही कारण होता है।

मिथ्यादृष्टि की श्रद्धा का चित्रण करते हुए 'समयसार' में कहा है—

> सद्दहदि य पत्तेयदि य रोचेदि य तह पुणो वि फासेदि।
> धम्मं भोगणिमित्तं ण दु सो कम्मक्खयणिमित्तं ॥२७५॥

अर्थात् मिथ्यादृष्टि धर्म का श्रद्धान करता है, प्रतीति करता है, रुचि करता है और स्पर्श करता है, उसके अनुसार धर्म भोग के लिए है, कर्मक्षय के लिए नहीं।

किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि धर्म करने से सांसारिक सुख प्राप्त नहीं होता। जिस धर्म की आराधना से पारमार्थिक मोक्ष सुख प्राप्त होता है उससे क्या सांसारिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता? जिस खेती के करने से अन्न प्राप्त होता

है, उससे क्या भूसा भी प्राप्त नहीं होगा? किन्तु कोई किसान भूसे की इच्छा से खेती नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि अन्न की उपज होने पर भूसा तो अनायास मिल जाता है। खेती का मुख्य फल अन्न है, भूसा नहीं। उसी प्रकार धर्म पुरुषार्थ का भी मुख्य फल मोक्ष है, उसके साथ में संसार का सुख तो अनायास मिल जाता है। ज्ञानी धर्मात्मा उसकी दृष्टि से धर्म नहीं करता क्योंकि सांसारिक सुख को वह हेय मानता है। अतः धर्माचरण का यथार्थ फल मोक्ष है। उसी को लक्ष्य में रखकर धर्माचरण करना चाहिए।

धर्म : आत्मा का परिणाम

जब सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है तो यह स्पष्ट है कि धर्म आत्मा का ही परिणाम है; क्योंकि ये तीनों ही आत्मास्वरूप हैं, आत्मा से भिन्न नहीं हैं। वस्तुतः आत्मा एक अखण्ड द्रव्य है। द्रव्य वही कहा जाता है जो अखण्ड होता है। वह अखण्ड आत्मा सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्रमय है। उसमें दर्शन, ज्ञान, चारित्र की सत्ता स्वतन्त्र नहीं है। द्रव्य से उसके गुणों की सत्ता स्वतन्त्र नहीं होती। द्रव्य स्वतन्त्र अवश्य होता है किन्तु अखण्ड द्रव्य को बिना खण्ड-खण्ड किये समझा नहीं जा सकता। इसलिए व्यवहार से उसमें भेद करके समझाया जाता है। जैसे आत्मा कहने से आत्मा का स्वरूप समझ में नहीं आता। किन्तु जब कहा जाता कि आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय है और फिर दर्शन, ज्ञान, चारित्र का पृथक्-पृथक् स्वरूप बतलाया जाता है तब आत्मा का स्वरूप समझ में आ जाता है।

'समयसार' (गाथा १६) में कहा है कि साधु को नित्य दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना करना चाहिए। किन्तु निश्चय से वे तीनों आत्मस्वरूप ही हैं। अतः एक ही आत्मा साध्य भी है और साधन भी है। साध्य भी वही है और साधन भी वही है, उससे भिन्न नहीं है। भेद रत्नत्रयात्मक आत्मा साधन है और अभेद रत्नत्रयात्मक आत्मा साध्य है। भेदरत्नत्रय को व्यवहार मोक्षमार्ग कहते हैं और अभेदरत्नत्रय को निश्चय मोक्षमार्ग कहते हैं।

यह कि सम्यक्चारित्र को धर्म कहा है और सम्यक्चारित्र आत्मा का ही परिणामविशेष है, अतः धर्म आत्मा का ही परिणाम है। या धर्मरूप परिणत आत्मा ही धर्म है। धर्म आत्मा से कोई भिन्न वस्तु नहीं है। धर्म की आराधना करते समय धर्म की यह स्थिति समझ लेना आवश्यक है। धर्म कोई ऊपर से ओढ़ी हुई वस्तु का नाम नहीं है किन्तु आत्मा की ही परिणति विशेष का नाम धर्म है। इसी से 'प्रवचनसार' में कहा गया है—चारित्र निश्चय से धर्म है। और, जो धर्म है वही साम्यभाव है। साम्य दर्शनमोह और चारित्रमोह के उदय से होने वाले मोह

और क्षोभ का अभाव होने से जीव का जो अत्यन्त निर्विकार परिणाम है वही साम्यभाव है। इस तरह धर्म आत्मा का ही परिणाम है। या धर्मरूप परिणत आत्मा ही धर्म है। यह इसलिए कि उपादान कारण के समान कार्य होता है। और धर्म का उपादान कारण आत्मा ही है।

यह उपादान कारण शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है। रागादि विकल्प रहित आत्मा शुद्ध उपादान कारण है। शुद्ध उपादान कारण को शुद्धोपयोग और अशुद्ध उपादान कारण को अशुद्धोपयोग भी कहते हैं। उपयोग आत्मा का स्वभाव है क्योंकि वह चैतन्य का अनुविधायी परिणाम है। उस उपयोग के दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध। राग रहित उपयोग को शुद्ध कहते हैं और राग सहित उपयोग को अशुद्ध कहते हैं।

अशुद्धोपयोग—जिसमें पर-द्रव्य का संयोग रहता है तथा जो पर-द्रव्य से संयोग का कारण होता है वह अशुद्धोपयोग है। उस अशुद्धोपयोग के भी दो भेद हैं—विशुद्धिरूप और संक्लेशरूप। विशुद्धिरूप को शुभोपयोग कहते हैं और संक्लेश-रूप को अशुभोपयोग कहते हैं। यदि जीव का उपयोग शुभ होता है तो उसके पुण्य कर्म का संचय होता है और यदि उपयोग अशुभ होता है तो पापकर्म का संचय होता है। किन्तु यदि जीव के शुभ और अशुभ दोनों ही उपयोग नहीं होते तो उसके न पुण्य कर्म का संचय होता है और न पाप कर्म का संचय होता है।

अशुभोपयोग—मोह, द्वेष और अप्रशस्त राग रूप परिणामों को अशुभोपयोग कहते हैं। यहाँ मोह से दर्शनमोह अपेक्षित है। दर्शनमोह का ही भेद मिथ्यात्व है जो सम्यक्त्व का विरोधी है। उसके उदय में न तो तत्त्वार्थ में रुचि होती है और न धर्म में। अतः परिणाम अशुभोपयोग रूप ही रहते हैं। इसी प्रकार चारित्रमोह के उदय में इष्ट-अनिष्ट विषय में राग-द्वेष रूप परिणाम होते हैं जो अशुभोपयोग रूप ही हैं। जब जीव के क्रोध, मान, माया या लोभ रूप परिणाम होते हैं तो चित्त में कलुषता होती है जो अशुभोपयोगरूप ही है। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की चाह, इन्द्रियों की दासता, आर्त और रौद्रध्यान ये सब अशुभोपयोगरूप होते हैं।

प्रिय वस्तु का वियोग हो जाने पर उसके मिलने की आतुरता, अप्रिय वस्तु का संयोग होने पर उसके दूर होने की चिन्ता, शरीर में कष्ट होने पर उसके लिए फड़फड़ाना, धर्म-कर्म करके उसके बदले में भगवान् से सांसारिक वस्तुओं की चाह ये सब आर्तध्यान हैं। और, हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने एवं विषयों के संचय में मन को लगाना रौद्र ध्यान है।

गृहस्थाश्रम में अशुभोपयोग की बहुलता रहती है। दुनिया का समस्त कार-बार अशुभोपयोग रूप है। सबसे प्रथम उससे बचने की आवश्यकता है।

जैन घराने में जन्म लेने से यद्यपि बहुत-सी बुराइयों से मनुष्य बच जाता है। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु को नहीं भजता। फिर भी विपत्ति में पड़ने पर या कुसंगति से मनुष्य सद्धर्म से विचलित हो जाता है। मद्य-मांस का सेवी बन जाता है, जुआ खेलने लगता है। परस्त्रीगामी हो जाता है। विषयासक्त होकर धर्म-कर्म को भुला देता है। धर्म को लेकर कलह करता है।

अत: एक सद्गृहस्थ को सबसे प्रथम स्वयं को अशुभोपयोग से बचाना चाहिए। अशुभोपयोग से पापकर्म का बन्ध होता है। जिससे दुर्गति में भ्रमण करना पड़ता है। उस अशुभोपयोग से बचने का उपाय है शुभोपयोग।

शुभोपयोग या व्यवहार धर्म

'द्रव्य संग्रह' में व्यवहारचारित्र का वर्णन करते हुए कहा है—अशुभ को छोड़कर शुभ में प्रवृत्ति का नाम चारित्र है। इसे सरागचारित्र भी कहते है। इसी का एकदेश अवयवरूप देशचारित्र है। 'प्रवचनसार' (१।६) में कहा है—जब यह आत्मा दु:ख के साधन इन्द्रियों के विषयों में अनुरागरूप अशुभपयोग की भूमिका को त्यागकर देवपूजा, गुरुपूजा, दान, शील, उपवास आदि में प्रीतिरूप धर्मानुराग को स्वीकार करता है तब वह शुभोपयोगी कहलाता है।

आगे गाथा (१।६५) में कहा है—जो अनन्तज्ञानादि चतुष्टय सहित और क्षुधा आदि अठारह दोषरहित जिनेन्द्रदेव को जानता है, ज्ञानावरण आदि आठ कर्म रहित, सम्यक्त्व आदि आठ गुण सहित सिद्धों को और निश्चय व्यवहाररूप पाँच आचार आदि लक्षणों से युक्त आचार्य, उपाध्याय, साधु को भजता है, तथा त्रस और स्थावर जीवों पर दयाभाव रखता है, उसके शुभोपयोग होता है। दूसरे शब्दों में, श्रावक का आचार प्राय: शुभोपयोग रूप होता है। यद्यपि वह श्रावकाचार का पालन कर्मबन्धन से छूटने की भावना से करता है किन्तु साथ ही, उसके यदि सांसारिक सुख के साधन पुण्यबन्ध की लालसा रहती है, तो उसका वह शुभोपयोग वस्तुत: शुभोपयोग नहीं कहा जा सकता। इसी दृष्टि से अध्यात्म में शुभोपयोग को भी हेय कहा गया है।

शुभोपयोग भी हेय है

'प्रवचनसार' में (गाथा ६९-७७) में उल्लेख है कि शुभोपयोग इन्द्रियजन्य सुख का साधन है, क्योंकि शुभोपयोग से जहाँ पापास्रव रुकता है वहाँ साथ ही पुण्यास्रव विशेष होता है। उस पुण्य के उदय से इन्द्र चक्रवर्ती आदि पद प्राप्त होते हैं, जिनमें इन्द्रिय सुख के साधनों की प्रधानता है। अत: शुभोपयोग जन्य पुण्य का फल भोगते हुए देवों तक को विषयों की तृष्णा सताती है। और, वे उस विषय तृष्णा

से व्याकुल होकर मरणपर्यन्त विषयों में डूबे रहते हैं। इससे सिद्ध है कि देवों तक को सच्चा सुख प्राप्त नहीं है, क्योंकि वे इन्द्रियजन्य विषय तृष्णा से व्याकुल रहते हैं। इस प्रकार जब शुभोपयोगजन्य पुण्य से भरपूर देवेन्द्र आदि और अशुभोपयोग-जन्य पाप से पीड़ित नारकी आदि—दोनों ही स्वाभाविक सुख के अभाव में शारीरिक क्लेश ही भोगते हैं तो फिर शुभोपयोग और अशुभोपयोग में अन्तर ही क्या रहा ? दोनों ही संसार के कारण हुए।

फिर भी दोनों में अन्तर

मोक्ष-सुखाभिलाषी और संसार के दुःखों से भयभीत प्राणी के लिए शुभ और अशुभ उपयोग में यद्यपि अन्तर नहीं है तथापि अशुभोपयोग से बचने के लिए शुभोपयोग आवश्यक है। सम्यग्दृष्टि शुभोपयोगी शुभोपयोग को उपादेय मानकर नहीं अपनाता है। वह तो उपादेयरूप से अपनी शुद्धात्मा की ही भावना करता है किन्तु जब चारित्र मोह के उदय से उसमें असमर्थ होता है तो निर्दोष परमात्म-स्वरूप अर्हन्त, सिद्ध और उनके आराधक आचार्य, उपाध्याय, साधुगण की परमात्मपद की प्राप्ति के लिए और विषय-कषाय से बचने के लिए दान-पूजा, गुणस्तवन आदि द्वारा परमभक्ति करता है। उसमें उसे भोगों की आकांक्षा रूप निदान नहीं रहता। फिर भी, न चाहते हुए भी, उसके विशिष्ट पुण्य का आस्रव होता है। उससे वह स्वर्ग में देवेन्द्र की विभूति को प्राप्त करके भी उसे तृण की तरह तुच्छ मानता है। और, विदेहक्षेत्र में जाकर साक्षात् समवसरण में विराज-मान तीर्थंकर के दर्शन करके उनकी वाणी को सुनकर दृढ़श्रद्धानी हो जाता है। तथा चतुर्थ गुणस्थान के योग्य अविरत अवस्था को न छोड़ते हुए, भोग भोगते हुए भी, धर्मध्यानपूर्वक काल बिताता है। स्वर्ग से च्युत होने पर मनुष्यलोक में विभूति प्राप्त करके भी पूर्व भव में भावित विशिष्ट भेद ज्ञान की वासना के बल से मोह नहीं करता तथा जिनदीक्षा ग्रहण करके पुण्य-पाप से रहित अपनी शुद्ध आत्मा का ध्यान करके मोक्ष प्राप्त करता है।

इस तरह शुभोपयोग भी कार्यकारी होता है। अतः अशुभोपयोग की तरह शुभोपयोग सर्वथा हेय नहीं है।

'बृहत् द्रव्यसंग्रह' (गाथा ३४) की टीका में, गुणस्थानों में तीनों उपयोगों के स्वामित्व का विभाजन इस प्रकार किया गया है—मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर मन्दरूप से अशुभोपयोग रहता है। उसके आगे असंयत सम्यग्दृष्टि श्रावक और प्रमत्तसंयत में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक ऊपर-ऊपर तारतम्य रूप से शुभोपयोग रहता है। उसके आगे अप्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट के भेद से विवक्षित एकदेश

शुद्धनय रूप शुद्धोपयोग रहता है। इसका यह मतलब नहीं है कि नीचे के चतुर्थादि गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का सर्वथा अभाव है।

'बृहद् द्रव्यसंग्रह' की इसी गाथा की टीका में जो शंका-समाधान किया गया है, यहाँ दिया जाता है—

शंका—अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में अशुभ, शुभ और शुद्ध तीन उपयोगों का व्याख्यान किया, किन्तु अशुद्ध निश्चयनय में शुद्धोपयोग कैसे बनता है?

समाधान—शुद्धोपयोग में शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव अपनी आत्मा ध्येय रूप से स्थित रहती है। इस शुद्ध ध्येय के होने से, शुद्ध अवलम्बनपने तथा शुद्ध आत्म-स्वरूप का साधक होने से शुद्धोपयोग घटित है। संवर शब्द से कहा जानेवाला यह शुद्धोपयोग संसार के कारण भूत मिथ्यात्व रागादि अशुद्ध पर्याय की तरह अशुद्ध नहीं होता। शुद्धोपयोग के फलभूत केवलज्ञानस्वरूप शुद्धपर्याय की तरह शुद्ध भी नहीं होता। किन्तु उन शुद्ध-अशुद्ध पर्यायों से विलक्षण, शुद्धात्मानुभूतिरूप निश्चय-रत्नत्रयात्मक मोक्ष का कारण, एकदेश व्यक्तिरूप एकदेश निरावरण तीसरी अवस्थारूप कहा जाता है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अध्यात्म में जिसे शुद्धोपयोग कहते हैं, सिद्धान्त में उसे संवर कहते हैं। यह बात टीकाकार के 'संवरशब्दवाच्य: शुद्धोपयोग:' पद से स्पष्ट है। और, संवर मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को छोड़ शेष सभी गुणस्थानों में ऊपर-ऊपर प्रकर्ष से होता है। किन्तु दूसरे और तीसरे गुणस्थान सम्यक्त्व से पतनरूप होने के कारण अशुभोपयोग रूप माने गये हैं।

असंयतसम्यग्दृष्टि, श्रावक और प्रमत्तसंयत में परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक शुभोपयोग माना गया है। अत: यहाँ पर आंशिकरूप में शुद्धोपयोग होता है किन्तु उसका काल अत्यल्प होने से उसकी गणना नहीं की गई है।

आचार्य जयसेन ने 'समयसार' की अपनी टीका में कहा है—जब कालादि लब्धिवश भव्यत्व शक्ति की व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भावस्वरूप निजपरमात्म द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुचरणरूप पर्याय से परिणमन करता है। इस परिणमन को आगम की भाषा में औपशमिक, क्षायोप-शमिक क्षायिक भावरूप कहते हैं। किन्तु अध्यात्म की भाषा में शुद्धात्मा के अभि-मुख परिणाम शुद्धोपयोग इत्यादि नाम से कहे जाते हैं।

इस कथन के अनुसार, शुद्धोपयोग की भूमिका चतुर्थ गुणस्थान से ही प्रारम्भ हो जाती है। और फिर, शुभोपयोग तो छठें गुणस्थान तक रहता ही है, वहाँ तक भेदरत्नत्रयात्मक व्यवहारचारित्र की ही प्रधानता है। अत: शुभोपयोग को भी परम्परा से शुद्धोपयोग का साधक कहा गया है। इतना होते हुए भी, शुभोपयोग

रागरूप होने से बन्ध का कारण होता है इसलिए उसे हेय माना है। किन्तु वह अशुभोपयोग की तरह सर्वथा हेय नहीं है।

'प्रवचनसार' के प्रारम्भ में अमृतचन्द्र ने (गाथा ११) की टीका में शुभोपयोग को यद्यपि हेय कहा है किन्तु शुद्धोपयोग के साथ शुभोपयोग को भी 'चारित्र-परिणामसम्पर्कसम्भव' कहा है अर्थात् उसका चारित्र परिणाम के साथ सम्बन्ध है। तथा टीका में 'धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते' लिखकर उसके चारित्र को 'कथंचिद् विरुद्ध कार्यकारी' कहा है। लेकिन गाथा १२ की टीका में अशुभोपयोगी के लिए लिखा है कि 'मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्' किंचित् भी धर्मरूपपरिणति उसमें नहीं है। आगे लिखा है—'ततश्चारित्रलव-स्याप्यभवादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोगः' अर्थात् चारित्र का लेश भी न होने से यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है।

अतः जब मोक्षमार्ग में अशुभोपयोग सर्वथा हेय ही है तब शुभोपयोग अवस्था विशेष में ही हेय होता है। उसे सर्वथा हेय मान लेने पर मोक्षमार्ग बन ही नहीं सकता।

अमृतचन्द्र ने अपने 'पुरुषार्थसिद्धयुपाय' के अन्त में कारिका २०९ में कहा है कि बाधारहित मुक्ति के अभिलाषी गृहस्थ को प्रतिसमय एकदेश रत्नत्रय का पालन करते हुए जो कर्मबन्ध होता है वह शुभोपयोगरूप राग के कारण होता है। जितने अंश में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र हैं उतने अंश में बन्ध नहीं है, जितने अंश में राग है उतने ही अंश में बन्ध है। इस प्रकार जब तक रत्नत्रय एक-देश रहता है तब तक यह बन्ध और अबन्ध का खेल चलता है। अबन्धांश शुद्धोप-योग की देन है और बन्धांश शुभोपयोग की। 'समयसारकलश' में कहा है—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा,
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित् क्षतिः।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मबन्धाय तत्,
मोक्षाय स्थितिमेकमेव परमं ज्ञानं विमुक्तं स्वतः॥११०॥

अर्थात् जब तक कर्म का उदय है और ज्ञान की सम्यक् कर्मविरति नहीं है तब तक कर्म और ज्ञान का समुच्चय भी कहा गया है और उसमें कोई हानि नहीं है। किन्तु यहाँ भी इतनी विशेषता है कि इस आत्मा में अवशपने से कर्म के उदय की बलवत्ता से जो कर्म उदय होता है वह तो बन्ध के लिए ही है। मोक्ष के लिए तो एक परम ज्ञान ही है जो स्वतः विमुक्त है।

आशय यह है कि सम्यक्त्व प्रकट होते ही आत्मा में कर्म की धारा के साथ ज्ञान की धारा भी प्रवाहित होती है और, इस तरह से जब तक पूर्ण कर्मविरति नहीं होती तब तक दोनों धाराओं का, दूसरे शब्दों में राग और वीतरागता का,

सम्मिलन चलता है। इसमें कर्म या राग बन्ध का कारण होता है और वीतराग रूप अंश मोक्ष का कारण होता है। इस कर्मधारा और ज्ञानधारा में से जो एक के ही पक्षपाती होते हैं उनके सम्बन्ध में अमृतचन्द्राचार्य ने लिखा है—जो परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा को तो जानते नहीं हैं और व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप क्रियाकाण्ड को ही मोक्ष का कारण जान उसी में मग्न रहते हैं वे कर्मनयावलम्बी संसार समुद्र में ही डूबे रहते हैं। और, जो परमार्थभूत ज्ञानस्वरूप आत्मा को यथार्थरूप से तो जानते नहीं हैं किन्तु ज्ञाननय के एकान्त पक्षपाती होकर व्यवहार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप क्रिया को छोड़ स्वच्छन्द प्रमादी बन जाते हैं वे भी संसार में डूबे रहते हैं। किन्तु जो पक्षपात का अभिप्राय छोड़ निरन्तर ज्ञानरूप रहते हैं और जब उसमें रमना शक्य न हो तो आत्मस्वरूप के साधन रूप शुभकर्म में प्रवृत्ति करते हैं वे संसार से निवृत्त हो जाते हैं।

इस तरह शुभोपयोग या व्यवहारधर्म हेय होते हुए भी श्रावक के लिए तो आवश्यक है ही, मुनि के लिए भी आवश्यक होता है। उसके बिना मोक्षमार्ग नहीं बन सकता। मोक्षमार्ग न केवल निश्चयरूप है और न केवल व्यवहाररूप है किन्तु निश्चय-व्यवहाररूप है। अमृतचन्द्र ने 'तत्त्वार्थसार' के अन्त में कहा है—निश्चय और व्यवहार रूप से मोक्षमार्ग (का कथन) दो प्रकार से है। उनमें से प्रथम निश्चय मोक्षमार्ग साध्यरूप है और दूसरा व्यवहार मोक्षमार्ग उसका साधन है। अपने शुद्ध आत्मा का जो श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षाभाव है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय निश्चय-मोक्षमार्ग है और जो परपदार्थों का (जो निश्चय स्वरूप के साधक हों) श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा भाव है वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रमय व्यवहार मोक्षमार्ग है। इसमें निश्चय मोक्षमार्ग ज्ञानधारारूप है और व्यवहार मोक्षमार्ग कर्मधारारूप है।

निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग

आचार्य कुन्दकुन्द रचित 'पञ्चास्तिकाय' के टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य तथा जयसेनाचार्य ने अपनी-अपनी टीका के अन्त में पञ्चास्तिकाय शास्त्र का तात्पर्य दिया है। उसका सार हम यहाँ देते हैं—

जयसेनाचार्य ने लिखा है—इस पञ्चास्तिकाय प्राभृत नामक शास्त्र का तात्पर्य वीतरागता ही जानना। वह वीतरागता साध्यसाधकरूप से परस्पर सापेक्ष निश्चयनय और व्यवहारनय से ही मुक्ति की सिद्धि के लिए होती है। निरपेक्ष दोनों ही नयों से मुक्ति की सिद्धि नहीं होती। खुलासा इस प्रकार है—जो कोई विशुद्ध ज्ञान दर्शनस्वभाव शुद्ध आत्मतत्त्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठानरूप निश्चयमोक्षमार्ग से निरपेक्ष केवल शुभ अनुष्ठानरूप व्यवहारनय को ही मोक्षमार्ग

मानते हैं वे देवगति आदि के कष्टों को भोगते हुए संसार में ही भ्रमण करते हैं। किन्तु यदि वे शुद्धात्मानुभूतिस्वरूप निश्चयमोक्षमार्ग को मानते हैं पर निश्चय मोक्षमार्ग के अनुष्ठान की शक्ति न होने से निश्चय के साधक शुभ अनुष्ठान को करते हैं तो सराग सम्यग्दृष्टि होकर परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते हैं। और, जो केवल निश्चयनयावलम्बी होकर रागादि विकल्परहित परमसमाधिरूप शुद्ध आत्मा को प्राप्त न करके भी मुनियों के आचरण योग्य छह आवश्यक आदि के अनुष्ठान और श्रावकों के आचरण योग्य दान-पूजा आदि कार्यों को बुरा बतलाते हैं वे भी दोनों ओर से भ्रष्ट होकर निश्चय-व्यवहाररूप अनुष्ठान के योग्य अवस्थान्तर को न जानते हुए पाप का ही बन्ध करते हैं। यदि वे शुद्धात्मा के अनुष्ठानरूप मोक्षमार्ग को और उसके साधक व्यवहार मोक्षमार्ग को मानते हैं तो चारित्रमोह के उदय से शक्ति का अभाव होने से शुभ-अशुभ अनुष्ठान से रहित होने पर भी यद्यपि शुद्धात्म भावना सापेक्ष शुभ अनुष्ठान में संलग्न पुरुषों के समान तो नहीं होते, फिर भी सरागसम्यक्त्व आदि से युक्त व्यवहार सम्यग्दृष्टि होते हैं। परम्परा से मोक्ष भी प्राप्त करते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी अपनी टीका के अन्त में पञ्चास्तिकाय शास्त्र का परमार्थ से वीतरागता ही तात्पर्य बतलाया है तथा लिखा है कि व्यवहार और निश्चय के अविरोधपूर्वक ही इष्टसिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। जो मोक्षमार्ग मे प्रथम ही प्रवेश करते हैं उनकी बुद्धि अनादिकाल से भेदवासना से वासित होती है अत: वे व्यवहारनय से साध्य और साधन के भेद का अवलम्बन लेकर सुखपूर्वक धर्म की आराधना करते हैं। वह भिन्न साध्य-साधन इस प्रकार है—यह श्रद्धान करने योग्य है और यह श्रद्धान करने योग्य नहीं है। यह श्रद्धान करनेवाला (आत्मा) है। यह जानने योग्य है। यह जानने योग्य नहीं है। यह ज्ञाता है और यह ज्ञान है। यह आचरण करने योग्य है। यह आचरण करने योग्य नहीं है। यह आचरण करनेवाला है और यह आचरण है। इस प्रकार कर्तव्य, अकर्तव्य, कर्ता और कर्म को भिन्न-भिन्न जानकर उनका उत्साह बढ़ जाता है। और, वे धीरे-धीरे मोह को उखाड़ते जाते हैं। कदाचित् प्रमाद या अज्ञानवश दोष लगता है तो प्रायश्चित द्वारा उसकी शुद्धि करते हैं। इस प्रकार भिन्न विषयवाले श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र के द्वारा अर्थात् भेदरत्नत्रय के द्वारा अपनी आत्मा में कुछ-कुछ विशुद्धि प्राप्त करके निश्चयनय के विषयभूत अभेद रत्नत्रयात्मक अपनी आत्मा में क्रम से स्थिर होता हुआ परम वीतरागभाव को प्राप्त करके साक्षात् मोक्ष का अनुभव करता है।

आशय यह है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है। मोक्ष प्राप्त होता है आत्मा को और आत्मा से ये तीनों भिन्न नहीं हैं, तीनों ही आत्मरूप हैं। अत: निश्चय से तो साध्य भी आत्मा है और साधन भी आत्मा है। जब तक साध्य और साधन में ऐक्य स्थापित नहीं होता, मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता।

किन्तु ऐसा होना एकदम तो सम्भव नहीं है। अतः प्रारम्भ में साध्य-साधन के भेद द्वारा ही अभ्यास करना होता है। भेद व्यवहारनय का विषय है। व्यवहाररूप श्रद्धान-ज्ञान-चारित्र के विषय भी आत्मा से भिन्न हैं। व्यवहार श्रद्धान का विषय नौ पदार्थ हैं। व्यवहार ज्ञान का विषय अंग पूर्व है और व्यवहार चारित्र का विषय श्रावक और मुनि का आचार है।

पाँचवें गुणस्थान में उस गुणस्थान के योग्य शुद्ध परिणति के साथ एकदेश व्रतादि सम्बन्धी शुभ भाव होना तथा छठे गुणस्थान में मुनि के योग्य शुद्धपरिणति के साथ महाव्रतादि सम्बन्धी शुभ भाव होना निश्चय और व्यवहार का अविरोध कहलाता है और इनमें से एक को ही पकड़े रहना विरोध कहलाता है। उसे ही व्यवहारैकान्त या निश्चयैकान्त कहते हैं। इन दोनों का वर्णन आचार्य अमृतचन्द्र ने किया है। उसका आशय संक्षेप में इस प्रकार है—

जो केवल व्यवहार का ही अवलम्बन करते हैं वे निरन्तर साध्य और साधन को भिन्न ही देखते हैं अतः उनका चित्त धर्मादि के श्रद्धान में, द्रव्यरूप श्रुतज्ञान में, समस्त यतिरूप आचार के समुदायरूप कर्मकाण्ड में ही लगा रहता है। उनकी प्रवृत्ति कर्मचेतनाप्रधान होने से अशुभ कर्म से हटकर शुभकर्ममूलक हो जाती है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की ऐक्य परिणति रूप जो ज्ञान चेतना है वह उनमें किंचित् भी उत्पन्न नहीं होती। उनकी चित्तवृत्ति प्रचुर पुण्यबन्ध के भार से दब जाती है। फलतः देवलोक में उत्पन्न होकर संसार में भ्रमण करते हैं।

जो केवल निश्चयावलम्बी होते हैं वे समस्त क्रियाकाण्ड के आडम्बर से विरक्त होकर अपनी आँखों को थोड़ा-सा बन्द करके अपनी बुद्धि से कुछ भी सोचते हुए सुखपूर्वक बैठते हैं। वे भिन्न साध्य-साधन भाव का तो तिरस्कार करते हैं और अभिन्न साध्यसाधनभाव को प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं। फलतः पुण्यबन्ध के भय से मुनीन्द्र सम्बन्धी कर्मचेतना का भी अवलम्बन नहीं लेते और नैष्कर्म्यरूप ज्ञानचेतना में रहते नहीं हैं। अतः कर्मफल चेतना प्रधान प्रवृत्ति होने से वे वनस्पतिकाय की तरह पापबन्ध ही करते हैं। सारांश यह है कि मोक्षमार्गी ज्ञानी जीवों को सविकल्प प्राथमिक दशा में छठवें गुणस्थान तक व्यवहारनय की अपेक्षा भिन्न साध्यसाधनभाव होते हैं अर्थात् नौ पदार्थों के श्रद्धान सम्बन्धी, अंगपूर्वज्ञान सम्बन्धी और श्रावक मुनि के आचार सम्बन्धी, शुभ भाव होते हैं इस बात को निश्चयैकान्तवाले नहीं मानते। अतः वे पुण्यबन्ध के भय से मन्दकषायरूप शुभभाव नहीं करते और पापबन्ध के कारणभूत अशुभभावों का सेवन करते रहते हैं और इस प्रकार वे पापबन्ध ही करते हैं।

किन्तु जो महाभाग पुनर्जन्म का विनाश करने के लिए निरन्तर उद्योगशील रहते हुए निश्चय और व्यवहार में से किसी एक का ही अवलम्बन न लेकर

मध्यस्थ रहते हैं, शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्व में स्थिरता के लिए सावधान रहते हुए प्रमादभाव की प्रवृत्ति को रोकने के लिए शास्त्रानुसार व्यवहार धर्म का आचरण करते हुए भी उसे महत्त्व नहीं देते, यथाशक्ति आत्मा के द्वारा आत्मा में आत्मा का संचेतन करते हैं वे संसार समुद्र को पार कर जाते हैं।

ज्ञानचेतना और अज्ञानचेतना

ऊपर कहा है कि चैतन्यानुविधायी परिणाम को उपयोग कहते हैं और आत्मा का लक्षण उपयोग है। उपयोग के दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्धोपयोग के भी दो भेद हैं—शुभ और अशुभ। इसी प्रकार चेतना के भी दो भेद हैं—ज्ञान-चेतना और अज्ञान चेतना। इस अज्ञान चेतना के भी दो भेद हैं—कर्म चेतना और कर्म-फल चेतना। ज्ञान-चेतना का सहभाव शुद्धोपयोग के साथ है तथा कर्म-चेतना और कर्मफल-चेतना का सहभाव शुभोपयोग या अशुभोपयोग के साथ है। पृथिवी-कायिक आदि जीवों के मुख्यरूप से कर्मफल-चेतना होती है क्योंकि वे केवल शुभा-शुभ कर्मों के फल का अनुभवन करते हैं। उनके सुख-दुःख का अनुभवन अव्यक्त होता है। उनमें कर्तृत्व नहीं जैसा होता है। उनसे ऊपर जो दोइन्द्रिय आदि त्रस जीव होते हैं उनमें मुख्य रूप से कर्मचेतना होती है।

ज्ञान से भिन्न अन्य भावों में ऐसा अनुभव करना कि 'यह मैं हूँ' अज्ञान चेतना है। उसी के दो भेद हैं—ज्ञान के सिवाय अन्य भावों में ऐसा अनुभव करना कि 'मैं इसका कर्ता हूँ' कर्मचेतना है और ज्ञान के सिवाय अन्य भावों में यह अनुभव करना कि 'मैं इसका भोक्ता हूँ' कर्मफल-चेतना है। यह अज्ञान चेतना संसार का बीज है। इसलिए मुमुक्षु को उसका विनाश करने के लिए सकलकर्मसंन्यास भावना और कर्मफलसंन्यास भावना के द्वारा एक ज्ञानचेतना को ही अपनाना चाहिए। ज्ञानचेतना की अनुभूति का प्रारम्भ सम्यग्दृष्टि के होता है और पूर्ति केवलज्ञान के साथ ही होती है। कर्मसंन्यास और कर्मफलसंन्यास का मतलब कर्म और कर्मफल के त्याग से है अर्थात् न अपने को मन-वचन-काय एवं कृत-कारित-अनुमोदना से किये गये कर्म का कर्ता समझे और न उसके फल का भोक्ता अनुभव करे। ऐसा न करने से ही नवीन कर्मबन्ध होता है।

यहाँ मोक्ष की चर्चा से पूर्व बन्ध की चर्चा करना उचित होगा। 'समयसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—जैसे एक पुरुष शरीर में तेल लगाकर धूल भरे स्थान में व्यायाम करता है। अनेक वृक्षों को उखाड़ता है, काटता है और धूल से लिप्त हो जाता है। वह यदि शरीर में तेल न लगाकर वही सब करता है तो धूल से लिप्त नहीं होता। इससे स्पष्ट है धूल से लिप्त होने का कारण न तो उसका धूल

भरे स्थान में व्यायाम करता है और न ही वृक्षों का काटता है, किन्तु उसके शरीर का तेल से लिप्त होना ही धूल से लिप्त होने का कारण है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि अपने में रागादि उत्पन्न करके स्वभाव से ही कर्मपुद्गलों से भरे लोक में मन-वचन-काय की क्रिया करते हुए सचित्त, अचित्त का घात करता है और कर्मरूपी धूलि से बँध जाता है। विचार करें, इनमें से बन्ध का कारण कौन है? लोक का कर्मयोग्य पुद्गलों से भरा होना तो कारण नहीं है। यदि हो तो लोक के अग्रभाग में स्थित सिद्धों को भी कर्मबन्ध होना चाहिए क्योंकि कर्मयोग्य पुद्गल वहाँ भी भरे हैं। अनेक इन्द्रियाँ भी कारण नहीं हैं। यदि इन्द्रियाँ बन्ध का कारण हों तो केवली के भी बन्ध होना चाहिए। सचित्त, अचित्त वस्तु का घात बन्ध का कारण हो तो समिति का पालन करनेवालों को भी कर्मबन्ध होना चाहिए। अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि उसमें जो राग है वही बन्ध का कारण है। यदि अन्तरंग में राग न हो तो बन्ध नहीं हो सकता।

मनुष्य में कर्म करने की प्रवृत्ति भी एक राग है। किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी जनों की जो अबुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होती है उसे बन्ध नहीं कहा है। अज्ञानमय अध्यवसाय ही राग है, वही बन्ध का कारण होता है।

'समयसार' में इसके कुछ उदाहरण इस प्रकार दिये हैं—'मैं परजीवों को मारता हूँ या अन्य जीव मेरे प्राण लेते हैं, इस प्रकार का अध्यवसाय अज्ञानमूलक है; क्योंकि जीव का मरण अपने आयु कर्म के क्षय से होता है। और, आयु का हरण कोई दूसरा कर नहीं सकता। आयु का क्षय तो अपने उपभोग से होता है।

इसी तरह जो यह मानता है कि 'अन्य जीवों को मैं जिलाता हूँ या अन्य जीव मुझे जिलाते हैं' वह अज्ञानी है; क्योंकि जीव अपने आयुकर्म के उदय से जीवित रहते हैं। आयु के अभाव में किसी का जीवित रहना असंभव है। और फिर अपना आयु कर्म कोई दूसरे को नहीं दे सकता और न कोई किसी की आयु को घटा-बढ़ा सकता है। अतः 'मैं पर को जिलाता हूँ या अन्य मुझे जिलाते हैं' यह अध्यवसाय निश्चय ही अज्ञान है।

इसी प्रकार जो ऐसा मानता है कि 'मैं दूसरे जीवों को सुखी या दुखी करता हूँ और दूसरे जीव मुझे सुखी या दुखी करते हैं, वह मूढ़ अज्ञानी है, क्योंकि जब सभी अपने-अपने कर्म के उदय से सुखी और दुःखी होते हैं और तू उन जीवों को कर्म दे नहीं सकता। तब तूने उन्हें दुःखी या सुखी कैसे किया? इसी तरह अन्य जीव भी तुझे कर्म नहीं दे सकते। तब उन्होंने तुझे दुःखी या सुखी कैसे किया?

आशय यह है कि निमित्त-नैमित्तिक भाव से लोक में ऐसा व्यवहार किया जाता है कि हमने अमुक को सुखी या दुःखी आदि किया या अमुक ने हमें सुखी या

दुःखी किया। और इस प्रकार के विकल्प से राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं जो कर्मबन्ध में निमित्त होते हैं। शुभ संकल्पों से पुण्यबन्ध होता है और दुष्ट संकल्पों से पाप-बन्ध होता है।

इसी प्रकार हिंसा को लीजिए। किसी प्राणी के जीने या मरने पर अहिंसा और हिंसा अवलम्बित नहीं है। हिंसा और अहिंसा जीव के भावों पर अविलम्बित हैं। हमने किसी के मारने का संकल्प किया और मार नहीं सके तब भी हम हिंसा के दोष के भागी होते हैं। और, समितिपूर्वक गमन करते हुए साधु के पैर से यदि अचानक कोई जन्तु मर जाता है तो साधु हिंसा के दोष का भागी नहीं होता। क्योंकि साधु में प्रमाद भाव नहीं था। कहा है—

मरदु व जीवदु जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बन्धो हिंसामित्तेण समिदस्स॥

अर्थात् जीव मरे या न मरे, जो अयत्नाचारी है उसे हिंसा निश्चय से होती है किन्तु जो समितिपूर्वक सावधान है उसे हिंसा हो जाने मात्र से बन्ध नहीं होता।

हिंसा की ही तरह झूठ बोलने, बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने, स्त्री सेवन करने और परिग्रह संचय में जो अध्यवसाय किया जाता वह सब केवल पापबन्ध का कारण है। इसके विपरीत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह-त्याग में जो अध्यवसाय किया जाता है वह सब केवल पुण्यबन्ध का कारण होता है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी वस्तु को लेकर जीव के जैसे भाव होते हैं शुभ या अशुभ, तदनुसार बन्ध होता है। वस्तु बन्ध का कारण नहीं है किन्तु उसको लेकर हुआ अध्यवसाय बन्ध का कारण है। बाह्य वस्तु तो उस अध्यवसान का कारण है। इस पर से यह प्रश्न हो सकता है कि यदि बाह्य वस्तु बन्ध का कारण नहीं है तो उसका त्याग किसलिए कराया जाता है?

इसका समाधान है कि अध्यवसान का त्याग करने के लिए ही बाह्य वस्तु का त्याग कराया जाता है। बाह्य वस्तु का अवलम्बन लेकर ही अध्यवसान होता है। इसी से अध्यवसान के अवलम्बनभूत बाह्य वस्तु का अत्यन्त निषेध है। इस प्रकार बन्ध का हेतु अध्यवसान है और अध्यवसान का हेतु बाह्य वस्तु है। किन्तु बाह्य वस्तु बन्ध के हेतु का हेतु होने पर भी बन्ध का कारण नहीं है। ऐसा न मानने से दोष आता है। जैसे कोई मुनि ईर्या समितिपूर्वक चल रहे हैं और कोई उड़ता हुआ जन्तु अतिवेग से आकर उनके पैर रखने के स्थान पर अकस्मात् गिरकर उनके पैर से कुचल कर मर जाये तो उससे मुनि को किंचित् भी हिंसा का दोष नहीं लगता। उसी प्रकार बन्ध के हेतु का हेतु जो बाह्य वस्तु है वह बन्ध का कारण नहीं है। बाह्य वस्तु जीव का तद्भाव नहीं है अतः बन्ध का कारण नहीं है। अध्यवसान

जीव का स्वभावरूप है अतः यही बन्ध का कारण है।

सारांश यह है कि जब तक बाह्य विषय स्त्री-पुत्रादि में 'यह मेरे हैं' ऐसा संकल्प करता है और अभ्यन्तर में हर्ष-विषाद रूप विकल्प करता है तब तक अनन्त ज्ञानादिरूप आत्मा को नहीं जानता। और जब तक हृदय में इस प्रकार का आत्म स्वरूप स्फुरायमान नहीं होता तब तक शुभ-अशुभ कर्मों का बन्ध करता रहता है।

इसी से पूज्यपाद स्वामी ने 'समाधितन्त्र' में कहा है—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥

—अव्रत अर्थात् हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के सेवन रूप पापों से अपुण्य अर्थात् पाप का बन्ध होता है। और, उनके व्रतों से अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप व्रतों से पुण्य का बन्ध होता है। और, पुण्य तथा पाप दोनों का विनाश मोक्ष है। अतः मोक्ष के इच्छुक को अव्रतों की तरह व्रतों को भी छोड़ना चाहिए। उनसे छूटे बिना मोक्ष नहीं होता। किन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि व्रतादि धारण करना व्यर्थ है। व्रतों के धारण करने से नवीन अशुभ कर्म का बन्ध रुकता है और पूर्वसंचित अशुभ कर्म के एक देश का क्षय होता है। इसके साथ ही शुभोपयोग से होने वाले पुण्य बन्ध से स्वर्गादि पद की प्राप्ति होती है। पूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' में कहा है—

वरं व्रतैः पदं दैवं नाव्रतैर्बत नारकम्।
छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥३॥

—व्रतों के द्वारा देवपद पाना उत्तम है। व्रताचरण न करने से नरक में जाना उत्तम नहीं है। यद्यपि देव और नारक दोनों ही पद संसार से सम्बद्ध हैं फिर भी दोनों में उसी प्रकार महान् अन्तर है जिस प्रकार छाया में खड़े और धूप में खड़े पुरुषों में होता है।

इसका आशय यह है कि जैसे छाया में खड़ा मनुष्य सुखपूर्वक रहता है और धूप में खड़ा दुःखपूर्वक रहता है। उसी प्रकार व्रतादि का आचरण करने वाला जीव मुक्ति के कारणों की प्राप्ति से पूर्व स्वर्गादि में सुखपूर्वक रहता है और व्रताचरण न करनेवाला नरकादि में दुःख भोगता है। अतः व्रतादि का धारण निरर्थक नहीं है। व्रताचरण के बिना कोई मुक्ति का पात्र नहीं बन सकता। आत्मध्यान के लिए उनकी आवश्यकता होती है।

बन्ध के कारणों में प्रथम नाम मिथ्यात्व का है और दूसरा अविरति का। मिथ्यात्व के चले जाने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाने से मुक्ति का द्वार तो खुल जाता है किन्तु इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति और कषाय मुक्ति की प्राप्ति में प्रधान

बाधक रहते हैं। इनके लिए बाह्य वस्तुओं से, इष्ट-अनिष्ट विषयों से राग-द्वेष रूप परिणति को हटाने का अभ्यास करना आवश्यक है। सम्यक्त्व के होने से आत्मस्वरूप की श्रद्धा, रुचि, प्रतीति तो हुई किन्तु प्राप्ति नहीं हुई। उसी की प्राप्ति के लिए अविरति और असंयम को त्याग कर विरति और संयम रूप चारित्र को धारण करना आवश्यक होता है। उसके बिना आत्मा में आत्मा की स्थिति सम्भव नहीं है और उसके बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने 'चरित्तपाहुड' में चारित्र के दो भेद किये हैं—एक सम्यक्त्वचरण चारित्र और एक संयमचरण चारित्र। मोक्ष की प्राप्ति के लिए निःशंकित आदि गुणों से युक्त विशुद्ध सम्यग्दर्शन का सम्यग्ज्ञानपूर्वक पालन करना सम्यक्त्वचरण चारित्र है। यह सम्यक्त्वचरण चारित्र वात्सल्य, विनय, अनुकम्पा, दानवृत्ति, मोक्ष मार्ग के गुणों की प्रशंसा, उपगूहन, रक्षण, आर्जव आदि भावों से पहचाना जाता है।

दूसरा संयमचरण चारित्र सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार है। सागार या गृहस्थ सम्बन्धी चारित्र के दर्शनिक आदि ग्यारह भेद हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने उनका स्वरूप नहीं कहा। केवल पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों के नाम बतलाये हैं। श्रावक का मूल धर्म ये बारह व्रत और ग्यारह प्रतिमाएँ हैं। श्रावकाचारों में इनके बाह्य रूप का ही वर्णन मिलता है। पं० आशाधर ने अवश्य बाह्याचरण के साथ अन्तरंगरूप को भी लिया है। यथा—

रागादिक्षयतारतम्यविकसच्छुद्धात्मसंवित्सुख-
स्वादात्मस्वबहिर्बहिस्त्रसवधाद्यंहो व्यपोहात्मसु।
सद्दृग्दर्शनिकादिदेशविरतिस्थानेषु चैकादश-
स्वेकं यः श्रयते यतिव्रतरतस्तं श्रद्दधे श्रावकम् ॥१६॥

(सागार धर्मामृत, अ० १)

इसमें कहा है कि श्रावक के ग्यारह स्थानों का अन्तरंग रूप है राग-द्वेष, मोह के क्षयोपशम की हीनाधिकता से प्रकट हुई निर्मल चिद्रूप की अनुभूति से उत्पन्न सुख का स्वाद और बाह्य रूप है त्रसहिंसा आदि पापों का त्याग।

बाह्य वस्तु के त्याग का भी अन्तरंग शुद्धि के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। अन्तरंग की भावना से प्रेरित होकर ही बाह्य विषयों का त्याग किया जाता है। और, बाह्य विषयों के त्याग से अन्तरंग शुद्धि में निर्मलता आती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य में रागभाव की मन्दता होती जाती है त्यों-त्यों उसकी बाह्य विषयों से विरक्ति होती जाती है और ज्यों-ज्यों विरक्ति बढ़ती जाती है त्यों-त्यों राग की मन्दता होती जाती है। ऐसा नहीं है कि अन्तरंग में राग घट जाये और बाह्य

आचार न करे। बाह्य आचार का अन्तरंग वृत्ति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसी से रागी की प्रवृत्ति व्रत ग्रहण की ओर नहीं होती। अस्तु,

ग्यारह प्रतिमाओं का अध्यात्म दृष्टि से संक्षिप्त स्वरूप निरूपण इस प्रकार है—

१. सम्यग्दर्शनपूर्वक मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों का त्याग रूप आठ मूलगुण सहित होकर यदि युद्ध आदि में प्रवृत्त होता है तब भी निष्प्रयोजन जो जीव घात नहीं करता, वह प्रथम दार्शनिक श्रावक कहा जाता है (बृहद्-द्रव्य-संग्रह, सं. टी.)। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' सबसे प्राचीन श्रावकाचार है। उस समय अष्ट मूल गुणों में पाँच अणुव्रत लिये जाते थे। उत्तर काल में उनके स्थान में पाँच उदुम्बर फलों का त्याग आ गया और इस तरह अणुव्रतों के पालन की बात समाप्त जैसी हो गई। दूसरी बात यह है कि प्रथम प्रतिमाधारी श्रावक पंच परमेष्ठी के सिवाय किसी अन्य देव को नहीं मानता। पं० आशाधर ने अपने 'सागारधर्मामृत' में प्रथम प्रतिमा का स्वरूप 'रत्नकरण्ड' के अनुसार ही कहा है। उत्तर काल में सप्त व्यसन का त्याग, अष्ट मूलगुणों का पालन, रात्रि-भोजन-त्याग आदि भी प्रथम प्रतिमा के लक्षणों में गर्भित कर लिये गये। और इस तरह, बाह्य त्याग की ओर लक्ष बढ़ता गया है। अन्तरंग शुद्धि गौण होती गई है।

२. तीन शल्यों को त्यागकर जो पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का निरतिचार पालन करता है वह द्वितीय श्रावक व्रतप्रतिमाधारी है। 'सागार धर्मामृत' में इसका स्वरूप बहुत विस्तार से वर्णित है।

'बृहद्द्रव्यसंग्रह' की (गाथा ३५) की टीका में, निश्चयनय से विशुद्ध ज्ञानदर्शन-रूप निज आत्मतत्त्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के आस्वाद के बल से सब शुभ-अशुभ रागादि विकल्पों से रहित होना व्रत है। 'पंचाध्यायी' उत्तरार्द्ध में, कषायों के त्याग को अन्तरंग व्रत और प्राणियों पर दया को बाह्यव्रत कहा है। तथा मोहनीय कर्म के अभाव में होनेवाले शुद्धोपयोग को निश्चयचारित्र तथा निश्चयव्रत कहा है।

३. निरतिचार सम्यग्दर्शन, मूलगुण, उत्तरगुण का पालक जो श्रावक तीनों कालों में परीषह उपसर्ग आने पर भी साम्यभाव धारण करता है वह सामायिक प्रतिमा का धारी है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' (गाथा ३५५-३५७) में उसकी प्रशंसा करते हुए कहा है—पर्यंक आसन बाँधकर अथवा सीधा खड़ा होकर, काल का प्रमाण करके, इन्द्रियों के व्यापर को रोककर, जिन वचनों में मन को एकाग्र करके, काय को संकोचकर, हाथ की अंजलि करके, अपने स्वरूप में लीन हुआ अथवा वन्दनापाठ के अर्थ का चिन्तन करता हुआ, क्षेत्र का प्रमाण करके तथा समस्त सावद्ययोग को त्यागकर जो सामायिक करता है वह श्रावक मुनि के समान है।

'वसुनन्दिश्रावकाचार' (गाथा २७६-७८) में कहा है—जो श्रावक कायोत्सर्ग में स्थित होकर, लाभ-अलाभ को, शत्रु-मित्र को, इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग को, तृण और कंचन को, चन्दन और कुठार को समभाव से देखता है, और, मन में पंचनमस्कार को धारण कर उत्तम आठ प्रातिहार्यों से युक्त जिनवर और सिद्ध भगवान् के स्वरूप को ध्याता है; अथवा अविचल अंग होकर संवेग सहित एक क्षण के लिए भी उत्तम ध्यान करता है उसके उत्तम सामायिक होती है।

व्रत प्रतिमा में भी सामायिक व्रत है। वह अभ्यास रूप है और इस प्रतिमा में भी तीन बार सामायिक विधिपूर्वक करना आवश्यक है।

४. **प्रोषध प्रतिमाधारी** अष्टमी और चतुर्दशी को उपवास नियम से करता है। व्रत प्रतिमा में जो प्रोषधोपवास शीलरूप से रहता था वही इस प्रतिमा में व्रत रूप है। जिसमें पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों से उदासीन रहती हैं उसे उपवास कहते हैं। उसमें चारों प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है। अष्टमी और चतुर्दशी से प्रथम दिन मध्याह्न में एकबार भोजन करने के पश्चात् उपवास की प्रतिज्ञा लेकर धर्मध्यानपूर्वक सप्तमी या त्रयोदशी के शेष दिन-रात तथा अष्टमी या चतुर्दशी का दिन और रात बिताकर अगले दिन मध्याह्न में एक बार भोजन करना प्रोषधोपवास है।

५. जो कच्चे मूल, फल, शाक, शाखा, करीर, कन्द, फूल, बीज नहीं खाता वह **सचित्तत्याग** प्रतिमा का धारी श्रावक होता है। जीव सहित पदार्थों को सचित्त कहते हैं। सुखाने से, आग पर पकाने से, काटने से और नमक आदि के मिलाने से सचित्त पदार्थ अचित्त हो जाते हैं। व्रती सचित्त पदार्थ नहीं खाते। सचित्त को अचित्त करने से यद्यपि प्राणि संयम नहीं पलता किन्तु इन्द्रिय संयम पलता है क्योंकि सचित्त पदार्थ इन्द्रियमदकारक होते हैं। किन्तु जिस वनस्पति में त्रस जीवों का आवास है या जो अनन्तकाय है उसको अचित्त करके खाने में जीव हिंसा विशेष है। अतः ऐसी वनस्पति सर्वथा अभक्ष्य मानी गयी है।

६. जो श्रावक रात में अन्न, जल, खाद्य और लेह्य आदि चारों प्रकार के आहार को नहीं करता वह छठी **रात्रिभुक्तित्याग** प्रतिमा का धारी श्रावक होता है। इस प्रतिमा के स्वरूप के विषय में दूसरा मत यह है जो दिन में मन-वचन-काय कृत-कारित-अनुमोदना से मैथुन का त्याग करके रात्रि में ही स्त्रीसेवन का व्रत लेता है वह छठी प्रतिमा का धारी है। 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में प्रथम मत है और 'वसुनन्दिश्रावकाचार' में दूसरा मत है। 'सागार धर्मामृत' में दोनों मत दिये हैं।

७. मैथुन सेवन का सर्वथा त्याग सातवीं **ब्रह्मचर्य** प्रतिमा है।

८. जीवहिंसा के कारण नौकरी, खेती, व्यापार आदि आरम्भ का त्याग आठवीं आरम्भत्याग प्रतिमा है। 'वसुनन्दि श्रावकाचार' में कहा है कि जो कुछ भी थोड़ा या बहुत गृह सम्बन्धी आरम्भ होता है उसे जो सदा के लिए त्याग करता है वह आरम्भ त्याग प्रतिमा का धारी है।

९. जो दस प्रकार के बाह्य परिग्रहों से ममत्व त्यागकर सन्तोषवृत्ति धारण करता है वह नवम परिग्रहत्याग प्रतिमा का धारी श्रावक होता है। 'वसुनन्दि-श्रावकाचार' में कहा है—जो वस्त्र मात्र परिग्रह के सिवाय शेष सब परिग्रह को त्याग देता है और वस्त्र में भी ममत्व नहीं रखता है वह परिग्रह त्याग प्रतिमा का धारी है।

१०. आरम्भ में, परिग्रह में और इस लोक सम्बन्धी कार्यों में जो अनुमति नहीं देता वह श्रावक अनुमतित्याग प्रतिमा का धारी है। 'सागार धर्मामृत' में कहा है—वह चैत्यालय में बैठकर स्वाध्याय करता है और बुलाने पर अपने या दूसरों के घर भोजन करता है।

११. 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में कहा है—अपना घर त्यागकर, जिस वन में मुनि निवास करते हों वहाँ जाकर, गुरु के पास में जो व्रत ग्रहण करके भिक्षा-भोजन करता है, तपस्या करता है और केवल एक वस्त्रखण्ड रखता है वह अन्तिम उत्कृष्ट श्रावक है। आगे इसके क्षुल्लक और ऐलक दो भेद हो गये। उत्तरकालीन श्रावकाचारों में उनका विस्तृत वर्णन मिलता है।

ये सब प्रतिमाएँ एक तरह से सर्वस्व त्यागी श्रमण बनने की तैयारी है। इनमें से पहले की छह प्रतिमा जघन्य, बाद की तीन मध्यम और अन्तिम दो उत्कृष्ट मानी गयी हैं। प्रतिमाधारी को नैष्ठिक श्रावक कहते हैं। उससे पहले पाक्षिक श्रावक होता है। वह हिंसा को छोड़ने के लिए सबसे पहले मद्य, मांस, मधु और पाँच उदुम्बर फलों को छोड़ता है, उनका सेवन नहीं करता तथा स्थूल हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह के त्याग का अभ्यास करता है। रात्रि में भोजन नहीं करता, केवल पानी औषधि और पान इलायची आदि लेता है। धर्म के लिए, किसी देवता के लिए, मन्त्रसिद्धि के लिए, औषधि के लिए, अपने भोगोपभोग के लिए कभी हिंसा नहीं करता। प्रातःकाल उठते ही नमस्कार मन्त्र पढ़ता है और स्नानादि करके देवदर्शन, देवपूजन के लिए जिनमन्दिर जाता है। इसी से किन्हीं शास्त्रों में (१) मद्य, (२) मांस, (३) मधु, (४) रात्रिभोजन तथा (५) पाँच उदुम्बर फलों का त्याग, (६) देववन्दना, (७) जीवदया और (८) पानी छानकर पीना—ये आठ मूल गुण कहे गये हैं। इनके बिना जैन श्रावक श्रावक नहीं होता। जुआ, मांस, शराब, वेश्या, पशुओं का शिकार, चोरी और परस्त्री में आसक्ति—ये सात व्यसन महापाप रूप हैं। इनमें फँसकर मनुष्य व्यसनी हो जाता है। जुआ

खेलने के कारण ही पाण्डवों पर विपत्ति आयी थी। इसी तरह परस्त्री-हरण के कारण रावण का वंश नष्ट हुआ। इन महापापों से प्रत्येक गृहस्थ को बचना चाहिए।

श्रावकों के ऊपर ही मुनिधर्म निर्भर है। यदि श्रावक ठीक न हों तो मुनिधर्म भी ठीक रूप में नहीं पल सकता, क्योंकि मुनियों का आहार-विहार श्रावकों पर ही निर्भर है। अतः श्रावकधर्म ही धर्म की रीढ़ है।

साधुधर्म

जैन साधु के लिए पुराना नाम श्रमण था। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसी शब्द का प्रयोग विशेष रूप से किया है। 'प्रवचनसार' के अन्त में चरणानुयोगसूचक चूलिका का प्रारम्भ करते हुए उन्होंने कहा है—यदि दुःखों से छूटना चाहते हो तो श्रामण्य को धारण करो।

जो श्रमण होना चाहता है उसे सबसे प्रथम बन्धुवर्ग से स्वीकारता लेनी चाहिए और माता-पिता, स्त्री, पुत्रादि से मुक्त होकर श्रामण्य धारण करना चाहिए। यदि किसी के माता-पिता आदि न हों तब तो उनसे पूछने का कोई प्रश्न ही नहीं है। जो किसी का कर्जदार हो या राजकीय अपराधी हो, दुराचारी हो वह जिनदीक्षा के अयोग्य माना गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णों में से किसी एक वर्ण का हो, रोगी न हो, तप करने में तथा भूख-प्यास की बाधा सहने में समर्थ हो, अति बाल या अति वृद्ध न हो, विकलांग न हो, लोक में बदनाम न हो, ऐसा पुरुष ही जिनदीक्षा के योग्य होता है।

वह श्रामण्य का इच्छुक पुरुष गुणवान् आचार्य के पास आकर प्रार्थना करता है। दूरदर्शी आचार्य उसकी परीक्षा करके ही उसे साधुपद की दीक्षा देते हैं। और फिर, वह 'न मैं किसी का हूँ, न कोई मेरा है' 'इस लोक में कुछ भी मेरा नहीं है', ऐसा निश्चय करके समस्त परिग्रह को त्याग नग्न दिगम्बर हो जाता है। अपने हाथों से अपने सिर और दाढ़ी के बालों का लोंच करता है। उसके पास केवल दो ही उपकरण रहते हैं—जीवरक्षा के लिए मोर के पंखों से बनी पीछी और शुद्धि के लिए आवश्यक जलपात्र कमण्डलु। यह उसका बाह्य लिंग है। अन्तरंग में मोह, राग-द्वेष का अभाव, ममत्व भाव और आरम्भ का अभाव तथा उपयोग और योग की विशुद्धि अन्तरंग लिंग है। गुरु के द्वारा इन अन्तरंग और बहिरंग लिंग को धारण करके उन्हें नमस्कार करता है और व्रत तथा क्रिया को सुनता है। इस प्रकार सामायिक संयम को धारण करके वह श्रमण हो जाता है।

श्रमण के २८ मूलगुण इस प्रकार हैं—अहिंसा महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य

महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और अपरिग्रह महाव्रत—ये पाँच महाव्रत हैं। इनके साथ पाँच समितियाँ हैं—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान-निक्षेपण समिति, उत्सर्ग समिति। तीन गुप्ति—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति पूर्वक पाँच इन्द्रियों को वश में करना। छह आवश्यक—सामायिक, वन्दना, स्तव, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग। नग्नता, स्नान न करना, भूमि पर सोना, दन्तधावन न करना, खड़े होकर भोजन करना और दिन में ही एक बार भोजन करना।

यदि श्रमण के संयम में छेद हो जाता है तो वह छेद दो प्रकार का है—बहिरंग और अन्तरंग। मात्र कायचेष्टा सम्बन्धी छेद बहिरंग है उसकी शुद्धि मात्र आलोचना क्रिया से हो जाती है। किन्तु अन्तरंग छेद होता है तो प्रायश्चित्त शास्त्र में कुशल श्रमण के पास जाकर उनके सामने अपने दोषों की आलोचना की जाती है और वह जो प्रतिकार बतलाते हैं वह करना होता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि जो दीक्षा देते हैं वह तो गुरु होते हैं, और जो संयम में छेद होने पर उसका शोधन करते हैं उन श्रमणों को निर्यापक कहते हैं। श्रमणों का आचारण छेदरहित होना चाहिए। अतः श्रमण को नित्य अपने शुद्ध आत्मद्रव्य में स्थित रहना चाहिए। जो श्रमण सदा लाभ-अलाभ आदि में समभाव रखता है, वीतरागप्रणीत परमागम के ज्ञान में अथवा उसके फलभूत स्वसंवेद ज्ञान में, तथा तत्त्वार्थ श्रद्धान में अथवा उसके फलभूत उपादेय अपनी शुद्ध आत्मा (वही उपादेय है) अतः रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व में नित्य विचरण करता है, मूलगुणों में तत्पर रहता है उसी का श्रामण्य पूर्ण होता है।

ऐसा श्रमण शरीर की स्थिति में कारण प्रासुक आहार में, अनशन में, विहार में, आवास में, शरीर आदि परिग्रह में तथा अपने साथी श्रमणों में, रागवर्धक कथाओं में भी ममत्व नहीं करता। सारांश यह है कि आगम विरुद्ध आहार-विहार आदि का त्याग तो वह पहले ही कर देता है, योग्य आहार-विहार आदि में भी उसे ममत्व नहीं रह जाता।

शयन, आसन, खड़े होना, गमन करना आदि में असावधानता का नाम छेद है क्योंकि वह हिंसा का कारण है।

अतः श्रमण इस लोक से निरपेक्ष होने के साथ परलोक से भी निरपेक्ष होता है, उसे परलोक में भी सांसारिक सुख की आकांक्षा नहीं होती। उसका आहार-विहार योग्य होता है और योग्य आहार-विहार एक तरह से अनाहार और अविहार के समान है। क्योंकि श्रमण के पास परिग्रह के रूप में केवल शरीर होता है, उसमें भी वह ममत्व नहीं रखता, उसकी भी सार-सम्हाल नहीं करता और

अपनी शक्ति को न छिपाकर शरीर से तपस्या करता है। इसी से शरीर की स्थिति के लिए दिन में एकबार भिक्षावृत्ति के द्वारा जो कुछ रूखा-सूखा भोजन मिलता है उसे ग्रहण कर लेता है। भोजन में दूध, घी आदि रसों की अपेक्षा नहीं करता, मद्य, मांस का तो वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं है। ऐसा आहार ही युक्ताहार है और युक्ताहार अनाहार के समान है।

साधु को उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री पूर्वक अपना आचरण करना चाहिए ऐसा आगम का विधान है। न उसे अत्यन्त कठोर आचरण करना चाहिए और न ही अति मृदु आचरण करना चाहिए।

अपने शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह त्याज्य है। यह उत्सर्ग है। इसे ही निश्चयनय, सर्वत्याग, परम उपेक्षा संयम, वीतराग चारित्र और शुद्धोपयोग कहते हैं। जो साधु उसमें असमर्थ होता है वह शुद्धात्मा के लिए सहायक प्रासुक आहार और ज्ञान के उपकरण शास्त्रादि स्वीकार करता है। यह अपवाद है। इसे ही व्यवहारनय एकदेश त्याग, अपहृत संयम, सरागचारित्र और शुभोपयोग कहते हैं।

शुद्धात्म भावना के निमित्त सर्वत्यागलक्षण उत्सर्ग में प्रवर्तमान साधु शुद्धात्मा का साधक होने से मूलभूत संयम का तथा संयम का साधक होने से मू भूत शरीर का विनाश न हो, इसलिए प्रासुक आहार आदि ग्रहण करता है। इसको अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग कहते हैं। जब साधु अपवाद मार्गरूप अपहृत संयम में प्रवृत्त होता है तब भी शुद्ध आत्मतत्त्व का साधक होने से मूलभूत संयम का और संयम का साधक होने से मूलभूत शरीर का विनाश न हो उस प्रकार उत्सर्ग की अपेक्षा रखते हुए प्रवृत्त होता है। अतः जिस प्रकार संयम की विराधना न हो उस प्रकार उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद होना चाहिए किन्तु अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग और उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद नहीं होना चाहिए। जैसे कोई साधु दुर्धर अनुष्ठान रूप उत्सर्ग मार्ग में प्रवृत्त होता है और थोड़े से भी पाप के भय से प्रासुक आहार आदि भी ग्रहण नही करता तब आर्तध्यानपूर्वक मरण करके पूर्वोपार्जित पुण्य से देवलोक में जन्म लेता है। वहाँ संयम का अभाव होने से महान् कर्मबन्ध होता है। इसी से वह अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग का त्याग करता है। और, जिसमें अल्प हानि किन्तु बहुत लाभ है ऐसे अपवाद सापेक्ष उत्सर्ग को, जो कि शुद्धात्म भावना का साधक है, स्वीकार करता है। उसी प्रकार वह साधु अपहृत संयम नाम से कहे जानेवाले अपवाद मार्ग में प्रवृत्त होता है। उसमें प्रवृत्त होता हुआ वह साधु यदि पाप के भय से व्याधि आदि का इलाज न करके शुद्धात्मभावना को नहीं करता तो उसे महान कर्मबन्ध होता है। अथवा व्याधि का इलाज कराते हुए यदि इन्द्रिय सुख की लम्पटता या संयम की विराधना करता है तब भी महान् कर्मबन्ध होता है। अतः

उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद को त्यागकर शुद्धात्मभावनारूप अथवा शुभोपयोग रूप संयम की विराधना न करते हुए उत्सर्गसापेक्ष अपवाद को स्वीकार करता है।

आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं—श्रमण वही है जो एकाग्र अर्थात् निज परमात्म तत्त्व के श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान में लीन रहता है। ऐसी एकाग्रता पदार्थों के स्वरूप का निश्चय होने पर ही होती है और पदार्थों के स्वरूप का निश्चय आगम से होता है। अत: साधु को आगम का अभ्यास मुख्य रूप से करना चाहिए। जो श्रमण आगम को नहीं जानता वह अपने को और पर को नहीं जानता। तब वह कर्मों का क्षय कैसे कर सकता है? अत: साधु को आगम-चक्षु होना चाहिए।

आशय यह है कि आगम से सब द्रव्य-गुण-पर्यायों का ज्ञान होता है। पीछे आगम के आधार से स्वसंवेदन ज्ञान होने पर और स्वसंवेदन ज्ञान के बल से केवल-ज्ञान होने पर उनका प्रत्यक्ष होता है। अत: आगमरूपी चक्षु से परम्परा से सभी पदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं। जिसका श्रद्धान आगमपूर्वक नहीं है उसके संयम नहीं है ऐसा आगम में कहा है, और, जो असंयमी है वह श्रमण नहीं है। तात्पर्य यह कि निज परमात्म ही उपादेय है ऐसी रुचि रूप सम्यक्त्व यदि नहीं है तो परमागम के बल से आत्मा को जानते हुए भी सम्यग्दृष्टि नहीं है और न ज्ञानी है। उन दोनों के अभाव में पाँच इन्द्रियों के विषयों से और छह काय के जीवों से निवृत्त होते हुए भी संयमी नहीं है। अत: यह स्थित होता है कि परमागम का ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और संयम ये तीनों ही मिलकर मुक्ति के कारण हैं। इन तीनों की एकता के अभाव में मुक्ति नहीं है। अर्थात् यदि पदार्थों का श्रद्धान नहीं है तो केवल आगम के ज्ञान से सिद्धि प्राप्त नहीं होती और पदार्थों का श्रद्धान होते हुए भी यदि संयम नहीं है तब भी मोक्ष नहीं होता तथा समस्त आगमों का ज्ञानी होते हुए भी जिसका अपने शरीर आदि में किंचित् भी ममत्व भाव है वह भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकता। अत: जो पाँच समिति और तीन गुप्तियों का पालक है, जिसने पाँचों इन्द्रियों को वश में किया है, कषायों को जीता है और जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान से पूर्ण है ऐसा श्रमण ही संयमी होता है। साथ ही, जो शत्रु और मित्रवर्ग में, सुख और दु:ख में, प्रशंसा और निन्दा में, लोष्ठ और सुवर्ण में तथा जीवन और मरण में समभाव रखता है वही श्रमण है।

वे श्रमण दो प्रकार के होते हैं—शुद्धोपयोगी और शुभोपयोगी। अपनी शुद्धात्मा की भावना के बल से समस्त शुभ-अशुभ संकल्प-विकल्पों से रहित होने से शुद्धोपयोगी श्रमण निरास्रव होते हैं और शुभोपयोगी श्रमण मिथ्यात्व और विषय-कषाय रूप अशुभास्रव के न होने पर भी पुण्यकर्म के आस्रव से सहित होते हैं। समस्त परिग्रह के त्यागरूप श्रामण्य के होने पर भी कषाय का अंश रहने से वे

शुद्धात्म परिणतिरूप से रहने में असमर्थ होते हैं किन्तु अरहन्त आदि में भक्ति तथा आचार्य, उपाध्याय, साधुओं में वात्सल्य भाव रखते हैं। यही शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है। वे सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान का उपदेश देते हैं, जिनेन्द्र पूजा का उपदेश देते हैं, रत्नत्रय की आराधना के इच्छुक शिष्यों का लालन-पालन करते हैं। यदि किसी श्रमण को रोगादि होता है तो उसकी वैयावृत्य करते हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोग से ही मुख्यरूप से पुण्य-बन्ध होता है, परम्परा से मोक्ष प्राप्त होता है।

जो निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग को नहीं जानते तथा पुण्य को ही मुक्ति का कारण मानते हैं ऐसे शुद्धात्मा के उपदेश से शून्य अज्ञानी श्रमणों के द्वारा दीक्षित पुरुष जो व्रत नियम आदि करते हैं वह शुद्धात्म भावना के अनुकूल नहीं होता। अतः मोक्ष का भी कारण नहीं होता।

जो संयम, तप और श्रुत से युक्त होने पर भी यदि जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा उपदिष्ट आत्मा आदि पदार्थों का श्रद्धान नहीं करता वह श्रमण श्रमणाभास होता है तथा जो श्रमण द्वेषवश सच्चे श्रमण का अपवाद करता है उसका चारित्र नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जो श्रमण हीन गुणवाला होने पर भी गर्व के कारण दूसरे अधिक गुणवाले श्रमणों से विनय की इच्छा करता है वह अनन्त संसारी होता है।

श्रमण को लौकिक श्रमणजनों का भी संसर्ग छोड़ना चाहिए। जो निर्ग्रन्थ मार्ग की दीक्षा लेकर संयम-तप से संयुक्त होने पर भी ख्याति, लाभ, पूजा में निमित्त ज्योतिष, मन्त्रवाद, वैद्यक आदि इस लोक सम्बन्धी कर्मों में लगा रहता है उसे लौकिक श्रमण कहते हैं।

ऊपर जो कुछ लिखा है उसका आधार 'प्रवचनसार' का चारित्राधिकार है। मुनि आचार का दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'मूलाचार' है। उसमें भी साधु के २८ मूलगुण कहे हैं। उनमें से कुछ का परिचय दिया जाता है—

ईर्या समिति—जब सूर्य का उदय होकर प्रकाश फैल जाये, देखने में कोई बाधा न हो तब स्वाध्याय प्रतिक्रम और देववन्दना करने के अनन्तर आगे चार हाथ जमीन देखते हुए, स्थूल और सूक्ष्म जीवों को बचाते हुए सावधानी से सदा गमन करना चाहिए। प्रासुक मार्ग से ही गमन करना चाहिए। जिस मार्ग पर बैलगाड़ी, हाथी, रथ, घोड़े, मनुष्य आदि आते-जाते हों वह मार्ग प्रासुक होता है।

भिक्षा भोजन—सूर्योदय से तीन घटिका पश्चात् और सूर्यास्त से तीन घटिका पूर्व साधु का भोजनकाल है। तीन मुहूर्त में भोजन करना जघन्य आचरण है। दो मुहूर्त में करना मध्यम आचरण है। और, एक मुहूर्त में भोजन कर लेना उत्तम आचरण है। भोजन छियालीस दोष टालकर करना चाहिए। साधारणतया भोजन 'नवकोटिपरिशुद्ध' अर्थात् मनसा, वाचा, कर्मणा तथा कृत-कारित-अनु-

कौतुका से रहित होना चाहिए। साधु को बिना किसी सहारे के खड़े होकर अपने दोनों हाथों की अंजलि में आहार ग्रहण करना चाहिए। दोनों पैर सम होने चाहिए और उनके मध्य में चार अंगुल का अन्तर होना चाहिए। साधु को अपना आधा पेट भोजन से भरना चाहिए। एक चौथाई जल से पूर्ण करना चाहिए और एक चौथाई वायु के लिए खाली रखना चाहिए। भोजन का परिमाण बत्तीस ग्रास कहा है। एक हजार चावलों का एक ग्रास कहा गया है।

दैनिक कृत्य—साधु की दिनचर्या इस प्रकार बतलायी गयी है—सूर्योदय होने पर देव-वन्दना करते हैं। दो घड़ी बीतने पर श्रुतभक्ति और देवभक्ति पूर्वक स्वाध्याय करते हैं। जब मध्याह्न काल प्राप्त होने में दो घड़ी समय शेष रहता है तब श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्याय समाप्त करते हैं। फिर अपने ठहरने के स्थान से दूर जाकर शौच आदि करते हैं। फिर हाथ-पैर आदि धोकर कमण्डलु और पिछी लेकर मध्याह्नकालीन देववन्दना करते हैं। फिर पेट भरे बालकों तथा भिक्षा भोजन करनेवाले अन्य लिंगियों को देखकर भिक्षा का समय जान, जब गृहस्थों के घर से धुआँ निकलता नहीं दिखाई देता तथा कूटने-पीसने का शब्द सुनायी नहीं देता, तब गोचरी के लिए निकलते हैं। जाते हुए न अतितीव्र गमन करते हैं न मन्द गमन करते हैं, न रुक-रुककर गमन करते हैं। गरीब और अमीर घरों का विचार नहीं करते। मार्ग में न किसी से बात करते हैं, और न कहीं ठहरते हैं। हँसी आदि नहीं करते। नीच कुलों में नहीं जाते। सूतक आदि दोष से दूषित शुद्धकुलों में भी नहीं जाते। द्वारपाल आदि के द्वारा निषिद्ध घरों में नहीं जाते। जहाँ तक भिक्षार्थी जा सकते हैं वहीं तक जाते हैं। विरोधवाले स्थानों में भी नहीं जाते। दुष्ट, गधे, ऊँट, बैल, हाथी, सर्प आदि को दूर से ही बचा जाते हैं। मदोन्मत्तों के निकट से नहीं जाते। स्नान, विलेपन आदि करती स्त्रियों की ओर नहीं देखते। विनयपूर्वक प्रार्थना किये जाने पर ठहरते हैं। सम्यक् विधिपूर्वक दिये गये प्रासुक आहार को सिद्धभक्तिपूर्वक ग्रहण करते हैं। पाणिरूपी पात्र को छेद रहित करके नाभि के पास रखते हैं। हाथरूपी पात्र में से भोजन नीचे न गिराकर सुर-सुर आदि शब्द न करते हुए भोजन करते हैं। स्त्रियों की ओर किंचित् भी नहीं ताकते। इस प्रकार भोजन करके मुख, हाथ-पैर धोकर शुद्ध जल से भरे कमण्डलु को लेकर चले जाते हैं। धर्म कार्य के बिना किसी के घर नहीं जाते। फिर जिनालय आदि में जाकर प्रत्याख्यान ग्रहण करके प्रतिक्रमण करते हैं।

षडावश्यक—साधु की दिनचर्या में षडावश्यकों का विशिष्ट स्थान है। वे हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

सब में समभाव रखना ही सामायिक है। समस्त सावद्ययोग को त्याग, तीन गुप्तिपूर्वक, पाँचों इन्द्रियों को वश में रखना सामायिक है। जिसकी आत्मा

नियम संयम तप में लीन है उसी के सामायिक है। जो त्रस-स्थावर आदि सभी प्राणियों में समभाव है वही सामायिक है। आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान को त्यागकर धर्मध्यान शुक्लध्यान करना सामायिक है। साधु शुद्ध होकर खड़े होकर अपनी अंजलि में पीछी लेकर एकाग्रमन से सामायिक करता है। उसके पश्चात् चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन करता है कि मुझे उत्तम बोधि प्राप्त हो। यह स्तवन भी खड़े होकर दोनों पैरों के मध्य में चार अंगुल का अन्तर रखकर प्रशान्त मन से किया जाता है।

गुरुओं की वन्दना कई समयों में की जाती है। वन्दना का अर्थ है विनयकर्म। उसे ही कृतिकर्म कहते हैं। सामायिक स्तव पूर्वक चतुर्विंशतिस्तव पर्यन्त जो विधि की जाती है उसे कृतिकर्म कहते हैं। प्रतिक्रमण काल में चार कृतिकर्म, और स्वाध्यायकाल में तीन कृतिकर्म, इस तरह पूर्वाह्न में सात, और अपराह्न में सात, कुल चौदह कृतिकर्म होते हैं। एक कृतिकर्म में दो बार अवनति अर्थात् भूमि स्पर्शपूर्वक नमस्कार, बारह आवर्त और हाथ जोड़कर मस्तक से लगाना होते हैं।

कृत, कारित और अनुमत दोषों की निवृत्ति के लिए जो भावना की जाती है उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। प्रतिक्रमण के छः भेद हैं—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक।

अतिचार के कारण सचित्त, अचित्त, और सचित्ताचित्त द्रव्य के त्याग को तथा तप के लिए प्रासुक द्रव्य से भी निवृत्ति को प्रत्याख्यान कहते हैं। उसके दस भेद हैं—अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिमाणगत, अपरिशेष, अध्वानगत, सहेतुक। 'मूलाचार' (७/१३७-१३९) में सबका स्वरूप बतलाया है। काय अर्थात् शरीर के उत्सर्ग अर्थात् परित्याग को कायोत्सर्ग कहते हैं। दोनों हाथों को नीचे लटकाकर, दोनों पैरों को चार अंगुल के अन्तराल से बराबर में रखते हुए खड़े होकर समस्त अंगों का निश्चल रहना कायोत्सर्ग है।

जिस तप के द्वारा पाप का शोधन किया जाता है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। उसके दस भेद हैं—आलोचना, प्रतिक्रमण, उभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान।

दस कल्प—'मूलाचार' के समयसाराधिकार में तथा 'भगवती आराधना' (गाथा ४२१) में साधु के दस कल्प बतलाये हैं। कल्प सम्यक् आचार को कहते हैं। वे हैं—अचेलकपना, उद्दिष्ट का त्याग, वसतिकर्ता के पिण्डादि का त्याग, राजपिण्ड का त्याग, कृतिकर्म, महाव्रत, पुरुष की ज्येष्ठता, प्रतिक्रमण, एक मास तक ही एक स्थान पर रहना तथा वर्षाकाल में चार मास तक एक स्थान पर रहना।

ये ही दस कल्प श्वेताम्बर परम्परा में हैं। वहाँ उन्हें स्थितिकल्प कहा गया है, क्योंकि इनका पालन साधु के लिए आवश्यक है। अचेलकत्व का अर्थ है वस्त्र रहित नग्न दिगम्बर होना और उसे प्रथम स्थान दिया है। फिर भी श्वेताम्बर-मान्य आवश्यक निर्युक्ति में लिखा है कि चौबीसों तीर्थंकर एक वस्त्र के साथ प्रव्रजित हुए। उसके ऊपर भाष्यकार जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने लिखा है—'सभी जिन भगवान् वज्रऋषभनाराच संहनन के धारी होते हैं। चार ज्ञानवाले और सत्त्व सम्पन्न होते हैं। उनके हस्तपुट छिद्र रहित होते हैं और वे परीषहों को जीतने वाले होते हैं। अतः वस्त्र-पात्र आदि उपकरणों से रहित होने पर भी उन्हें उक्त दोष नहीं लगता। उनके लिए वस्त्र-पात्र संयम का साधन नहीं है। अतः वे उनका ग्रहण नहीं करते। फिर भी सवस्त्र तीर्थ का उपदेश करने के लिए इन्द्र के द्वारा अर्पित एक देवदूष्य लेकर दीक्षा धारण करते हैं। जब वह वस्त्र गिर जाता है तो सभी अचेल अर्थात् वस्त्ररहित हो जाते हैं। 'उत्तराध्ययन' में केशी गौतम संवाद में केशी गौतम से प्रश्न करते हुए कहते हैं—भगवान् महावीर ने अचेलक धर्म का उपदेश दिया और भगवान् पार्श्वनाथ ने सान्तरोत्तर धर्म का उपदेश दिया सो क्या कारण है?

हरिभद्र सूरि ने 'पञ्चाशक' में कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का धर्म अचेलक था। किन्तु मध्य के बाईस तीर्थंकरों का धर्म सचेल और अचेल था।

श्वेताम्बरों के आचार के प्रमुख आगम 'आचारांग' में लिखा है—

'लोक में जितने परिग्रहवाले हैं उनका परिग्रह अल्प हो या बहुत, सूक्ष्म हो या स्थूल, सचेतन हो या अचेतन, वे सब इन परिग्रहवाले गृहस्थों में ही अन्तर्भूत होते हैं। इन परिग्रहवालों के लिए यह परिग्रह महाभय का कारण है। संसार की दशा को जानकर इसे छोड़ो। जो इस परिग्रह को जानता भी नहीं है उसे परिग्रह से होनेवाला महाभय नहीं होता। (५/१५० सूत्र)

उसी के छठे अध्ययन के दूसरे उपदेश (सूत्र १८२) में कहा है—'इसी प्रकार सुआख्यात धर्मवाला और आचार का परिपालक जो मुनि कर्मबन्ध के कारण कर्मों को छोड़कर अचेल अर्थात् वस्त्र रहित रहता है उस भिक्षु को यह चिन्ता नहीं सताती—'मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है, वस्त्र मागूंगा, फटे वस्त्रों को सीऊँगा, यदि वस्त्र छोटा हुआ तो उसमें अन्य वस्त्र को जोड़कर बड़ा करूँगा, बड़ा हुआ तो फाड़कर छोटा करूँगा तब उसे पहनूंगा, ओढ़ूंगा।' अथवा भ्रमण करते हुए उस अचेल भिक्षु को तृणस्पर्श होता है, ठण्ड लगती है, गर्मी लगती है, डाँस-मच्छर काटते हैं, अचेलकपने में लाघव मानता हुआ वह भिक्षु परस्पर में अविरुद्ध अनेक प्रकार के परिषहों को सहता है। ऐसा करने से वह तप को भली प्रकार धारण करता है। जैसा भगवान् ने कहा है उसे ही सम्यक् जानो।'

इस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में भी अचेलकता की ही सराहना पायी जाती है। किन्तु उत्तर काल में अचेलकता का मौलिक अर्थ नग्नता छोड़कर टीकाकारों ने अल्पचेल या अल्पमूल्य चेल आदि करके उसे जड़मूल से समाप्त कर दिया और इस तरह, भगवान महावीर का अचेलक धर्म दो भागों में विभक्त हो गया। दिगम्बर परम्परा में मौलिक अर्थ ही मान्य रहा। अस्तु।

स्त्रियों के लिए आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रव्रज्या का निषेध किया है। उनके केवल औपचारिक महाव्रत होते हैं किन्तु चर्या मुनि के समान होती है। उनका वस्त्र तथा वेश विकार रहित होता है। तप, संयम, स्वाध्याय में वे अपना समय बिताती हैं। एक साथ दो या तीन रहती हैं। बिना प्रयोजन किसी के घर नहीं जातीं। मुनियों के पैर धोना, तेल लगाना, पगचम्पी आदि नहीं करतीं। भिक्षा के लिए तीन या पाँच या सात आर्यिकाएँ वृद्धाओं के साथ जाती हैं। आचार्य को पाँच हाथ की दूरी से, उपाध्याय को छह हाथ की दूरी से और साधु को सात हाथ की दूरी से गवासन पूर्वक नमस्कार करती हैं।

इस प्रकार दि. जैन साधु-मार्ग बहुत कठिन है। श्रमणों की तरह श्रमणाभास भी होते हैं और आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने प्राभृतों में उनकी तीखी आलोचना की है। कहा है—'भाव से नग्न होना चाहिए। केवल बाह्य नग्नवेश से क्या लाभ? भाव रहित नग्नपना कार्यकारी नहीं है ऐसा जिन भगवान ने कहा है। नारकी तिर्यंच आदि सभी जीव बाहर से नग्न होते हैं किन्तु भाव से नग्न न होने से भावमुनि नहीं होते। इसलिए, हे मुनि, अन्तरंग भावदोष से बिल्कुल शुद्ध होकर तू जिनलिंग को धारण कर। जो मुनि धर्म से रहित है, दोषों का घर है, ईख के फूल के समान फल रहित और निर्गुण है। वह नटश्रमण है अर्थात् नट की तरह उसने मुनि का वेष धारण कर लिया है।

अतः दि. जैन साधु की दीक्षा बहुत ही सोच-समझ कर लेनी और देनी चाहिए। गृहस्थाश्रम में रहकर जिसने श्रावकाचार का भी विधिवत् पालन नहीं किया उसे महाव्रत की दीक्षा देना गर्दभ के ऊपर बैल का बोझा लादने के तुल्य है। सच्चा निर्मोही गृहस्थ भी मोक्षमार्गी होता है और बाहर से नग्न किन्तु अन्दर से मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

'गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः॥

अर्थात् मोहरहित गृहस्थ मोक्षमार्गी है, मोही मुनि मोक्षमार्गी नहीं है। मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है।

मोक्ष और मोक्ष-मार्ग

'तत्त्वार्थ सूत्र' के दसवें अध्याय में कहा है—नवीन बन्ध के कारणों का अभाव होने से और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा होने से समस्त द्रव्य कर्म और भावकर्मों से आत्यन्तिक छुटकारा ही मोक्ष है। वह मोक्ष अभावरूप नहीं है। अकलंकदेव ने अपने 'सिद्धिविनिश्चय' में कहा है—

> आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
> नाभावं नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम् ॥७।१९॥

अर्थात् आत्म स्वरूप के लाभ का नाम मोक्ष है। जो जीव के अन्तरंग मल के क्षय से प्राप्त होता है। मोक्ष में न तो आत्मा का अभाव होता है जैसा बौद्ध मानते हैं, न वह ज्ञान से शून्य अचैतन्य स्वरूप है और न वह चैतन्य निरर्थक होता है। क्योंकि मुक्तात्मा सर्व चराचर जगत् के ज्ञाता द्रष्टा मात्र रहते हैं।

यहाँ यह प्रश्न पैदा हो सकता है कि अनादि कर्मों का नाश कैसे सम्भव है? 'तत्त्वार्थवार्तिक' में मोक्ष के प्रकरण में यह प्रश्न किया गया है कि जब कर्मबन्ध की परम्परा अनादि है तो उसका अन्त नहीं होना चाहिए। उत्तर में कहा है—जैसे बीज और वृक्ष की सन्तान अनादि होने पर भी अन्तिम बीज को आग से जला देने पर उससे अंकुर उत्पन्न नहीं होता और इस प्रकार उसका अन्त देखा जाता है, उसी प्रकार मिथ्यादर्शन आदि प्रत्यय और कर्मबन्ध सन्तान के अनादि होने पर भी ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा कर्मरूपी बीज के जला दिये जाने पर उससे भवरूपी अंकुर उत्पन्न नहीं होने से मोक्ष होता है।

इसी प्रकार 'कषायपाहुड' भाग एक की जयधवला टीका में कहा है—'कर्म भी सहेतुक है, अन्यथा उसका विनाश नहीं हो सकता। और, कर्मों का विनाश असिद्ध नहीं है; क्योंकि कर्मों के कार्यभूत बाल, यौवन, राजा आदि पर्यायों का विनाश कर्मों के विनाश के बिना सम्भव नहीं है। कर्म अकृत्रिम नहीं है क्योंकि अकृत्रिम पदार्थ का विनाश नहीं होता।

जैसे कर्मों के कारण जीव में अशुद्धता आती है वैसे ही कर्मबन्धन नष्ट होने पर जीव मुक्तिस्थान की ओर ऊर्ध्व गमन करता है। ऊर्ध्व गमन जीव का स्वभाव है इसलिए कर्मबन्धन कट जाने पर वह ऊपर की ओर ही जाता है, अन्य दिशाओं में नहीं जाता; ऊपर लोक के अन्त तक जाकर वह स्थिर हो जाता है, आगे नहीं जाता; क्योंकि गति में निमित्त धर्मद्रव्य लोकान्त तक ही रहता है। उसका आकार जिस शरीर से मुक्त हुआ है, तदाकार किंचित् न्यून छाया की तरह रहता है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है।

निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग

'तत्त्वार्थसूत्र' आदि सिद्धान्त ग्रन्थों में मोक्षमार्गरूप से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का कथन है। इन्हें ही रत्नत्रय कहते हैं। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर अध्यात्म ग्रन्थों में व्यवहार मोक्षमार्ग और निश्चय मोक्षमार्ग के साथ व्यवहार रत्नत्रय और निश्चय रत्नत्रय का भी कथन है। दूसरे शब्दों में, व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र यह व्यवहारमोक्षमार्ग है और निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र यह निश्चय मोक्षमार्ग है। तब क्या सिद्धान्त के अनुसार मोक्ष का एक मार्ग है और अध्यात्म के अनुसार उसके दो मार्ग हैं ऐसा सन्देह पाठक को पैदा हो सकता है किन्तु यह ठीक नहीं है। सिद्धान्त और अध्यात्म दोनों के अनुसार मोक्ष का एक ही मार्ग है। किन्तु दृष्टिभेद से या नयविवक्षा से उसे दो रूप कहा है।

'तत्त्वार्थसार' के अन्त में अध्यात्म के पुरस्कर्ता आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—निश्चय और व्यवहार की अपेक्षा मोक्षमार्ग दो प्रकार का है। उनमें से पहला निश्चय मोक्षमार्ग साध्यरूप है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधनरूप है। अपनी शुद्ध आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा रूप चारित्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप निश्चय मोक्षमार्ग है और पर-पदार्थों का—सात तत्त्व या नौ पदार्थों का श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा रूप चारित्र सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप व्यवहार मोक्षमार्ग है।

इसी प्रकार पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है और द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सदा एक अद्वितीय ज्ञानी आत्मा ही मोक्षमार्ग है। 'समयसार' में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है—

> दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
> ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥१६॥

अर्थात् साधु को नित्य सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की आराधना करना चाहिए। किन्तु निश्चय से उन तीनों को ही आत्मा जानो।

इसी को 'द्रव्यसंग्रह' में इस प्रकार कहा है—

> रयणत्तयं न वट्टइ अप्पाणं मुयित्तु अण्ण दवियम्हि।
> तम्हा तत्तिय मइओ होदि हु मोक्खस्स कारणं आदा ॥४०॥

अर्थात् आत्मा को छोड़कर अन्य द्रव्य में रत्नत्रय नहीं रहता। अतः रत्नत्रयमय आत्मा ही मोक्ष का कारण है।

अतः व्यवहार मोक्षमार्ग भेद रत्नत्रय स्वरूप है। आत्मा से रत्नत्रय में भेद करके उनकी उपासना प्रारम्भ में की जाती है। निश्चय मोक्षमार्ग तो अभेद रत्नत्रय स्वरूप है। पहला साधन है दूसरा साध्य है। वास्तव में साधन और साध्य

दो नहीं हैं बल्कि एक ही आत्मा साधन और साध्य के भेद से दो रूप हो रहा है। इसीसे 'समयसारकलश' में कहा है—

> एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
> साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥१५॥

अर्थात् मोक्ष के इच्छुक साधुजनों को इस एक ज्ञानघनरूप आत्मा की, साध्य और साधन के भेद से, दो रूप से उपासना करना चाहिए।

इसी से निश्चय से आत्मा के श्रद्धान, ज्ञान और आत्मा में स्थिति को निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र कहा है। इसी प्रकार आत्मा के श्रद्धानादि में सहायक देव, शास्त्र और पदार्थों के श्रद्धानादि को व्यवहार सम्यग्दर्शन आदि कहा है। आत्माश्रित कथन को निश्चय और पराश्रित कथन को व्यवहार कहते हैं यद्यपि व्यवहार मोक्षमार्गरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन, व्यवहार सम्यग्ज्ञान और व्यवहार सम्यक्चारित्र का विषय आत्मा से भिन्न है। 'पंचास्तिकाय' में कहा भी है—

> सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
> चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ॥१७७॥

इसकी टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने कहा है—

'कालद्रव्य सहित पाँच अस्तिकाय और नौ पदार्थ भाव हैं। मिथ्यादर्शन के उदय से जो इनका अश्रद्धान है उसके अभावपूर्वक शुद्ध चैतन्यरूप जो श्रद्धान भाव है वह सम्यग्दर्शन है। वह आत्मतत्त्व के निश्चय का बीज है। जैसे नाव से यात्रा करने पर वृक्षादि चलते हुए प्रतीत होते हैं वैसे ही मिथ्यात्व के उदय में उक्त पदार्थ विपरीत प्रतीत होते हैं। मिथ्यात्व का उदय छूट जाने पर उक्त पदार्थों का यथार्थ बोध होना सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान कुछ अंशों में ज्ञानचेतनाप्रधान आत्मतत्त्व की उपलब्धि का बीज है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के सद्भाव के कारण समस्त अमार्गों से छूटकर जो स्वतत्त्व में विशेषरूप से आरूढ़ हुए हैं उन्हें इन्द्रिय और मन के विषयभूत पदार्थों में रागद्वेषपूर्वक विकार का अभाव होने से जो निर्विकार ज्ञान-स्वभाव समभाव होता है वह सम्यक्चारित्र है। यह सम्यक्चारित्र वर्तमान में और आगामी काल में भी सुन्दर होता है तथा अपुनर्जन्म के महान सुख का बीज है।

आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त व्याख्यान से निश्चय और व्यवहार में साध्य-साधन भाव का स्पष्टीकरण हो जाता है। उन्होंने दो दृष्टान्त दिये हैं—जैसे धोबी मलिन वस्त्र को पत्थर पर पछाड़कर निर्मल जल से धोकर निर्मल करता है। या जैसे स्वर्णपाषाण अग्नि के संयोग से स्वर्णरूप परिणत होता है वैसे ही व्यवहारी भी

तपस्या आदि के द्वारा आत्मा की शुद्धि करता है। यहाँ व्यवहार में तो यही कहा जाता है कि साबुन-जल के योग से वस्त्र उजला हुआ या अग्नि के योग से स्वर्ण-पाषाण स्वर्ण हुआ। किन्तु यथार्थ में उजलापन वस्त्र में से ही प्रकट हुआ है। स्वर्ण-पाषाण में विद्यमान स्वर्ण ही स्वर्णरूप परिणत हुआ है। फिर भी व्यवहार में स्वर्ण-पाषाण को स्वर्ण का साधन कहा जाता है। उसी तरह व्यवहार सम्यग्-दर्शनादि से आत्मा की ओर जो रुझान है जीव का, वही मोक्ष का कारण होता है। अतः सम्यग्दर्शनादि तीनों ही चैतन्य की परिणति हैं। 'समयसार कलश' में कहा गया है—

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मकः
तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्यायेच्च तं चेतसि।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्
सोऽवश्यं समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ॥२४०॥

अर्थात् दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप यही एक मोक्षमार्ग है। जो पुरुष उसी में स्थित रहता है, उसी का निरन्तर ध्यान करता है, उसी में निरन्तर विहरता है, अन्य द्रव्यों का स्पर्श भी नहीं करता, वह अवश्य ही नित्य उदित रहनेवाले समय (आत्मा) के सार को शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है अर्थात् उसे शीघ्र ही मोक्षप्राप्ति होती है।

१४. सिद्धान्त विषयक शास्त्रीय शंका-समाधान

षट्खण्डागम सिद्धान्त की टीका श्री धवला में वीरसेन स्वामी ने सिद्धान्त-विषयक अनेक चर्चाओं को लेकर महत्त्वपूर्ण शङ्का-समाधान निबद्ध किये हैं। सिद्धान्तप्रेमी शास्त्रस्वाध्यायिओं के लिए यहाँ उन्हें दिया जाता है। 'षट्खण्डागम' का प्रथम खण्ड जीवस्थान है। इसमें सत्, संख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर आदि आठ अनुयोगों के द्वारा जीव का कथन है। इसी को आधार बनाकर सिद्धान्त-चक्रवर्ती आचार्य नेमिचन्द्र ने 'गोम्मटसार' जीवकाण्ड की रचना की है।

१. सत्-प्ररूपणा (१-१)

१. गति मार्गणा

शंका—मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नारकीयों का सत्त्व भले ही रहे क्योंकि नारकियों में उत्पत्ति का निमित्त मिथ्यादर्शन पाया जाता है किन्तु दूसरे गुणस्थान में नारकियों का सत्त्व नहीं होना चाहिए क्योंकि अन्य गुणस्थानवाले नारकियों में मिथ्यात्व नहीं माना गया है?

समाधान—ऐसा नहीं है; क्योंकि नरकायु के बन्ध के बिना मिथ्यादर्शन आदि में नरक में उत्पन्न कराने की सामर्थ्य नहीं है। और, पहले बाँधी हुई आयु का पीछे से उत्पन्न हुए सम्यग्दर्शन से सर्वथा विनाश नहीं होता। तथा जिन्होंने नर-कायु का बन्ध कर लिया है ऐसे जीव जैसे संयम धारण नहीं कर सकते उसी प्रकार सम्यक्त्व को भी प्राप्त नहीं कर पाते, ऐसी बात नहीं है।

शंका—जिन जीवों ने पहले नरकायु का बन्ध किया और पीछे से सम्यक्त्व प्राप्त किया ऐसे बद्धायुष्क सम्यग्दृष्टि नरक में उत्पन्न हो सकते हैं अतः नरक में

असंयत सम्यग्दृष्टि पाये जा सकते हैं। परन्तु सासादन गुणस्थानवर्ती जीव मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते। अतः नरक में सासादन गुणस्थानवालों का सत्त्व कैसे पाया जा सकता है ?

समाधान—जैसे नरक गति में अपर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान नहीं होता उस प्रकार पर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान के होने में कोई विरोध नहीं है।

शंका—नरक गति में अपर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान होने का विरोध क्यों है ?

समाधान—ऐसा स्वभाव से ही है और स्वभाव में तर्क नहीं चलता।

शंका—यदि नरक गति में अपर्याप्त अवस्था के साथ सासादन गुणस्थान का विरोध है तो अन्य गतियों में भी अपर्याप्त अवस्था में सासादन गुणस्थान नहीं होना चाहिए ?

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य गतियों में अपर्याप्त अवस्था के साथ सासादन गुणस्थान का विरोध नहीं है। हाँ, तीसरे सम्यग्-मिथ्यात्व गुणस्थान का सदा ही सभी गतियों के अपर्याप्तकाल के साथ विरोध है। क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में सम्यग्-मिथ्यात्व गुणस्थान का अस्तित्व आगम में नहीं कहा है।

शंका—तो फिर नरक गति में सम्यग्दर्शन भी पर्याप्त अवस्था में मानना चाहिए।

समाधान—यह तो हमें मान्य ही है क्योंकि सातों नरकों में पर्याप्त अवस्था में सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो सकता है।

शंका—तो फिर जैसे सासादन सम्यग्दृष्टि मरकर नरक में उत्पन्न नहीं होते उसी प्रकार सम्यग्दृष्टियों की भी मरने के बाद नरक में उत्पत्ति नहीं होना चाहिए ?

समाधान—नहीं, क्योंकि सम्यग्दृष्टियों के मरकर प्रथम नरक में उत्पन्न होने का निषेध नहीं है।

शंका—जैसे सम्यग्दृष्टि मरकर प्रथम नरक में उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार दूसरे आदि नरकों में क्यों नहीं उत्पन्न होते ?

समाधान—दूसरे आदि नरकों में अपर्याप्त अवस्था के साथ सम्यग्दर्शन के सत्त्व का विरोध है।

शंका—तिर्यंचनियों के अपर्याप्त अवस्था में सम्यग्-मिथ्यादृष्टि और संयता-

संयत इन दो गुणस्थानों का अभाव रहा, क्योंकि ये दोनों गुणस्थान पर्याप्त अवस्था में ही होते हैं। परन्तु उनमें अपर्याप्त अवस्था में असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अभाव क्यों है ?

समाधान—तिर्यंचनियों में सम्यग्दृष्टि मरकर जन्म नहीं लेता। आगम में कहा है—सम्यग्दृष्टि जीव प्रथम पृथिवी के बिना नीचे की छह पृथिवियों में, भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी देवों में और सब प्रकार की स्त्रियों में मरकर उत्पन्न नहीं होता।

२. इन्द्रिय मार्गणा

शंका—जिस प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय का क्षयोपशम सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में होता है उसी प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों का क्षयोपशम क्या सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में होता है या प्रतिनियत आत्म प्रदेशों में ? सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में क्षयोपशम तो माना नहीं जा सकता; क्योंकि ऐसा मानने पर आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेशों से रूपादि का ज्ञान होने का प्रसंग प्राप्त होगा। यदि कहोगे कि आत्मा के सम्पूर्ण अवयवों से रूपादि का ज्ञान होता है सो यह कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा नहीं पाया जाता। इसलिए चक्षु आदि इन्द्रियों का सर्वांग में क्षयोपशम तो माना नहीं जा सकता। आत्मा के प्रतिनियत प्रदेशों में भी उनका क्षयोपशम नहीं माना जा सकता; क्योंकि ऐसा मानने पर आगम में जो लिखा है कि 'आत्मप्रदेश चल भी हैं, अचल भी हैं और चलाचल भी हैं', उसके अनुसार जीवप्रदेशों की भ्रमणरूप अवस्था में सम्पूर्ण जीवों को अन्धपने का प्रसंग आता है ?

समाधान—उक्त दोष ठीक नहीं है; क्योंकि सभी इन्द्रियों का क्षयोपशम जीव के सभी प्रदेशों में स्वीकार किया गया है। परन्तु ऐसा होने पर भी जीव के समस्त प्रदेशों से रूपादि के ज्ञान होने का प्रसंग नहीं आता, क्योंकि रूपादि को ग्रहण करने में उसकी सहायक रूप बाह्य निर्वृत्ति सम्पूर्ण प्रदेशों में नहीं पायी जाती।

शंका—पर्याप्ति और प्राण में क्या अन्तर है ?

समाधान—आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मनरूप शक्तियों की पूर्णता के कारण को पर्याप्ति कहते हैं। जिनके द्वारा आत्मा जीवन संज्ञा को प्राप्त होता है उन्हें प्राण कहते हैं। ये प्राण पाँच इन्द्रियाँ, मनोबल, वचनबल, कायबल, श्वासोच्छ्वास और आयु के भेद से दस हैं।

शंका—पाँचों इन्द्रियाँ, आयु और कायबल को प्राण कहना तो उचित है क्योंकि वे जन्म से लेकर मरण पर्यन्त पाये जाते हैं और उनमें से किसी एक का अभाव होने पर मरण भी देखा जाता है। परन्तु उच्छ्वास, मनोबल और वचन-

-बल को प्राण कहना उचित नहीं है। क्योंकि इनके बिना भी अपर्याप्ति अवस्था में जीवन पाया जाता है?

समाधान—उच्छ्वास, मनोबल और वचनबल के बिना अपर्याप्ति अवस्था के पश्चात् पर्याप्ति अवस्था में जीवन नहीं पाया जाता इसलिए उन्हें प्राण मानना उचित है।

शंका—पर्याप्ति और प्राण में केवल नामभेद है। कार्यभेद नहीं है?

समाधान—दोनों में कार्य और कारण के भेद से भेद पाया जाता है। पर्याप्तियों में आयु का सद्भाव न होने से और मनोबल, वचनबल तथा उच्छ्वास प्राणों के अपर्याप्तिकाल में नहीं पाये जाने से पर्याप्ति और प्राण में भेद समझना चाहिए।

शंका—ये पर्याप्तियां भी अपर्याप्तिकाल में नहीं पायी जातीं इसलिए अपर्याप्तिकाल में इनका सद्भाव नहीं रहेगा।

समाधान—अपर्याप्तिकाल में अपर्याप्त रूप से उनका सद्भाव रहता है।

शंका—अपर्याप्तिरूप का क्या अभिप्राय है?

समाधान—पर्याप्तियों की अपूर्णता को अपर्याप्ति कहते हैं। इसलिए पर्याप्ति, अपर्याप्ति और प्राण इनमें भेद है। अथवा इन्द्रियादि में विद्यमान जीवन के कारणपने की अपेक्षा न करके इन्द्रियादि रूप शक्ति की पूर्णता मात्र को पर्याप्ति कहते हैं और जो जीवन में कारण हैं वे प्राण हैं। इस प्रकार दोनों में भेद है।

शंका—एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान भी सुना जाता है। यहाँ एक ही गुणस्थान क्यों कहा?

समाधान—इस 'षट्खण्डागम' ग्रन्थ में उनके सासादन गुणस्थान नहीं माना है।

शंका—इन दोनों परस्पर विरोधी कथनों को सूत्ररूप कैसे माना जा सकता हैं?

समाधान—दोनों वचन सूत्ररूप नहीं हो सकते, उन दोनों में से कोई एक ही सूत्ररूप हो सकता है।

शंका—उन दोनों में कौन वचन सूत्ररूप है यह कैसे जाना जाये?

समाधान—उपदेश के बिना यह जानना कठिन है। इसलिए दोनों ही वचनों का संग्रह करना चाहिए।

शंका—दोनों वचनों का संग्रह करनेवाला संशय मिथ्यादृष्टि क्यों नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि उसके यह सूत्रोक्त ही है ऐसा श्रद्धान पाया जाता है इसलिए उसके सन्देह का अभाव है।

३. काय मार्गणा

शंका—बादरनिगोदों से प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति आगम में सुनी जाती है उसका अन्तर्भाव वनस्पति के किस भेद में होता है?

समाधान—प्रत्येक शरीर वनस्पति में उसका अन्तर्भाव होता है।

शंका—बादरनिगोदों से प्रतिष्ठित वनस्पतियाँ कौन हैं?

समाधान—थूहर, अदरक, मूली आदि वनस्पतियाँ बादरनिगोदों से प्रतिष्ठित होती हैं।

४. योग मार्गणा

शंका—मनोयोग का क्या स्वरूप है?

समाधान—भावमन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं। उसी प्रकार वचन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे वचनयोग कहते हैं, और काय की क्रिया की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे काययोग कहते हैं।

शंका—तीनों योगों की उत्पत्ति युगपत् होती है या नहीं?

समाधान—युगपत् नहीं होती, क्योंकि एक आत्मा के तीनों योगों की उत्पत्ति युगपत् मानने पर योग के निरोध का प्रसंग आता है।

शंका—कहीं पर मन-वचन-काय की प्रवृत्तियाँ युगपत् देखी जाती हैं।

समाधान—मन-वचन-काय की युगपत् प्रवृत्ति कहीं पर देखी जाती है तो हो, किन्तु मन-वचन-काय की प्रवृत्ति के लिए जो प्रयत्न होते हैं वे युगपत् नहीं होते, क्योंकि आगम में ऐसा उपदेश नहीं है।

शंका—प्रयत्न बुद्धिपूर्वक होता है और बुद्धि मनोयोगपूर्वक होती है ऐसी स्थिति में मनोयोग शेष योगों का अविनाभावी सिद्ध होता है।

समाधान—नहीं, क्योंकि कार्य और कारण की एक काल में उत्पत्ति नहीं हो सकती।

अतः मन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

शंका—पूर्व प्रयोग से प्रयत्न के बिना भी मन की प्रवृत्ति देखी जाती है।

समाधान—यदि प्रयत्न के बिना भी मन की प्रवृत्ति होती है तो होवे, किन्तु

यहाँ ऐसे मन से होनेवाले योग को मनोयोग नहीं कहा है अपितु मन के निमित्त से होनेवाले प्रयत्न विशेष को योग कहा है।

शंका—केवली जिन के सत्यमनोयोग का सत्त्व तो समुचित है क्योंकि उनमें वस्तु के यथार्थज्ञान का सद्भाव है। परन्तु उनके असत्य मृषा मनोयोग का सद्भाव नहीं होना चाहिए; क्योंकि उनमें संशय और अनध्यवसाय रूप ज्ञान नहीं पाया जाता।

समाधान—नहीं, संशय और अनध्यवसाय के कारण रूप वचन का कारण मन होने से उनमें भी अनुभय रूप मनोयोग होता है।

शंका—केवली के वचन संशय और अनध्यवसाय को उत्पन्न करनेवाले कैसे हैं?

समाधान—केवली के ज्ञान के विषयभूत पदार्थ तो अनन्त होते हैं और श्रोताओं के आवरण कर्म का क्षयोपशम विशेष होता नहीं है। इससे केवली के वचन सुनकर श्रोताओं को संशय और अनध्यवसाय हो सकते हैं।

शंका—तीर्थंकर के वचन अनक्षर रूप होने से ध्वनिरूप हैं और इसलिए वे एकरूप हैं। अत: एकरूप होने से वे सत्य और अनुभय दो रूप नहीं हो सकते।

समाधान—नहीं, क्योंकि केवली के वचन में 'स्यात्' इत्यादि रूप से अनुभय रूप वचन का सद्भाव पाया जाता है अत: केवली की ध्वनि अनक्षरात्मक है यह बात असिद्ध है।

शंका—केवली की ध्वनि को साक्षर मानने पर उनके वचन एक निश्चित भाषारूप ही होंगे, अशेष भाषारूप नहीं हो सकते।

समाधान—नहीं, क्योंकि केवली की ध्वनि वर्णात्मक और अनेक पंक्तियों के समूहरूप होती है तथा प्रत्येक श्रोता को अलग-अलग सुनायी देती है। ऐसी ध्वनि के समस्त भाषारूप होने में कोई विरोध नहीं है।

शंका—यदि वह अनेक भाषारूप है तो वह ध्वनिरूप कैसे है?

समाधान—केवली की ध्वनि अमुक भाषारूप ही है ऐसा निर्देश करना अशक्य होने से उसका ध्वनिरूप होना सिद्ध होता है।

शंका—केवली तो अतीन्द्रिय ज्ञानी हैं अत: उनके मन नहीं है।

समाधान—उनके द्रव्यमन का सद्भाव होता है।

शंका—केवली के द्रव्यमन का सद्भाव भले ही हो, किन्तु उसका कार्य तो नहीं है?

समाधान—द्रव्यमन का कार्य क्षायोपशमिक ज्ञान केवली के नहीं है। किन्तु उसको उत्पन्न करने में प्रयत्न का सद्भाव तो है ही क्योंकि प्रयत्न कोई प्रतिबन्धक

कारण नहीं है। अतः उस प्रयत्न से जो आत्मा का योग होता है वही मनोयोग है।

शंका—केवली के द्रव्यमन को उत्पन्न करने में प्रयत्न के होते हुए भी वह अपना कार्य क्यों नहीं करता?

समाधान—क्योंकि उसके सहकारी कारण क्षयोपशम का केवली में अभाव है अतः उनके मनोनिमित्तिक ज्ञान नहीं होता।

शंका—मन के अभाव में उनके सत्य और अनुभयरूप वचनों की उत्पत्ति कैसे होती है?

समाधान—केवली के दोनों प्रकार के वचनों की उत्पत्ति का विधान उपचार से जानना।

शंका—अनुभय रूप मन के निमित्त से जो वचन होते हैं उन्हें अनुभय वचन-योग कहते हैं। ऐसी हालत में मन रहित दोइन्द्रिय आदि जीवों के अनुभय वचन कैसे हो सकते हैं?

समाधान—ऐसा एकान्त नहीं है कि सब वचन मन से ही उत्पन्न होते हैं। यदि ऐसा होता तो मन रहित केवली के वचन का अभाव प्राप्त होता।

शंका—विकलेन्द्रियों के मन के विना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती और ज्ञान के विना वचन की प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

समाधान—मन से ही ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा एकान्त नहीं है। यदि ऐसा होता तो शेष इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती।

शंका—मन सहित जीवों में तो ज्ञान की उत्पत्ति मनोयोग से ही होती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर केवलज्ञान से व्यभिचार आता है।

शंका—तब 'मनोयोग से वचन उत्पन्न होते हैं' यह कथन कैसे घटित होता है?

समाधान—'मनोयोग से वचन उत्पन्न होते हैं,' यहाँ उपचार से मानस ज्ञान को मन संज्ञा देकर कथन किया गया है।

शंका—विकलेन्द्रिय के वचन अनुभय रूप कैसे हैं?

समाधान—अनध्यवसाय रूप ज्ञान का कारण होने से विकलेन्द्रिय के वचनों को अनुभयरूप कहा है।

शंका—विकलेन्द्रिय के वचनों में ध्वनिविषयक अध्यवसाय पाया जाता है तब उसे अनध्यवसाय का कारण क्यों कहा जाता है?

समाधान—यहाँ अनध्यवसाय से वक्ता के अभिप्राय विषयक अध्यवसाय का अभाव विवक्षित है।

शंका—क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान में कषाय क्षीण हो जाती है तब वहाँ असत्य वचन कैसे संभव है ?

समाधान—असत्यवचन का कारण अज्ञान बारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है इस अपेक्षा से वहाँ असत्यवचन का सद्भाव कहा है। इसी से वहाँ सत्यमृषा वचन भी सम्भव है।

शंका—क्षीणकषाय तो वचनगुप्ति पालते हैं तब वहाँ वचनयोग कैसे है ?

समाधान—वहाँ भी अन्तर्जल्प के होने में कोई विरोध नहीं है।

शंका—केवलियों के समुद्घात सहेतुक होता है या अहेतुक ? अहेतुक मानने पर सभी केवलियों को समुद्घात करने के अनन्तर ही मोक्ष प्राप्ति का प्रसंग प्राप्त होता है। और वैसा मानने पर लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की वर्ष-पृथक्त्व के अनन्तर बीस संख्या होती है यह नियम नहीं बन सकता। हेतु का अभाव होने से सहेतुक भी नहीं है। यदि कहोगे कि तीन अघातिया कर्मों की स्थिति से आयु-कर्म की स्थिति की असमानता ही समुद्घात का कारण है तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि क्षीणकषाय गुणस्थान की चरम अवस्था में सम्पूर्ण कर्म समान नहीं होते। अतः सभी केवलियों के समुद्घात का प्रसंग आ जायेगा ?

समाधान—आचार्य यतिवृषभ के उपदेशानुसार, क्षीणकषाय गुणस्थान के अन्तिम समय में सम्पूर्ण अघातिया कर्मों की स्थिति समान न होने से सभी केवली समुद्घात करके ही मुक्ति प्राप्त करते हैं; परन्तु जिन आचार्यों के मतानुसार लोकपूरण समुद्घात करने वाले केवलियों की बीस संख्या का नियम है उनके मतानुसार कितने ही केवली समुद्घात नहीं करते।

शंका—कौन से केवली समुद्घात नहीं करते ?

समाधान—जिनके संसार में रहने का काल वेदनीय आदि तीन कर्मों की स्थिति के समान है वे समुद्घात नहीं करते।

शंका—अनिवृत्ति आदि परिणामों के समान रहने पर कर्मों की स्थितियों में विषमता क्यों होती है ?

समाधान—व्यक्ति की स्थिति के घात के कारणभूत अनिवृत्ति परिणामों के समान होते हुए भी संसार में रहने की स्थिति सबकी समान नहीं होती।

शंका—संसार के विच्छेद का क्या कारण है ?

समाधान—द्वादशांग का ज्ञान, उनमें तीव्र भक्ति, केवलि समुद्घात और अनिवृत्ति परिणाम ये सब संसार के विच्छेद के कारण हैं। किन्तु ये सब कारण सब जीवों में सम्भव नहीं होते। इसी से जीवों का संसार के विच्छेद के लिए श्रेणि पर आरोहण करना देखा जाता है। उस समय आयुकर्म और शेष तीन कर्मों की

स्थितियाँ समान नहीं होती। कुछ जीव तो समुद्घात के बिना ही अन्तर्मुहूर्त के द्वारा पल्योपम के असंख्यातवें भाग और संख्यात आवली प्रमाण स्थितिकाण्डकों का निपातन करते हुए आयु के समान शेष कर्मों को कर लेते हैं। और, अन्य कुछ जीव समुद्घात के द्वारा ऐसा करते हैं। यह संसार-घात पहले से केवली में सम्भव नहीं होता, क्योंकि स्थितिकाण्डक घात की तरह सभी जीवों के समान परिणाम पाये जाते हैं।

शंका—सभी केवलियों के भी समान परिणाम होते हैं अतः उनके परिणामों में अतिशय का अभाव होने से पीछे भी संसार का घात नहीं होना चाहिए?

समाधान—नहीं, क्योंकि वीतरागरूप परिणामों के समान होते हुए भी अन्तर्मुहूर्त आयु की अपेक्षा करके आत्मा से उत्पन्न अन्य परिणामों से संसार का घात होता है।

शंका—अन्य आचार्यों के द्वारा नहीं व्याख्यान किये गये इस अर्थ को कहने वाले आगमविरोधी क्यों नहीं है?

समाधान—नहीं, क्योंकि वर्षपृथक्त्व का अन्तराल कहने वाले आगम को मानने वाले आचार्यों का ही पूर्वोक्त कथन से विरोध आता है।

शंका—

'छम्मासाउय सेसे उप्पण्णं जस्स केवलं णाणं।
स समुग्घाओ सिज्झइ सेसा भज्जा समुग्घाए॥'

अर्थात् छह मास प्रमाण आयुकर्म के शेष रहने पर जिसको केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है वह समुद्घात करके ही मुक्त होता है। शेष जीव समुद्घात करते भी हैं और नहीं भी करते। इस गाथा का उपदेश क्यों नहीं स्वीकार किया?

समाधान—नहीं, क्योंकि इस प्रकार के विकल्प में कोई कारण नहीं पाया जाता 'जिन जीवों के नाम, गोत्र और वेदनीयकर्म की स्थिति आयुकर्म के समान होती है वे समुद्घात किये बिना मुक्त होते हैं और अन्य जीव समुद्घात करके ही मुक्त होते हैं।'

यह कथन किन्हीं जीवों के समुद्घात करने और किन्हीं के समुद्घात न करने में कारण नहीं हो सकता; क्योंकि सब जीवों में समान अनिवृत्तिपरिणामों के द्वारा घात को प्राप्त स्थितियों के आयु के समान होने में विरोध है। तथा क्षीणकषाय के अन्तिम समय में तीन अघातिया कर्मों का जघन्य स्थितिसत्त्व भी पल्योपम के असंख्यातवें भाग प्रमाण पाया जाता है। अतः पूर्वोक्त अर्थ ठीक प्रतीत नहीं होता।

शंका—आगम में इस प्रकार का तर्क नहीं करना चाहिए, क्योंकि आगम तर्क का विषय नहीं है।

समाधान—उक्त दोनों गाथाएँ, आगमरूप से निर्णीत नहीं हैं।

[प्रसिद्ध तिरानवें सूत्र में आगत शंका—समाधान]

शंका—हुण्डावसर्पिणी में कालदोष के कारण सम्यग्दृष्टि जीव मरकर स्त्रियों में क्यों नहीं उत्पन्न होता?

समाधान—नहीं उत्पन्न होता यह इसी सूत्र से जाना जाता है।

शंका—तो इसी सूत्र से द्रव्यस्त्रियों की मुक्ति भी सिद्ध होती है?

समाधान—नहीं, क्योंकि वे वस्त्र सहित होने से पंचम गुणस्थानवर्ती होती हैं अतः उनके संयम नहीं होता।

शंका—वस्त्रसहित होने पर भी स्त्रियों के भावसंयम होने में तो कोई विरोध नहीं है?

समाधान—स्त्रियों में भावसंयम नहीं होता; क्योंकि वे वस्त्र धारण करती हैं और वस्त्र भाव असंयम का अविनाभावी है।

शंका—तब आगम में स्त्रियों में चौदह गुणस्थान कैसे है?

समाधान—भावस्त्री विशिष्ट मनुष्य गति में अर्थात् जो मनुष्य शरीर से पुरुष होते हुए भी भाव से स्त्रीवेदी है उसके चौदह गुणस्थान होने में कोई विरोध नहीं है।

शंका—नौवें गुणस्थान से ऊपर भाववेद नहीं पाया जाता है अतः भाववेद में चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हैं।

समाधान—यहाँ वेद की प्रधानता नहीं है, गति की प्रधानता है और वह पहले नष्ट नहीं होती।

शंका—वेद विशेषण से युक्त मनुष्यगति में तो चौदह गुणस्थान सम्भव नहीं हैं?

समाधान—वेद विशेषण के नौवें गुणस्थान में नष्ट हो जाने पर भी उपचार से उस विशेषण को धारण करनेवाली मनुष्यगति में चौदह गुणस्थान होने में कोई विरोध नहीं है।

भव्यत्व मार्गणा

शंका—जिन्हें आगे सिद्धि प्राप्त होगी उन्हें भव्य कहते हैं तो इस प्रकार तो भव्य जीवों की सन्तति का उच्छेद हो जायेगा।

समाधान—नहीं होगा, क्योंकि भव्यजीव अनन्त हैं। हाँ, जो राशि सान्त होती है उसमें अनन्तपना नहीं बनता; क्योंकि सान्त को अनन्त मानने में विरोध आता है।

शंका—जिस राशि में निरन्तर व्यय चालू है और आय होती नहीं उसे अनन्तपना कैसे सम्भव है?

समाधान—व्यय होते हुए भी अनन्त का क्षय नहीं होता ऐसा एकान्त नियम नहीं है।

शंका—अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल अनन्त है फिर भी उसका क्षय देखा जाता है। अतः भव्य राशि के क्षय न होने में जो अनन्तरूप हेतु दिया है वह सदोष होने से व्यभिचारी है?

समाधान—अनन्त होने पर भी दोनों राशियाँ समान नहीं हैं। अर्धपुद्गल परिवर्तनकाल क्षय सहित होने पर भी अनन्त है क्योंकि छद्मस्थों के द्वारा उसका अन्त नहीं जाना जाता। अथवा अनन्त केवलज्ञान का विषय होने से वह अनन्त है। और जीवराशि तो संख्यातवें भागरूप राशि के क्षय हो जाने पर भी निर्मूल नाश न होने से अनन्त है। इस प्रकार अनन्तपने को प्राप्त भव्यराशि और अर्धपुद्गल परिवर्तनरूप काल इन दोनों राशियों में भिन्न-भिन्न कारणों से समानता का अभाव है। तथा व्ययसहित अनन्त का सर्वथा क्षय मानने पर काल का भी सर्वथा क्षय हो जायेगा।

शंका—यदि काल का सर्वथा क्षय मान लिया जाये तो क्या हानि है?

समाधान—ऐसा मानने पर काल की समस्त पर्यायों के क्षय हो जाने से सम्पूर्ण द्रव्यों की स्वलक्षणरूप पर्यायों का भी अभाव हो जायेगा और इससे समस्त वस्तुओं के अभाव की आपत्ति आयेगी।

शंका—जो जीव मुक्ति नहीं प्राप्त करते वे भव्य कैसे हो सकते हैं?

समाधान—मुक्ति जाने की योग्यता की अपेक्षा उनकी भव्य संज्ञा बन जाती है।

सम्यक्त्व मार्गणा

शंका—क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक सम्यग्दर्शनों के परस्पर भिन्न होने पर उनमें कैसे समानता है?

समाधान—इन तीनों सम्यग्दर्शनों में यथार्थ श्रद्धान की अपेक्षा समानता है।

शंका—वेदक सम्यग्दर्शन से औपशमिक सम्यग्दर्शन कैसे अधिक है?

समाधान—दर्शन मोहनीय की सम्यक्त्व प्रकृति के उदय से उत्पन्न शिथिलता

औपशमिक सम्यग्दर्शन में नहीं पायी जाती इसलिए वेदक सम्यग्दर्शन से औप शमिक सम्यग्दर्शन विशिष्ट होता है।

शंका—क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन को वेदक सम्यग्दर्शन क्यों कहते हैं ?

समाधान—दर्शनमोह के उदय का वेदन करनेवाले जीव को वेदक कहते हैं उसका सम्यग्दर्शन वेदक सम्यग्दर्शन कहलाता है।

शंका—जिसके दर्शनमोह का उदय है उसके सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है

समाधान—दर्शनमोह की देशघाति प्रकृति का उदय रहने पर भी जीव वे स्वभावरूप श्रद्धान के एक देश की उत्पत्ति होने में कोई विरोध नहीं है।

शंका—दर्शनमोहनीय की देशघाति प्रकृति को सम्यक्त्व नाम कैसे दिय गया ?

समाधान—सम्यग्दर्शन के साथ रहने से उसको सम्यक्त्व नाम देने में को विरोध नहीं है।

शंका—तिर्यंचों में क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव संयतासंयत क्यों नही होते हैं ?

समाधान—क्योंकि तिर्यंचों में यदि क्षायिक सम्यग्दृष्टि मरकर उत्पन्न होत है तो भोगभूमि में ही उत्पन्न होता है और वहाँ अणुव्रत नहीं होते।

शंका—नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तरों में औपशमिक सम्यग्दर्शन का सद्भाव कैसे पाया जाता है ? क्योंकि वहाँ पर जो उत्पन्न होते है उनके क्षायिक औ क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन पाया जाता है। इसलिए उनके उपशम सम्यग्दर्श उत्पन्न नहीं हो सकता। और, मिथ्यादृष्टि जीव उपशम सम्यग्दर्शन को ग्रहण करके वहाँ उत्पन्न नहीं हो सकते; क्योंकि ऐसे उपशम सम्यग्दृष्टियों का उपश सम्यक्त्व के साथ मरण नहीं होता।

समाधान—उपशम श्रेणी पर चढ़नेवाले और चढ़कर उतरनेवाले उपश सम्यग्दृष्टि जीवों की अनुत्तर अनुदिशों में उत्पत्ति होती है इसलिए वहाँ उपश सम्यक्त्व के रहने में कोई विरोध नहीं है।

शंका—उपशम श्रेणी पर आरुढ़ हुए उपशम सम्यग्दृष्टि जीव मरण नहं करते; क्योंकि वे उपशम सम्यग्दर्शन से युक्त होते हैं। जैसे अन्य उपशम सम्यग् दृष्टियों का मरण नहीं होता।

समाधान—नहीं, क्योंकि साधारण उपशम सम्यग्दृष्टियों और उपशम श्रेण पर आरूढ़ उपशम सम्यग्दृष्टियों में अन्तर है। साधारण उपशम सम्यक्त्व मिथ्यात पूर्वक होता है तथा उसमें चारित्रमोह का उपशम नहीं होता। और, द्वितीय उपश सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व पूर्वक होता है और उसमें चारित्रमोह का भी उपश करता है।

[जीवट्ठाण—द्रव्यप्रमाणानुगम पु० ३ पृष्ठ २६७ आदि]

शंका—असंख्यात और अनन्त में क्या अन्तर है ?

समाधान—एक-एक संख्या के घटाते जाने पर जो राशि समाप्त हो जाती है वह असंख्यात है और जो राशि समाप्त नहीं होती वह अनन्त है।

शंका—यदि ऐसा है तो व्यय सहित होने से नाश को प्राप्त होनेवाला अर्ध-पुद्गल परावर्तनकाल भी असंख्यात ठहरता है। फिर उसे अनन्त क्यों कहा है ?

समाधान—अर्धपुद्गल परावर्तन को अनन्त उपचार से कहा है। क्योंकि वह अनन्तरूप केवलज्ञान का विषय है।

शंका—इस तरह से सभी संख्याएँ अनन्त कहलायेंगी ?

समाधान—नहीं, क्योंकि जो संख्याएँ अवधिज्ञान का विषय हो सकती हैं उनके अतिरिक्त ऊपर की संख्याएँ केवलज्ञान को छोड़ अन्य किसी भी ज्ञान का विषय नहीं होतीं। इसी से ऐसी संख्याओं को उपचार से अनन्त कहा जाता है। अथवा जो संख्या पाँचों इन्द्रियों का विषय है वह संख्यात है। उसके ऊपर जो संख्या अवधिज्ञान का विषय है वह असंख्यात है। उसके ऊपर जो केवलज्ञान का विषय है वह संख्या अनन्त है।

[दर्शन मार्गणा पृ० ४५६ आदि]

शंका—श्रुतज्ञान और मनःपर्ययज्ञान का दर्शन क्यों नहीं होता ?

समाधान—श्रुतज्ञान मतिज्ञानपूर्वक होता है इससे उसका दर्शन नहीं कहा। उसी प्रकार मनःपर्ययज्ञान का भी दर्शन नहीं है।

शंका—यदि स्वरूपसंवेदन को दर्शन कहते हैं तो इनके भी दर्शनों के अस्तित्व का प्रसंग आता है ?

समाधान—नहीं, क्योंकि उत्तर ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त प्रयत्न विशिष्ट स्वसंवेदन को दर्शन माना है। परन्तु केवली में यह क्रम नहीं पाया जाता। केवली के दर्शन और ज्ञान एकसाथ होते हैं किन्तु छद्मस्थों में दोनों एकसाथ नहीं होते। तथा ज्ञानपूर्वक दर्शन नहीं होता; क्योंकि आगम में कहा है—दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, ज्ञानपूर्वक दर्शन नहीं होता।

[जीवट्ठाण : क्षेत्र-स्पर्शन-कालानुगम, पु० ४]

शंका—यदि अपर्याप्तकाल में भी क्षयोपशम की अपेक्षा चक्षुदर्शन पाया जाता है तो लब्ध्यपर्याप्त जीवों के भी चक्षुदर्शन प्राप्त होता है किन्तु उनके चक्षुदर्शन नहीं होता।

समाधान—निर्वृत्यपर्याप्त जीवों के चक्षुदर्शन होता है और इसका कारण यह है कि अपर्याप्तकाल समाप्त होने पर निश्चय से चक्षुदर्शनोपयोग की समुत्पत्ति का अविनाभावी चक्षुदर्शन का क्षयोपशम देखा जाता है। किन्तु चौइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त जीवों के चक्षुदर्शन नहीं होता; क्योंकि उनमें चक्षुदर्शनयोग की उत्पत्ति का अविनाभावी चक्षुदर्शनावरण कर्म का क्षयोपशम नहीं होता।

शंका—ऊपर कहा है कि प्रमत्तसंयतादि गुणस्थानवर्ती मनुष्यों ने मनुष्यक्षेत्र का संख्यातवां भाग स्पर्श किया है, किन्तु यह घटित नहीं होता; क्योंकि विक्रियादि ऋद्धि प्राप्त और मानुषक्षेत्र के भीतर अप्रतिहत गमनशील ऋषियों ने अतीतकाल में सम्पूर्ण मनुष्यक्षेत्र का स्पर्श किया है।

समाधान—यह दोष नहीं है; क्योंकि ऊपर एक लाख योजन उड़ने की अपेक्षा एक लाख योजन प्रमाण गमन करना सम्भव नहीं है।

शंका—जो ऋषि सुमेरु पर्वत के मस्तक पर चढ़ने में समर्थ हैं उनका एक लाख योजन उड़ना सम्भव क्यों नहीं है?

समाधान—उनमें मेरुपर्वत पर जाने की शक्ति भले ही रही हो, किन्तु सर्वत्र जाने की शक्ति नहीं है, अन्यथा आचार्यों ने मनुष्यक्षेत्र का संख्यातवां भाग स्पर्श न कहा होता।

शंका—यदि ऐसा है तो पंचेन्द्रिय तिर्यंचों का भी पूर्वभव के वैरी देवों के द्वारा एक लाख योजन तक ऊपर जाना प्राप्त होता है?

समाधान—उसमें कोई दोष नहीं है।

[कालानुगम पृष्ठ ३३५ आदि]

शंका—सादि-सान्त मिथ्यात्व का काल कुछ कम अर्धपुद्गल परावर्तन कैसे है?

समाधान—एक अनादि मिथ्यादृष्टि जीव अधःप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण इन तीनों करणों को करके सम्यक्त्व ग्रहण के प्रथम समय में ही परीत संसारी होकर अधिक से अधिक पुद्गल परिवर्तन के आधे काल प्रमाण ही संसार में ठहरता है। सम्यक्त्व ग्रहण के प्रथम समय में ही मिथ्यात्व पर्याय नष्ट हो जाती है।

शंका—सम्यक्त्व की उत्पत्ति और मिथ्यात्व का विनाश ये दो भिन्न कार्य एक समय में कैसे हो सकते हैं?

समाधान—जैसे मिट्टी में एक ही समय में पिण्ड रूप आकार का विनाश और घटरूप आकार की उत्पत्ति देखी जाती है। उसी प्रकार कोई जीव सबसे कम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण उपशमसम्यक्त्व के काल में रहकर मिथ्यात्व (१) को प्राप्त हुआ। इसलिए उसके मिथ्यात्व की आदि हुई और सम्यक्त्वपर्याय का विनाश

हुआ। पीछे कुछ कम अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण मिथ्यात्व के साथ भ्रमण करके अन्तिम भव में मनुष्य हुआ। पुनः अन्तर्मुहूर्त प्रमाण संसार का काल शेष रहने पर तीनों ही करणों को करके प्रथमोपशम सम्यक्त्व (२) को प्राप्त हुआ। फिर वेदक सम्यग्दृष्टि (३) हुआ। फिर अन्तर्मुहूर्त काल में अनन्तानुबन्धी कषाय का विसंयोजन करके (४), फिर दर्शनमोह का क्षय करके (५), अप्रमत्त संयत हुआ (६)। फिर हजारों बार प्रमत्त से अप्रमत्त और अप्रमत्त से प्रमत्त (७) होकर क्षपकश्रेणी पर चढ़ता हुआ अप्रमत्त संयत गुणस्थान में अधःप्रवृत्त करके (८), अपूर्वकरण (९), अनिवृत्तिकरण (१०), सूक्ष्म साम्पराय (११), क्षीणकषाय (१२) सयोगकेवली (१३) अयोगकेवली होता हुआ सिद्ध (१४) हुआ। इस प्रकार इन चौदह अन्तर्मुहूर्तों से हीन अर्धपुद्गल परिवर्तन प्रमाण सादि सान्त मिथ्यात्व का काल होता है।

शंका—मिथ्यात्व पर्याय है। पर्याय उत्पाद-विनाश लक्षणवाला है। उसकी स्थिति का अभाव है। यदि उसकी स्थिति भी मानते हैं तो मिथ्यात्व को द्रव्यपना प्राप्त होता है। क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य का लक्षण है।

समाधान—जो एकसाथ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य लक्षणवाला है वह द्रव्य है और क्रम से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यवाला होता है वह पर्याय है।

शंका—यदि ऐसा है तो पृथ्वी, जल, तेज, वायु को भी पर्यायपना प्राप्त होता है?

समाधान—उनका पर्यायपना हमें स्वीकार है।

शंका—किन्तु लोक में तो उनमें द्रव्य का व्यवहार होता देखा जाता है?

समाधान—यह व्यवहार शुद्ध-अशुद्ध नैगमनय के निमित्त से होता है। शुद्ध द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन लेने पर छहों ही द्रव्य हैं। अशुद्ध द्रव्यार्थिकनय का अवलम्बन लेने पर पृथ्वी आदि अनेक द्रव्य हैं क्योंकि व्यंजन पर्याय को द्रव्य माना गया है। शुद्ध पर्यायार्थिक नय की विवक्षा में पर्याय के उत्पाद-विनाश दो लक्षण हैं। अशुद्ध पर्यायार्थिक नय की विवक्षा में क्रम से उत्पाद-विनाश-स्थिति रूप तीन लक्षण पर्याय के हैं।

मिथ्यात्व भी व्यंजनपर्याय है इसलिए उसके उत्पाद-विनाश-स्थिति, क्रम से तीनों भी लक्षण अविरुद्ध हैं।

१५. सिद्धान्त और अध्यात्म

जैन धर्म में जीव के दो भेद प्रसिद्ध हैं—संसारी और मुक्त। जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। फिर उसे भी छोड़कर नया शरीर धारण करता है। इस प्रकार के संसरण या परिवर्तन को संसार कहते है और ऐसा संसरण करनेवाले जीवों को संसारी कहते हैं। जो जीव इस संसरण से सदा के लिए छूट जाते हैं उन्हें मुक्त कहते हैं। इस प्रकार जीव की अशुद्ध दशा का नाम संसार और शुद्ध दशा का नाम मुक्ति है। जैन शास्त्रों में मुख्य रूप से इन्हीं दोनों का वर्णन है। इन्हीं के वर्णन की प्रक्रिया को लेकर जैन शास्त्र दो भागों में विभाजित होते हैं। उनका नाम है सिद्धान्त और अध्यात्म।

'बृहद्द्रव्यसंग्रह' में जीव के भेदों का वर्णन करते हुए कहा है—

मग्गण गुणठाणेहिं य चउदसहि हवंति तह असुद्धणया।
विण्णेया संसारी सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया ॥१३॥

अर्थात् अशुद्ध निश्चयनय से संसारी जीव चौदह मार्गणा और चौदह गुणस्थानों के भेद से चौदह प्रकार के हैं और शुद्ध निश्चयनय से सब जीव शुद्ध हैं।

इस गाथा की संस्कृत टीका में टीकाकार ने कहा है कि उक्त गाथा के प्रथम चरण से धवल, जयधवल और महाधवल नामक महाबन्ध इन तीन सिद्धान्त-ग्रन्थों का बीजपद सूचित किया है और शुद्ध आत्मतत्त्व प्रकाशक चतुर्थचरण से पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, समयसारप्राभृत नामक अध्यात्मग्रन्थ का बीजपद सूचित किया है।

इस प्रकार षट्खण्डागम, कसायपाहुड, महाबन्ध और इनके अनुसार गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, मार्गणा १४ और उपयोग इन बीस प्ररूपणाओं के द्वारा कथन करनेवाले तत्त्वार्थसूत्र, गोम्मटसार आदि ग्रन्थ सिद्धान्त

कहलाते हैं। इनको सिद्धान्त कहने का हेतु आचार्य जिनसेन ने धवलाटीका की अन्तिम प्रशस्ति में इस प्रकार कहा है—

'सिद्धानां कीर्तनादन्ते यः सिद्धान्त प्रसिद्धवाक्।'

अर्थात् सिद्धों का वर्णन अन्त में होने से इसे सिद्धान्त कहते हैं। जिन्होंने 'गोम्मटसार' जीवकाण्ड को पढ़ा है वे यह जानते हैं कि बीस प्ररूपणाओं के प्रत्येक कथन के अन्त में सिद्धों का वर्णन आता है जिसमें यह बतलाया है कि अमुक प्ररूपणा सिद्ध जीवों में है या नहीं है और अन्त में कहा है—

गुणजीवठाणरहिया सण्णा पज्जत्ति पाणपरिहीणा।
सेस णवमग्गणूणा सिद्धा सुद्धा सदा होंति ॥७३२॥

अर्थात् सिद्ध जीव, गुणस्थानों से रहित, जीव समास से रहित, संज्ञा पर्याप्ति और प्राणों से रहित तथा पाँच मार्गणाओं को छोड़ शेष नौ मार्गणाओं से रहित सदा शुद्ध होते हैं। इस प्रकार उक्त बीस प्ररूपणाओं के आधार से संसारी जीवों का वर्णन करके अन्त में उनकी शुद्ध दशा का वर्णन सिद्धान्त ग्रन्थ में रहता है।

जीव और कर्मों के सम्बन्ध से होनेवाली दशा का नाम संसार है। इस दशा का ही फल गुणस्थान मार्गणास्थान आदि हैं जिनका शुद्ध जीव में अभाव होता है।

उधर अध्यात्म ग्रन्थ 'समयसार' में प्रारम्भ से ही जीव के शुद्ध स्वरूप का वर्णन है। इसीसे उसे अध्यात्म कहते हैं, शुद्ध आत्मा को केन्द्र में रखकर जिसमें कथन हो वह अध्यात्म कहलाता है।

सिद्धान्त में जिन गुणस्थानों, मार्गणाओं, जीव समासों आदि को लेकर संसारी जीव का वर्णन है उन्हीं के निषेध को लेकर 'समयसार' (गाथा ४६ से ५५) में जीव का वर्णन है। जो इस प्रकार है—

'जीव में रूप नहीं है, गन्ध नहीं है, रस नहीं है, स्पर्श नहीं है, शरीर नहीं है, संस्थान नहीं है, संहनन नहीं है, राग नहीं है, द्वेष नहीं है, मोह नहीं है, प्रत्यय नहीं है, कर्म-नोकर्म नहीं है, वर्ग-वर्गणा स्पर्द्धक नहीं है, अध्यवसाय स्थान नहीं है, अनुभाग स्थान नहीं है, योगस्थान नहीं है, बन्ध स्थान नहीं है, उदय स्थान नहीं है, मार्गणा स्थान नहीं है, स्थितिबन्ध स्थान नहीं है, संक्लेश स्थान नहीं है, विशुद्धि स्थान नहीं है, संयमलब्धि स्थान नहीं है, जीव स्थान नहीं है, गुण स्थान नहीं है,। क्योंकि ये सब पुद्गल के परिणाम हैं। व्यवहार नय से ये सब जीव के कहे हैं। इनके साथ जीव का दूध और पानी की तरह एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है किन्तु ये जीव के नहीं हैं। संसारी जीवों में ये सब होते हैं किन्तु जो संसार से मुक्त हो जाते हैं उनमें नहीं होते। यदि इनको जीव माना जायेगा तो फिर जीव और अजीव में कोई भेद नहीं रहेगा।'

इस प्रकार से सिद्धान्त और अध्यात्म में कथन पाया जाता है। दोनों में कोई विरोध नहीं है। जयसेनाचार्य ने अपनी टीका में कहा है—'सिद्धान्त आदि शास्त्रों में अशुद्ध पर्यायार्थिक नय से अभ्यन्तर में होनेवाले रागादि को तथा बाह्य में शरीर के वर्णादि की अपेक्षा वर्णादि को भी जीव कहा है। किन्तु यहाँ अध्यात्मशास्त्र में शुद्ध निश्चय नय से उनका निषेध किया है। अतः नयभेद की विवक्षा से दोनों कथनों में कोई विरोध नहीं है।'

मुमुक्षु को संसारी जीव का स्वरूप और शुद्ध जीव का स्वरूप दोनों ही जानना चाहिए। और इसलिए अध्यात्म के प्रेमियों को सिद्धान्त और सिद्धान्त के प्रेमियों को अध्यात्म का अध्ययन करना चाहिए। किसी एक से राग और दूसरे से विराग करना उचित नहीं है। दोनों ही भगवान् महावीर की वाणी हैं। किन्तु दोनों ही समानरूप से उपादेय नहीं हैं।

'द्रव्यसंग्रह' की (गाथा १३ की) टीका में ही कहा है—'यहाँ कहे गये गुणस्थान मार्गणा आदि में से केवलज्ञान, केवलदर्शन क्षायिक, सम्यक्त्व और अनाहारक रूप शुद्ध आत्मा का स्वरूप तो साक्षात् उपादेय है। और, जो शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरणरूप कारण समयसार है वह उसी उपादेय भूत का विवक्षित एकदेश शुद्ध नय द्वारा साधक होने से परम्परया उपादेय हैं, शेष सब हेय हैं। जो अध्यात्मग्रन्थ का बीजपदभूत शुद्ध आत्मस्वरूप कहा है वह तो उपादेय ही है।'

अतः जो व्यवहार परम्परा से निश्चय का साधक होता हैं वही तत्काल में उपादेय होता है, सर्वथा उपादेय नहीं होता। व्यवहार को ही उपादेय मानकर उसी में आसक्त व्यवहार प्रेमियों को लक्ष्य करके आचार्य अमृतचन्द्र ने 'पंचास्तिकाय' की टीका में एक गाथा उद्धृत की है—

'चरणकरणप्पहाणा ससमयपरमत्थमुक्कवावारा।
चरणकरणस्स सारं णिच्छय सुद्धं ण जाणंति॥'

अर्थात् जो चारित्र परिणाम प्रधान हैं, अर्थात् शुद्ध आतमा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान, अनुष्ठानरूप निश्चय मोक्षमार्ग में उदासीन रहकर या उसकी अपेक्षा करके केवल शुभानुष्ठान रूप व्यवहार धर्म को ही मोक्षमार्ग मानते हैं और स्वसमय रूप परमार्थ में व्यापार रहित हैं वे चारित्र परिणाम का सार जो निश्चय शुद्ध आत्मा है उसे नहीं जानते।

इसी प्रकार जो केवल निश्चय की कथनी के ही प्रेमी हैं और लौकिक व्यवहार में मग्न रहते हुए भी धार्मिक व्यवहार को सर्वथा हेय मान बैठते हैं वे तो व्यवहार प्रेमियों से भी गये बीते हैं। अतः व्यवहार और निश्चय दोनों का ही अनुमनन कार्यकारी होती है।

सिद्धान्त तथा अध्यात्म की भाषा और नामों में भी अन्तर होता है उसे भी समझ लेना चाहिए।

१. आगम की भाषा में जिसे वीतराग सम्यक्त्व कहते हैं, अध्यात्म की भाषा में उसे शुद्धात्म भावना कहते हैं। जो शुद्धात्म भावना की साधना के लिए बाह्य तपश्चरण, दान, पूजा आदि करता है वह परम्परा से मोक्ष प्राप्त करता है। वीतराग सम्यक्त्व रूप शुद्धात्म भावना के बिना व्रत तप आदि करना पुण्य बन्ध का ही कारण होता है। निश्चय नय से वीतराग सम्यग्दृष्टियों के शुद्धात्म भावना रूप भक्ति होती है। और, व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियों के पंचपरमेष्ठी की आराधना रूप भक्ति होती है।

२. उपादान कारण शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का होता है। रागादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान, जिसे आगम की भाषा में शुक्लध्यान कहते हैं, केवलज्ञान की उत्पत्ति में शुद्ध उपादान कारण होता है। अशुद्ध आत्मा रागादि का अशुद्ध उपादान कारण से अशुद्ध निश्चय नय होता है।

३. सिद्धान्त में जीव के असंख्यात लोकमात्र परिणाम मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थान रूप से कहे हैं। अध्यात्म में उन्हीं गुणस्थानों को संक्षेप से शुभ, अशुभ और शुद्ध उपयोग रूप से कहा है। प्रथम तीन गुणस्थानों में तारम्यरूप से अशुभोपयोग रहता है। उसके अनन्तर चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थान में तारतम्य रूप से शुभोपयोग रहता है। उसके अनन्तर सातवें से बारहवें गुणस्थान तक तारतम्य रूप से शुद्धोपयोग रहता है। उसके अनन्तर सयोगी, अयोगी गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल होता है।

४. 'समयसार' (गाथा ३२० की) जयसेनाचार्य विरचित टीका के अन्त में आगम और अध्यात्म को लेकर जो कथन है उसका अनुवाद यहाँ दिया जाता है जो महत्त्वपूर्ण है—

'पारिणामिक आदि पाँच भावों में से किस भाव से मोक्ष होता है यह विचार करते हैं—उन पाँच भावों में से औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और औदयिक ये चार भाव पर्यायरूप होते हैं। शुद्ध पारिणामिक द्रव्यरूप है। इस परस्पर सापेक्ष द्रव्य पर्याय को आत्मा नामक पदार्थ कहते हैं। उनमें से जीवत्व, भव्यत्व, अभव्यत्व इन तीन पारिणामिक भावों में से शुद्ध जीवत्व शक्तिरूप जो पारिणामिक भावपना है वह शुद्ध द्रव्यार्थिक नय के आश्रित होने से निरावरण है उसे शुद्ध पारिणामिक भाव जानना। वह बन्ध-मोक्ष पर्याय रूप परिणमन से रहित है। किन्तु दस प्राण रूप जीवत्व और भव्यत्व, अभव्यत्व पर्यायार्थिक नय के आश्रित होने से अशुद्ध पारिणामिक भाव कहलाते हैं।

जब कालादि लब्धिवश भव्यत्व शक्ति की व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण वाले निज परमात्म द्रव्य के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान

और अनुचरण रूप पर्याय से परिणमन करता है। इस परिणमन को आगम की भाषा में औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भाव रूप कहते हैं और अध्यात्म की भाषा में शुद्धात्माभिमुख परिणाम शुद्धोपयोग आदि नामों से कहते हैं। यह पर्याय शुद्ध पारिणामिक भाव लक्षण शुद्ध आत्मद्रव्य से कथंचित् भिन्न है; क्योंकि भावनारूप है। शुद्ध पारिणामिक तो भावनारूप नहीं है। यदि यह शुद्ध पारिणामिक से सर्वथा अभिन्न हो तब मोक्ष में उसका विनाश होने पर शुद्ध पारिणामिक भाव का भी विनाश प्राप्त होता है। किन्तु उसका विनाश तो होता नहीं है। अतः यह स्थित हुआ कि शुद्ध पारिणामिक भाव के विषय में जो भावना है उस रूप जो औपशमिक आदि तीन भाव हैं वे समस्त रागादि से रहित होने से शुद्ध उपादान कारणरूप होने से मोक्ष के कारण होते हैं, किन्तु शुद्ध पारिणामिक मोक्ष का कारण नहीं है। क्योंकि शुद्ध पारिणामिक में शक्तिरूप मोक्ष पूर्व से ही रहता है। और यहाँ व्यक्तिरूप मोक्ष का विचार है। सिद्धान्त में पारिणामिक को निष्क्रिय कहा है। निष्क्रिय का अर्थ है—बन्ध की कारणभूत जो रागादि रूप परिणति है उस रूप वह नहीं है। और, मोक्ष की कारणभूत जो शुद्ध भावना परिणति रूप क्रिया है उस रूप भी वह नहीं है। अतः शुद्ध पारिणामिक भाव ध्येयरूप होता है, ध्यानरूप नहीं होता। क्योंकि ध्यान तो विनश्वर है। योगीन्द्रदेव ने 'परमात्मप्रकाश' में कहा है—

> ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बन्धु ण मोक्खु करेइ।
> जिउ परमत्थे जोइया जिणवरु एउ भणेई ॥६८॥

अर्थात् हे योगी, निश्चयनय से यह जीव न तो उत्पन्न होता है, न मरता है और न बन्ध मोक्ष को करता है ऐसा जिनदेव कहते है।

५. आगम में दर्शनमोह के क्षपण में समर्थ जिन परिणाम विशेषों को अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण कहते हैं, अध्यात्म में उन्हें निज शुद्धात्मभावनाभिमुख रूप सविकल्प स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं।